सहजानंद शास्त्रमाला

आत्म-परिचयन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

आत्म-परिचयन

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर - मेरठ

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक..........................

आत्मपरिचयन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

हम स्वयं ही आनन्दमग्न हैं, किन्तु अपने इस स्वभावका विश्वास न रखकर बाह्य पदार्थोंसे आनन्द हो या आनन्दमें बाधा होती है—ऐसी एक दृष्टि हो गई है। इस दृष्टिसे वह अपने आनन्दको रोकता है। वह स्वयं आनन्दमयस्वभावकी निधि है। आनन्द कहीं बाहरसे नहीं आता है। स्वयं यह आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान किसीसे लेना नहीं है। इसी प्रकार यह आत्मा आनन्दमय है। कभी भी दूसरी जगहसे इसमें आनन्द लाया नहीं जाता हैं। यह खुद आनन्दस्वरूप है और इसी कारण किसीने इसे आनन्दमय ब्रह्म कहा है अर्थात् ब्रह्मका स्वरूप है आनन्दमय और इसीको किसीने ज्ञानका स्वरूप कहा है और किसीने इसे सत्का स्वरूप कहा है। इस तरहसे पृथक्-पृथक् कहा है, किन्तु स्याद्वाददृष्टिने इसे सत्-चिदानन्द बतलाया है। यह आत्मा अपने स्वभावसे वेदते स्वभाव वाला है। अतः इसे कोई ब्रह्मा कहते हैं और कोई आनन्दकी प्राप्ति कहते हैं, किन्तु वह तो सत्स्वरूप भी है, चित्स्वरूप भी है, आनन्दमय भी है, अतः उसे सच्चिदानन्दमय कहा है। जहां आनन्दका स्वरूप, चित्का स्वरूप पूर्ण विकसित है उसीका नाम परमात्मा है। प्रत्येक जीवको स्वरूप से देखो कि ऐसे हैं कि नहीं। वह ऐसे ही हैं। इन जीवोंमें चैतन्य भी है, क्योंकि अगर चैतन्य नहीं होता तो ज्ञान और समझ इन जीवोंमें कहां से आती? और आनन्द है कि नहीं? आनन्द भी है। यदि आनन्द न होता तो जीवोंमें आनन्द आता कहां से? इस तरह यह सच्चिदानन्दमय आत्मा है। मतलब यह है कि जैसा यह स्वयं है अद्वैत वैसा ही अनुभव करना चाहिये। परपदार्थ भी अद्वैत हैं। किसीमें कोई दूसरा मिला नहीं है। दूध और पानी मिला हो फिर भी दूधमें दूध ही है और पानीमें पानी ही है। दूधमें पानी नहीं गया और पानीमें दूध नहीं गया। और यहां तक कि दूधके जितने परमाणु हैं वे सब पृथक्-पृथक् उसी दूधमें है ओर पानीके परमाणु पानीमें पृथक् हैं, वे स्वयं सत् हैं। यही बात है कि एक से दूसरेमें परमाणु नहीं आते। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए है, प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है।

अद्वैत कहते उसे हैं जो दूसरेसे न लगा हो। जो दो चीजोंसे मिलता है उसे द्वैत कहते हैं और जो दूसरेसे नहीं मिला है, खुद-ब-खुद अपने आप एक ही है उसे अद्वैत कहते

हैं। जगतके सब पदार्थ खुद-ब-खुद अपने आपमें अपनी सत्ता लिए हुए हैं। इस तरह सभी अद्वैत हैं। सब पदार्थों को अद्वैत निरखना है। प्रत्येक पदार्थ अपनेमें एक ही है इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है। इसलिए स्वयंको अद्वैत निरखना और इसी प्रकार अपने आपमें भी अद्वैतका अनुभव करना बस इसी के मायने सिद्धि है। और इसका अनुभव करना कि यह मेरा भैया है, यह तो मेरा बच्चा है, यह तो मेरा घर-द्वार है, यह मेरावैभव है, यह मेरा शरीर है, मैं कुछ हूं, इस प्रकार द्वैतका अनुभव करना रहा तो उसीको असिद्धि कहते हैं। उसीके मायने संसार है। पदार्थ जैसे हैं वैसा न अनुभव करना, वैसा न मानना बस इसी का नाम है जगजाल का रुलना। जो अपने को नाना वेशोंरूप ही अनुभवता है उसे शांति नहीं मिलती है, क्योंकि नानारूप इसके बन गए, सो एक तो वे सब पराये और फिर हैं नाना, अतः उनकी संभाल कैसे हो ? मुक्तिका रास्ता और कोई दूसरा नहीं है। यही अपने आपका जैसा शुद्ध, अकेला स्वरूप है वैसा माना जाना, बस यही मोक्षका रास्ता है, मुक्ति का पथ यही है। अभी धर्मपालन के लिए बहुत-बहुत काम किए जाते हैं, कर लो, किन्तु अपने आपके इस अद्वैत स्वरूपका अनुभव नहीं है तो धर्मपालन नहीं हुआ, शांति का मार्ग नहीं मिला, मोक्ष का मार्ग नहीं पाया। धर्म एक ही होता है, धर्म पचासों नहीं होते। दुनिया में ये जो मजहब हैं वेतो मत हैं, धर्म नहीं हैं आज जो दुनिया में प्रसिद्ध है, यह अमुक सम्प्रदाय है, यह अमुक मजहब है वे सब मत कहलाते हैं, धर्म नहीं होते हैं। मत अनेक होते हैं, पर धर्म अनेक नहीं होते।

धर्म अनेक हो ही नही सकते हैं। अब हमें धर्मपालन करना है या मत पालन करना है। अगर मत पालन करना है तो मतपालन किया जाय और यदि धर्म पालन करना है तो धर्म पालन किया जाय। धर्म है वस्तु कास्वरूप, वस्तु का अनुभव। यह मैं आत्मा कैसा हूं, क्या हूं, कैसे स्वभाव वाला हूं ? जैसा हूं तैसा ही मानना, इसी के मायने हैं धर्मका पालन। जैसे जातियां अनेक हो गईं—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि। इन सबके रहन-सहन प्रकार अनेक हो गए, बुद्धि अनेक हो गई। एकसा ही उन मनुष्योंका जन्म हुआ। एकसा ही उनका मरण होता है। इसी तरह इन सब लोगों ने अपने-अपने मतको बदल दिया हैं, पर वे हैं सब एक किस्म के आत्मतत्त्व। जैसे उन सबने अपने-अपने मत बदल दिए हैं, पर स्वरूप को तो नहीं बदल पाया है। उन्होने अपना आकार तो नहीं बदल दिया है।

ऊपरकी चीजोंका फर्क बना लिया है कि कोई चोटी रखाता है, कोई नहीं रखाता

है। यह सब कुछ हो जाता है, पर उनका स्वरूप नहीं बदल जाता है। जैसे मनुष्यका स्वरूप नहीं बदलता है, इसी तरह चाहे जितनी ही कल्पनाएं आ जावें, चाहे जितने ही मत बन जावें उनकी आत्माका स्वरूप नहीं बदलेगा। उनकी आत्माका एक ही स्वरूप है, एक ही स्वभाव है। कोई ऐसे भी जीव हैं जिनका यह मत है कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है, आत्मा का अस्तित्व कुछ नहीं है। वे आत्मा को मना कर रहे हैं, आत्माका विरोध कर रहे हैं। आत्मा ही आत्माका निषेध कर रहे हैं, सो निषेध करने से सत् तो नहीं मिट गया। वैसे आत्माकी अन्यरूप में कल्पनाएं कर लें तो कल्पनाएं कर लेने से आत्मामें वह कुछ नहीं हो जायगा। आत्मा वही है। जैसे रस्सी की डोर में भ्रम हो जाय कि यह सर्प है तो भ्रम हो जानेसे कहीं रस्सीकी डोर सर्प नहीं बन जायगी। वह तो रस्सी ही रहेगी। हम कितनी ही चीजों के बारे में कितनी ही कल्पनाएं कर डालते हैं, परन्तु इतनी कल्पनाएं कर लेने से ही वह चीज वैसी नहीं हो जाती। वह तो सत्ता से स्वतःसिद्ध जैसी है वैसी ही है, हम इस आत्मा के बारे में कितनी ही कल्पनाएं कर लें, तो कल्पना के अनुसार हम नाना नहीं बन जावेंगे। हमारा तो एक स्वरूप है जो अनादि से है व अनंतकाल तक रहेगा। यह निगोद कीड़ों जैसी पर्यायों में भी पहुंचा है, इस आत्मा का प्रदेश आकार भी बदल-बदल गया है, फिर भी निगोद जैसी निम्न अवस्थाओं में भी इस आत्माका स्वरूप वही एक रहा है, वह नहीं बदल गया। उसका जो स्वत्व है सोई है, वह नहीं बदला। ऐसी आत्मा का वह अद्वैत स्वरूप जिनके ज्ञानमें आया है, उसको सिद्धि होती है। जिसने द्वैतका अनुभव किया है उनको असिद्धि होती है।

इस एक को जिसने चाहा है उसको सर्वस्व मिला है और उस एक को छोड़कर जिसने नाना पदार्थों में दिल लगाया है उनको कुछ नहीं मिला है। एक ऐसा कथानक है कि एकवार एक राजा किसी दूसरे राजासे लड़ाई करने गया। दो एक माह तक युद्ध होता रहा उसमें उस राजा की विजय हो गई। इसके वाद वहांपर राजा ने बड़ा उत्सव मनाया और खुशीमें देश की सब रानियोंको पत्र लिखा कि जिसको जो कुछ चाहिए हमारे को पत्र लिखें। तब किसी रानी ने साड़ी लिखा, किसी ने अमुक खिलौने को लिखा, किसी ने कुछ लिखा। जो सबसे छोटी रानी थी उसने अपने पत्र में लिख दिया, केवल १ एक का अंक ओर कुछ नहीं लिखा। पत्र को लिफाफे में भरकर भेज दिया। जब राजाने पत्रों को खोला तो किसी में कुछ लिखाथा, किसी में कुछ। मगर छोटी रानी के पत्र में केवल १ का अंक लिखा था। राजा इस केवल १ का अर्थ न समझ सका। उसकी समझ में उस केवल १

का मतलब न आया। उस राजा ने मंत्री से पूछा कि इस छोटी रानी ने क्या मंगाया है ? मंत्री पत्र को देखकर कहता है कि छोटी रानी ने केवल एक आपको ही चाहा है ओर कुछ नहीं चाहा है। राजा सभी रानियो को किसीको साड़ी, किसी को गहना, किसीको खिलौने लेकर अपने देश जाता है। जब वह वहां पहुंचता है तो जहां जो कुछ देना था उनके घर पहुंचा दिया और छोटी रानी के महल में स्वयं पहुंच गए। इसने केवल एक को चाहा था पर अब यह बतलाओ कि राजा की सारी चीजें, सारा वैभव, हाथी, सेना, शासन, इज्जत इत्यादि सब कुछ उसके महलमें पहुंच गए या नहीं। इस जगतमें जितनी भी व्यवस्थाएं चल रही हैं वह सब चैतन्य ज्योति का ही तो प्रसार है। एक चैतन्य ज्योति को जिसने चाह लिया, एक अद्वैत स्वभाव को जिसने चाह लिया उसको सर्वसिद्धि है।

प्रियतम आत्मन् ! इस आत्मानुभव की ओर आवो, बाहर की ओर दृष्टि कम करके अपनी प्रकृति, रहन-सहनको सात्त्विक बनावो और मुख्य प्रयोजन जो आत्मसिद्धि का है उसे करो। बनावट, दिखावट, सजावट न करके मर्म में दृष्टि दो तो बस यही धर्म का पालन है। शांति भी इसी उपाय से प्राप्त होगी, मोक्षमार्ग भी इसी उपाय से मिलेगा। दर-दर पदार्थों में भटकना, नाना प्रकार की कल्पनाएं करके उपयोग को बाहर फंसाना, यह सब अशांति के साधन हैं, अधर्म का पालन है, धर्म की उपेक्षा है। अपने इन २४ घंटों में जब कि प्रायः सारा समय दुरुपयोग में जाता है, मोह, राग, द्वेषों में जाता है, नाना कल्पनाओं के विकल्पों में जाता है। भाई ! १५ मिनट का संकल्प करके सत्य का आग्रह करके, असत्य का असहयोग करके अपने आपकी भी व्यवस्था बना लो। एक-आध मिनट लगाने में कुछ बिगड़ नहीं जायगा। एक अमूर्त तत्त्व की प्राप्ति होगी। अद्वैत का ही अनुभव हो, उसे ही सिद्धि कहते हैं। जगत के जीव अहंकार भरे हुए हैं। मैं परिवार वाला हूं, धन वाला हूं, इज्जत वाला हूं, यह मैं अमुक हूं, उत्तम हूं, शुद्ध हूं। नाना प्रकार की कल्पनाएं लिए हुए यह प्राणी विचर रहे हैं। अरे तू तो वह स्वरूप है जिसका स्वरूप सर्वत्र एक है। यदि मैंने अपने ही स्वरूप को माना तो धर्म का पालन किया और यदि अपने अद्वैत स्वरूप को छोड़कर यदि नाना रूपों में माना तो अभी धर्म से बाहर है। अपने धर्म से अर्थात् अपने आत्मस्वभाव से स्नेह करो। जगत में कहां भटक रहे हो ? शरण कहीं नहीं मिलेगी, हर एक से धोखा मिलेगा, हर एक से बहकावा मिलेगा, शरण कहीं नहीं मिलेगी। शरण तुझे अपने आपमें बसे हुए उस सहज परमात्मतत्त्व की शरण लेना है। यही मुक्तिका मार्ग है। दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। जैसे कहते हैं—"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

सम्यक्चारित्राणि मोक्षमार्गः।" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। जहां दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें विकल्प भी नहीं उठते, इसका एकरस उपयोग हो जाता यही एक मोक्ष का मार्ग है जो कि सर्वसिद्धि है। जो इस आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा पा लेगा, वह ही अपने स्वरूप में रम जायगा। ऐसी स्वाधीन शाश्वत सत्य की श्रद्धा बिना मोक्ष का मार्ग नहीं मिलेगा, किसी बहकावाव किसी बाल-बच्चों की उलझन में पड़कर शांति नहीं मिलेगी और आगे का रास्ता भी बन्द हो जायगा। बाहरी चीजों में पड़कर इस आत्मा का हित कुछ नहीं है। हित तो यह स्वरूप है, यह तो धर्म की साक्षात् मूर्ति है।

यह चैतन्यस्वरूप ही आत्मा धर्म की मूर्ति है, वह भगवानस्वरूप है वही कल्याण है। मैं इस एक को छोड़ दूं तो संसार में भटकते हुए कुछ पता भी नहीं लगेगा। कितनी योनियां हैं, कितने शरीर के कुल हैं, कितने जगत में लोक के स्थान हैं, किस स्थान में, कितनी बार, कहां जन्म लूंगा? कितने-कितने शरीरोंमें कितने बार जन्म लेते रहेंगे—कुछ पता तक भी न रहेगा। अभी मनुष्य है, ज्ञान साफ है, स्वाधीन है, हम दूसरों की बात समझ लेते हैं, दूसरों को अपनी बात समझा देते हैं। पशु-पक्षियोंको देखो ऐसा जन्म हो तो क्या पल्ले पड़ेगा? इनके अक्षरमय भाषा नहीं है। अपनी बात वह दूसरों से क्या कहेंगे? उनमें धर्म की चर्चा क्या होगी। कीड़े, मकौड़े बहुत से जीव हैं, पर वे क्या कर सकते हैं? उन जीवोंके मुकाबले से देखें तो हमारी अब कितनी उच्च अवस्था है? हम और आप सम्यक्दर्शन के पात्र हैं, सम्यक्ज्ञान के पात्र हैं और सम्यक्चारित्र के पात्र हैं। अपने में पुरुषार्थ करने की योग्यता है, हमें कुछ अपना हित बाहर कहीं नहीं निरखना चाहिए। घर-द्वार, धन-वैभव इत्यादिमें ज्यादा दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। यद्यपि इस गृहस्थावस्था में सबका प्रायः यह निर्णय रहता है कि इसके बिना गुजर चल ही नहीं सकती है। परन्तु जब यह घर द्वार, धन वैभव छूट जावेंगे तो क्या इसके बिना गुजारा चलेगा? चलेगा। धन वैभव के बिना, घर द्वार के बिना आत्मा का गुजारा चल जायगा, पर सम्यक्ज्ञान बिना आत्मा का गुजारा नहीं चलेगा। इस अपने सम्यक्ज्ञान को छोड़कर यदि परपदार्थों को महत्व देगा तो अशांति, कर्मोपासना तथा कर्म बन्धना ही रहेगी और यदि अपने इस शुद्ध स्वरूप को महत्त्व देगा वहीं रमेगा, वही पहचानेगा, वहीं झुकेगा तो उसके बन्धन कटेंगे, शांति का मार्ग मिलेगा और भविष्य में इसका जब तक संसार है उत्तम उत्तम भव समागम मिलेंगे और निकट समयमें मुक्ति प्राप्त होगी। इसलिए अपने आपका सम्यक्ज्ञान

करो, प्रमादी मत हो। इस अपने स्वरूपको देखकर प्रसन्न रहो। यह मेरा शाश्वत आनन्दमय चैतन्यस्वरूप है, सदा सबसे अलग है, यह सब अहंकारोंसे दूर है, मैं अपने स्वरूप में हूं। एक अपने आपमें सही स्वरूप का पता लग जाय तो इससे बढ़कर कुछ जगतमें नहीं है। इस तरह अपने अद्वैत का अनुभव करो। यही मोक्ष का मार्ग है और ऐसा ही अद्वैत सब पदार्थों में है। उन सबमें भी उनके अद्वैत स्वरूप का बोध करें। इसी का नाम ही सिद्धि है। आत्मा के ध्यान में, चिंतन में, मनन में, अध्ययन में, अनुभवन में अधिक से अधिक पुरुषार्थी बनकर अपने जीवन को सफल बनावें।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आत्मा का स्वत्व कहते हैं अर्थात् जो आत्मा का अपने आप अपनी सत्ता के कारण जो कुछ सर्वस्व है वह आत्मा का एकत्व है। इस एकत्व में दृष्टि जाना यही मंगल है, इस एकत्व में दृष्टि जाना यही सर्वोत्तम है और इस एकत्व में दृष्टि जाना यही शरण है। आत्मा के केवल स्वरूप की निगाह होना यही रक्षा का सबसे बड़ा दृढ़ किला है। जैसे बड़े मजबूत किले के भीतर राजा लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं, इसी प्रकार इस निज सहज स्वरूप में ही यह मैं हूं—ऐसा अनुभव करने वाला जीज्ञा अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। जब इस दृष्टिसे जावेगा तब इसे नाना विकल्प होंगे और उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं होगा। उसको सुख-शांति और आराम मिलने का साधन व मार्ग नहीं मिलेगा। देखो इस एकत्व का शरण गहे बिना ही इतना बड़ा जगजाल बिछाया, इससे सैंकड़ों आपदाएं बिछ गईं। परन्तु जो आत्मा अपने इस स्वरूप के किलेमें प्रवेश करके बैठता है उसकी सारी विपदाएं खत्म हो जाती हैं। एक भी संकट में प्रायः वह नहीं रहता है। यदि इस जीवने आज तक ऐसा कार्य नहीं किया है तो इसी का फल है कि उसका संसारमें जन्ममरण चक्र इतना रहा आया। यहां का परिवार यदि अच्छा लगता है, बच्चों का, धन का यदि मोह लगा हुआ है तो खूब एकदम खुले दिल से डटकर मोह को कर लो, खूब मोह कर लो, १० के बीचमें मोह कर लो, अधकचड़े क्यों रहते हो ? अच्छा आजमा लो मोह करके, फिर बताओ कि क्या अपने में लाभ की व्यवस्था हो जायगी ? यदि इसमें सार नजर आता है तो इसमें ही लग जावो। फिर अपने आपमें ही पता पड़ जायगा कि मुझे इससे हानि मिली है कि लाभ मिला है। इससे कुछ नहीं मिलेगा, क्लेश ही मिलेंगे, आत्मबल ही घटेगा, नाना शल्य बढ़ेंगे। बाहर दृष्टि एकदम फैल जायगी, फिर आनन्द का उपाय बनना कठिन हो जायगा। अनेक खोटी परिस्थितियां आ जायेंगी, यदि बाह्य में मोह कर लिया तो बाह्य में कोई मंगल नहीं है, कोई

मुझे सुख देने वाला नहीं है। मंगल वह होता हैं जो मंगल है। मंग अर्थात् सुख को जो लावे वह मंगल कहलाता हैं। आनन्द को, सुख को जो लावे उसे मंगल कहते हैं।

आप लोग णमोकार मंत्र पढ़कर फिर चत्तारिदंडक पढ़ते हैं। उसमें यही तो बोला जाता है—"चत्तारि मंगलं -अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं" अर्थात् चार मंगल हैं--अरहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवली भगवान के द्वारा प्रणीत धर्म मंगल है। मंगल का अर्थ है जो मंग लावे व मं गलावे। मं का अर्थ है पाप। जो पाप को गलावे वही परिणाम सुख दे सकता है। पापों को बढ़ाने वाला जो परिणाम है वह मोह और अज्ञानसे भरा अर्थात् विषयों में लगा हुआ रुचिकर तो होता है, परन्तु उसका परिणाम खोटा ही निकलता है। यहां किसी का कुछ करने वाला कोई नहीं है। आत्मा और कर्म इन दोनों के परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहे हैं। जैसे परिणाम हों तैसे ही कर्म इसमें बंधेंगे। जैसा बद्ध कर्मों का उदय आवेगा वैसे आत्मा में भाव होंगे। ज्यों ही आत्मा ने खोटा भाव किया त्यों ही आत्मा में कर्म के बन्धन हुए और वह बंधा हुआ कर्म जब अपना समय पायगा, अपने उदयकाल में आयगा उस समय ही आत्मामें दुःख और खोटा परिणाम उत्पन्न हो जायेगा। न इस आत्माको कोई समझाने वाला है कि देखो खोटा उदय आ रहा है तो खोटा बन जावो और न कर्म को समझाता है कोई कि आतमा में खोटा भाव आ रहा है तो तुम बंध जावो। परन्तु ऐसा प्राकृतिक सुयोग है कि जहां आत्मा में खोटा भाव आया कि कर्म बंध गए। तात्पर्य की बात यहां समझनी चाहिये कि यहां करने-हरने वाले कोई नहीं हैं जिनकी भक्ति करें जिनकी मिन्नति करें तो कुछ अपनी गुंजाइश निकाल लें। यहां तो ओटोमेटिक सब हो रहा है तो खोटे भाव को रख लो, दुर्गति प्राप्त कर लो, अच्छे भाव कर लो, लो सद्‌गति पा लो, यह तो जिस समय किया उस ही समय पर निर्भर है। इस कारण सदा अपने परिणाम को स्वच्छ व संयत बनाने का यत्न होना चाहिए। परिणाम की निर्मलता के लिये अपने परिणाम को स्वच्छ व संयत बनाने का यत्न होना चाहिए। परिणाम की निर्मलता के लिये क्या करना है, जैसा यह मैं हूं तैसा समझ लेना है। यह मैं आत्मा सबसे निराला है ना। है, तो सबसे न्यारा, सबसे निराला मान लो, बस यह मौलिक यत्न आवश्यक है। अच्छा देखो यह पीछी चौकी से न्यारी है कि नहीं, पुस्तक से न्यारी है कि नहीं। है ना न्यारी, फिर न्यारा मानने में कौनसा हर्ज होता है ? है नहीं यह शरीर सबसे न्यारा ? जो बैठे हैं इन सबसे यह शरीर जुदा है कि नहीं। है जुदा तो जुदा मान लो, इसमें कौनसी कठिनाई

पड़ती है ? अब जरा भीतरकी तो बात परख लो कि यह मैं आत्मा जो दुःखी होता, सुखी होता, विकल्प करता है, समझने की चेष्टाएं करता है। यह आत्मा है ना सबसे न्यारा। यदि न समझ में आए यह बात तो फिर धर्म के लिये और काम छोड़ दो, पहिले यह निर्णय कर लो—यह बताओ कि मैं सबसे न्यारा हूं कि नहीं ? भैया ! इस निर्णय बिना तो धर्म का पालन ही नहीं होगा। अपने आपकी ठीक समझ बना लो। यह काम सबसे बड़ा है और यह बात स्वाधीन है। जरा विकल्प छोड़ करके सच्चा विश्राम लेकर देखो कि तुरन्त समझ में आ जाता है। यदि कोई ज्ञान ज्ञान का निषेध भी करे तो भी ज्ञान ही तो यह है, जो निषेध करेगा। इस ज्ञान से इस ज्ञान को इस ज्ञानके अंदर ले जाएं और देखें कि इस ज्ञान का स्वरूप है क्या ? जिस ज्ञानके द्वारा हम सारी दुनियाको जाना करते हैं वह ज्ञान खुद कैसा है ? मैं ज्ञान के स्वरूप को देखने में लग जाऊं तो सब ओर के विकल्प हठ जावेंगे, क्योंकि हम ज्ञानस्वरूप ही ज्ञान के स्वरूप को देखने में चल उठें और कुछ विशेष अन्तर में प्रवेश करके देखें तो शरीर की सूरत भी भूल जायगी। शरीर हैं या नहीं है। यह भी भान न रहेगा वहां केवल ज्ञानज्योति, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानतत्त्व ही अनुभव में आयगा। वह ज्ञानघन पदार्थ देखो जुदा है सबसे या नहीं। इसका ठीक निर्णय कर लें। समझ में आवे कि जुदा है तो बस ऐसा मान लो। यही धर्म का पालन है और समझ में न आवे कि जुदा है तो अच्छी तरह से पहिले इसी के निर्णय में लग जावो। अगर जुदा नहीं है तो ऐसा ही मानते रहो। जैसा है, तैसा मान लो। यद्यपि आत्मा जुदा है ऐसा ज्ञान होनेपर भी गृहस्थी में जुदी-जुदी व्यवस्थावों में भी यह ज्ञानी लग जाता है तो भी आत्मा जुदा है। यह उसकी आत्मा की प्रेरणा अन्तर में रहा करती है। यह तो लोकव्यवस्थाके लिये है। सबका जुदा-जुदा परिवार है और यह उठकर उसी परिवारमें जायगा, बात भी करेगा, उसी दूकानमें जायगा। यह सब व्यवस्था है। जैसा सबका काम ठीक चले तो सब लोगों ने मिलकर व्यवस्था बना ली कि ये इतने लोगों की व्यवस्था कर ले, ये इतने लोगों की। यह बात परिवारके रूप में ही हुई। सो सब जुदा-जुदा कर रहे हैं, सब काममें व्यस्त (बिजी) हो रहे हैं, केवल लोकव्यवहार में उच्छृंखलता न आ जावे, इसके लिए व्यवस्था बना रखी, इस व्यवस्था में ज्ञानी भी पड़ रहे हैं। लेकिन प्रतीति में यह रहता है कि मैं तो अपने में पा रहा हूं अपने को सबसे निराला, चैतन्यमात्र एक पदार्थ, जिसका कुछ नाम नहीं है, जिसका कुछ आकार प्रकार नहीं है। यह मैं एक चैतन्य वस्तु हूं, इसके सिवाय अन्य किसी पदार्थ में इसका रंच भी सम्बंध नहीं है। ऐसे देखना बस यही मंगल है। पाप

के काम से पाप नहीं कटे और पाप के काम में सुख नहीं मिलेगा। करोड़ों का धन मिल जाय तो उससे सुख नहीं मिलेगा। कितना ही वैभव बसा तो शांति नहीं मिलेगी। अगर बाह्य पदार्थों में शांति होती तो तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुषों को लोकवैभव में शांति क्यों न मिल जाती ? उन्हें ज्ञान जगा तब वे लोक व्यामोह छोड़कर अपने एकत्वस्वरूप में उपयुक्त हो गये।

देखो मंगल पाठ पढ़ते हैं तब अरहंत सिद्ध साधुको मंगल कहकर फिर अपने एकत्व को मंगल कहकर विश्राम पाते हैं। "अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं" चार मंगल हैं ना। अरहंत भगवान मंगल हैं। चार घातिया कर्मों से रहित, मोह से अत्यन्त परे परमपवित्र ज्योति आत्मा अरहंत भगवान हैं वह जिसके स्वरूप के स्मरण से भव-भव के पाप कट जाते हैं वह अरहंत मंगल है। जिसके स्वरूप के स्मरण करने व अपने स्वरूप का ज्ञान करने से और वर्तमान में जो कुमति हो रही है उसकी मद्दे नजर रखने से जो आनन्द से मिला हुआ पछतावा होता है उसमें जो आंसू बहता है उससे मानो भक्तके कितने ही पापकर्म धुल जाते हैं। वह मंगल है। बहुत शुद्ध चित्त होकर ध्यान तो बनाओ कि आसमान में यहां से ५ हजार धनुष ऊपर, माने २० हजार हाथ ऊपर एक प्रभु विराजमान है। जिनकी पूर्ण महिमा के कारण स्वर्ग के देवता लोगों ने आकर एक बड़ा मंडप बनाया है जिसके आगे जगत् में कोई ज्ञानी का वैभव नहीं हो सकता। १०-१२ कोस में २४ कोस में एक मण्डप बना हुआ है जिसमें कई गोलों में कितने ही सुन्दर कोट, स्वातिका, वाटिका, चैत्यालय आदि रचे हैं, बीचमें प्रभु का दरबार है, स्फटिक भित्तिकाओं से घिरी १२ सभायें हैं। इसे समवशरण कहते हैं। समवशरण का अर्थ है जहाँ जीवों को अच्छा पूरा शरण मिले। इसके नीचे कितने ही सोपान लगे हुए हैं। बहुत से पर्वत जहां नीचे आ गए हैं। उस मण्डप की ओर जिसमें कि कहते हैं समवशरण, अच्छी तरहसे पूरा जहां शरण मिलना है। ऐसे में समव-शरण की ओर देवता तथा मनुष्य लोग मन में पुलकित होकर धर्मसाधना में उनके उपदेशों को सुनते जा रहे हैं। देखो ना, आनन्द में नाना प्रकार के गुणानुवाद करते हुए, नृत्य कला के साथ चले आ रहे हैं, हर्षित हो रहे हैं ये देवाङ्गना व देवता लोग। ये लोग प्रभु के गुणानुवादों के पीछे अपने परिवार को भूल गए हैं। देखो भैया यहां ही जब आप किसी त्यागी का आदर करते हैं तो पहले अपने त्यागी को ही अपना मानते हैं, पहिले त्यागी को खिलाते हैं, चाहे बच्चे भूखे पड़े रहें। फिर तो यहां तीन लोकके नाथ की बात कही जा रही है। वे अपने प्रभु के पीछे अपने परिवार

को त्यागकर चले जा रहे हैं। उन्होंने अपने परिवार को भूलकर उस प्रभु को कितना अधिक माना होगा ? उनका विश्वास है कि मेरा शरण मेरा प्रभु है, मेरे समस्त संकटों को टालने वाला मेरा प्रभु है। कितने ही प्रकारके गीत वादित्रके दिव्य शब्द होते चले आ रहे हैं। धन्य है उन परम आत्मावों को जिनके विकास के कारण दुनियाके लोग एक चित्त होकर, आकर्षित होकर जिनका चरणसेवन प्राप्त कर रहे हैं। यही अरहंत भगवान मंगल हैं। जो इस शरीरके झंझटसे सदाके लिए मुक्त होकर ज्ञानानन्दस्वरूप में विराज रहे हैं।

ऐसा सिद्धप्रभु वही मेरा सब कुछ है। ममता के साधनभूत परिवार के बच्चे भी कुछ कहते आवें तो भी भक्ति के समय तो विशेषतया ही ज्ञानी के भाव रहता है कि मेरे को किसी कार्य से प्रयोजन नहीं है। जगत के बड़े बड़े बाह्य पदार्थों से क्या सबसे उत्कृष्ट तो यह प्रभु हमारे हैं, जो समस्त राग, द्वेष, मोह भावोंसे रहित और इस शरीर से रहित, ज्ञानानन्दस्वरुप विराजमान है वह प्रभु इसके लिए मंगल है। वह साधु जिसको केवल अपने शुद्ध स्वरुप के अनुभव का ही काम है, केवल अपने शुद्ध स्वरुप में ही जिनकी रुचि है, न वस्त्रों की रुचि है, न सांसारिक कार्यों की रुचि है, इसी कारण से जिनके शरीरपर एक धागा भी नहीं है, जिसके वैराग्यमुद्रा के दर्शन करने मात्र से उनके आत्मरसका भी अनुमान हो जाता है तथा जिन को भोजन से भी रुचि नहीं हैं, शरीर का साधन समझकर यदि शरिर के लिये आवश्यक समझा विवेकने तो यह विवेक दिनमें एक बार विधि मिली तो आहार कर देता है, जो अपने स्वरूप के अनुभव के यत्नमें रहते, अन्य कुछ झंझट नहीं रखते हैं, ऐसे वे ज्ञानानन्दघन साधु परमेष्ठी हैं। ऐसे साधुवों के दर्शन से भव के पाप कट जाते हैं। अरहंत सिद्ध, इस आत्मा का मंगल बनाकर अपने स्वरूप में परिणमता रहे। केवल भगवान स्वरूप की ओर दृष्टि होना यह धर्म ही मंगल है। इस आत्मा का सहज शुद्ध जो स्वरूप है उसको ही लक्ष्य में लेना, यह धर्म बतलाता है। अन्त में देखो यह धर्म ही मंगल कहा है। देखो जिसकी दृष्टि, जिसका विचार, जिसका उपयोग अपने काम में अधिक रहता है उसको बड़े-बड़े पुरुष भी आदर से देखते हैं। इस ही धर्म मंगल के प्रसाद से साधु पूज्य हैं, इस ही धर्म मंगल के प्रसाद से साधु अरहंत सिद्ध भगवान बने हैं। यह निजधर्म, यह आत्मधर्म हमारा मंगल है।

इसका हम केवल भाव का विचार करेंगे—हमको मिलता है या इसका काम बन सकता है—वह भी मालूम होता है। दूसरी वार में शुद्धि के उपकार में अपने आपके धर्म से काम जानना बनता, फिर आनन्द में उसके समान किसी का उपयोग दे, अपने द्वारा

कुछ नहीं हो सकता है। केवल भगवान की ओर हुए धर्म मंगल हैं। इसी प्रकार ये चार उत्तम हैं और ये चार शरण हैं।

देखो इन चारों में पहिले हितकारी अरहंत का ध्यान किया है जिनके कारण सिद्ध का भी ज्ञान हुआ, बाद में सुगम प्राप्त उपकारी साधु का भी ध्यान किया है। अंत में पूर्ण सार शरण कहा है। केवली भगवान के द्वारा कहा गया धर्म ही शरण है। केवल भगवान ने तो कहा है। क्या कहा है ? इतनी बात जो हम भूल गए थे, इसका ही प्रभु ने बोध कराया है। ऐसा केवल अपने स्वरूपसत्तामात्र चैतन्यमय अपने स्वरूप को अपनी दृष्टि में अनुभवो तो यह भी एक ऐसा दृढ़ किला है कि कैसा भी उपद्रव आ जाय कि जिससे तीन लोक के जीव अपना-अपना रास्ता छोड़कर कहीं भी हटकर घूमने लगें, डरने लगें, किन्तु यह ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप रक्षाके किलेमें आराम कर रहा है। जैसे पानीके जीव पानी से ऊपर मुंह उठाकर चलते रहते हैं और जरासा भी उपद्रव उसके सामने आवे तो वह पानी में डूब जाता है। सारे उपद्रव तो शान्त हो गये। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी कभी अपने ज्ञान के बाहर अपने ज्ञान से ऊपर बाहरी पदार्थों की ओर जब मुंह करता है वहां आकुलता होती ही है। सो तब झट ही बाहरी पदार्थ से मुख मोड़कर अपने उपयोग को अपने ही ज्ञान में डुबो दे तो सारे उपद्रव खत्म हो जाते हैं, पर ऐसा कर सकने वाले बिरले ही ज्ञानी होते हैं। जगतके ये बाहरी पदार्थ जहां अज्ञानी आनन्द मानता है उसका ज्ञानी को पता भी नहीं। इसी कारण ज्ञानियों में रहने वाले, ज्ञानियों के संग में ही बसने वाले शीघ्र आत्मानुभव करने के योग्य हो जाते हैं। बस जिन्होंने अपने आपको अन्तर के मर्म का पता लगाया वे पुरुष उपास्य हैं, हम उनके गुणानुवाद में अधिक अनुरागी रहें। हमें जीभ मिली है तो इस जिह्वा का अधिक उपयोग कर लें। जिह्वा के, द्वारा, गुणी पुरुषों के गुणानुवादों से अपने को गुणलाभ मिलता है। हमें विनाशीक जिह्वा मिली है, तो हम कल्याण के लिए इस जिह्वा का अधिक उपयोग कर लें। मन मिला है है तो इस मन से गुणी पुरुषों के गुणों का स्मरण कर लें। यह तन मिला है तो गुणी पुरुषों का वैयावृत्य कर लें।

सर्व व्यवहारधर्म का प्रयोजन आत्मधर्म का पालन है। आत्मस्वभाव व वस्तु स्वभाव का दर्शन करना ही धर्म का पालन है। वस्तुस्वभाव के जानने का सुन्दर उपाय स्याद्वाद की विधि है कि भाई अपने आपको पहिचानो। सब वस्तुओं को यथार्थस्वरूप में पहिचानो। देखो जितनी वस्तुयें हुआ करती हैं अपने-अपने उत्पादव्ययध्रौव्य में ही रहती

हैं । वे सब केवल अपने आपकी सत्ता लिए हुए हैं, वे सब अनादि से हैं और अनन्त काल तक हैं और वे अपने आप ही अपने स्वरूप में अपने उत्पादव्यय से अपने को परिणमाते रहते हैं, अपने ही परिणाम से अपने लिये उत्पाद करते हैं और अपने में अपने लिए अपने आप अपनी पूर्वपर्याय का व्यय करते हैं । प्रत्येक पदार्थ अपने में अपने लिए अपने आप विकसित व विलीन होते हैं, फिर भी वे प्रत्येक पदार्थ अपने आप अपने लिए अपने में अपना सत्त्व बनाए रहते हैं, यही पदार्थ का स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! हम सब भी एक पदार्थ हैं, अपने आप बनते हैं । इन पदार्थों का अन्य किसी पदार्थों से रंच भी सम्बंध नहीं है । सम्बंध नहीं है तब श्रद्धा में पूरे तौर से सबसे न्यारा अपने को समझो । सत्य श्रद्धा नहीं पकड़ी तो संसार में रुलना पड़ेगा । हे आत्मन् ! तू पवित्र है, अपनी प्रभुता को देख । इस ही प्रभु के प्रभुत्व की भक्ति से तु पाप काटेगा तो सुख पायेगा, यही मंगल है, यही उत्तम है, यही शरण है, यही रक्षक है, यही महान् कला है । यह है अपने आप और स्वयं ही ज्ञानानन्दमय अपने आपको संसार के सर्वक्लेशों से मुक्त करने का उपाय ।

जीव का शरीर से घनिष्ट सम्बन्ध है और शरीर में जब-जब रोग होते हैं तब तब इस जीव को दुःखी भी होना पड़ता है । पर इस रोग का मूल कारण क्या है और इस रोग के मिटने का मूल उपाय क्या है ? इस बात में मोही जीव की दृष्टि नहीं जाती । यह शरीर मिला है तो जैसे-जैसे गति नामकर्म का उदय हुआ, शरीर नामकर्म संघात आदि नामकर्म का उदय हुआ, उस उसके अनुसार जीव को शरीर मिला करता है और वह नामकर्म कैसे मिलता है ? जैसे-जैसे जीव के परिणाम होते हैं वैसे-वैसे कर्मों के बंधन होते हैं, शरीर में रोग होते हैं, व्याधियां होती हैं, मृत्यु होती है, शरीर सड़ता गलता है, खोटा शरीर मिलता है । इन सबका शरण आत्मा का परिणाम है । इन सब विपदावों का मूल कारण क्या है ? इसके अंतर में कारण खोजो तो खोटा आत्मपरिणाम उनका कारण मिलेगा । जो-जो कुछ इस आत्मापर गुजरता है, धनी होना, निर्धन होना, यश, अपयश, रोग, निरोगता, जो-जो गुजरते हैं इन सबका कारण आत्मा का परिणाम है । जैसा परिणाम किया वैसा कर्मबन्धन हुआ । जैसा कर्म बंधन वैसी सामने स्थिति आ गई । इस शरीर में विपदाएं, विपत्तियां कैसे मिटें, इसका कारण सोचेंगे वह भी आत्माका परिणाम है अर्थात् जो उपयोग निज आत्मा के सहज शुद्ध चैतन्यतत्त्व को पहचानता है, वहां ही रमता हैं, उसको ही आत्मा अंगीकार करता है । वह परिणाम तो सर्वक्लेशों, व्याधियोंके नाश करने

के लिये सब क्लेशों को नष्ट करने का शुद्ध परिणाम ही उपाय है। जो अपने आपके यथार्थस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी जगह में लगते हैं, उनको विपत्तियां आती हैं, संकल्प होंगे, विकल्प होंगे, क्लेश होंगे।

जगत् के कोई पदार्थ मेरे नहीं है, सब न्यारे-न्यारे हैं। एक का दूसरे से त्रिकाल में कुछ सम्बन्ध नहीं होता। चाहे जितना वैभव हो, चाहे जितना पुण्यवान हो, उन्हें अपना स्वरूप ही उनका मिलेगा, इसके अतिरिक्त परमाणुमात्र भी अपनानहीं है। जो अपना नहीं है उसको अपना मान लेना उसको अध्यात्मलोक में चोर कहते हैं। कैसे चोर कहते हैं ? देखो यहां भी जो दूसरों की चीजों को उठा लें, अपने घर में रख लें और मन में यह धारणा बना लें कि यह चीज मेरी हो गई। यह धारणा जो बना लिया तो वही चोर है। इसी प्रकार जगत् के ये सब पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिये जगत्के हैं। एक दूसरे सब परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। जो भिन्न चीजें हैं, जिनसे त्रिकाल में हमारा कोई सस्बन्ध नहीं है, जो अपने में ही अपना उत्पाद करता है, अपने में ही अपने को बिगाड़ता है और अपने स्वरूप में बना रहता है त्रिकाल में उनका अपना यही काम है। किसो का किसी से रंच सम्बन्ध नहीं। फिर भी उनमें यह धारणा करना कि यह मेरा है। यही तो परमार्थ की चोरी है। यह भगवान आत्मा तो शुद्ध स्वरूप है। यह भगवानस्वरूप आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर बाहरी पदार्थों में आपा अंगीकार करता है। यह मेरा है, यह उसका है आदि। यही चोरी होती है। हमारा है नही, पर मानते हैं कि हमारा है। जैसे लोक में चोर क्यों कहते हैं ? हमारी चीज नहीं है, पर मानते हैं कि हमारी चीज है। जो चोरी करते हैं वह गिरफ्तार किए जाते हैं। उनको सजा होती है। यह हमारी बात है। हम परमार्थ की चोरी करते हैं, कर्म हमें गिरफ्तार कर लेते हैं। यह हमारी सजा उस सजा से अधिक है। नाना प्रकार के शरीर धारण करना, जन्म मरण करना, जन्ममरण के चक्र में आना आदि। यह भी जो विपदाएं हैं—घर-बार, स्त्री बच्चे वगैरा इस आत्मा को वह सत्य नजर आ रहे हैं। उनमें मोह उठाए हुए हैं, ज्ञान को दबा रहे हैं। सच्चाई को नहीं सोच सकते हैं, ऐसी विपदाएं देखो परमें आपा मानने से ही पैदा कर लेते हैं। जैसे यह मेरा है, वह मेरा आदि प्रकार से सोचा तो तभी उन्हें आकुलता हो जाती है, क्यों ऐसा होता वे अपनी दृष्टि बाहर लगाते हैं, जो जैसा है उसे वैसा नहीं मानते। जो जैसा है वैसा मानना ही आकुलताओं को दूर करने में समर्थ है। अपने शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान कर लेना, यह सब विपदाओं को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। दूसरा और कोई

इन विपदाओं को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। कहीं बाहर दृष्टि न जावे। धर्म के प्रसंग में भी वेशभूषा में, मजहबों में, क्रियापद्धतियों में उन सबमें दृष्टि न डालो। केवल अपने अंतर में दृष्टि डालो। अपने को केवल ज्योतिमात्र समझो। अपने आत्मा के प्रगट रूप में दर्शन करो। इसी में अपने प्रभु का दर्शन प्राप्त होगा। दूसरा उपाय नहीं है कि विपदाएं दूर हो सकें। एक यही अनुभव का उपाय है जो सब आपदाओं विपदाओं को समाप्त कर देता है। जैसे बच्चे लोग एक कथानक कहा करते हैं कि किसी जंगल में स्यार, स्यारनी थे। स्यारनी को गर्भ था, प्रसव का समय था। स्यार ने स्यारनी से शेर के बिल में प्रसव वेदना को समाप्त करने के लिए कहा। बच्चे हो गये। स्यारनी को विधि समझा दी। स्यार ऊपर चट्टान पर बैठ गया। स्यारनी ने अपने बच्चों को समझा दिया कि जब कोई आवे तो रोने लगना। एक शेर आया। बच्चे रोने लगे। स्यार ने स्यारनी से पूछा—बच्चे क्यों रोते हैं ? स्यारनी ने कहा कि बच्चे भूखे हैं शेर को खाना चाहते हैं। शेर डरकर वहां से भाग गया। इस तरह से १०-२० शेर आए तो वह सब भी डरकर भाग गए। सब शेरों ने मिलकर एक मीटिंग की। सबने सोचा कि ऊपर चट्टान में जो बैठा है उसकी सब करतूत है। सब शेरों ने हिम्मत की और स्यार के पास पहुंचे। अब सब यह सोचते हैं कि इसके पास कैसे पहुंचा जाय। सोचा कि एक के ऊपर एक खड़े हो जावें। उन सबमें से एक लंगड़ा शेर था। सलाह हुई कि यह ऊपर चढ़ नहीं सकेगा सो इसको नीचे ही खड़ा करो। लंगड़ा शेर नीचे खड़ा होता है और एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा खड़ा होता चला जाता है। इतने में ही स्यारनी के बच्चे रोने लगते हैं। स्यार, स्यारनी से पूछता है कि बच्चे क्यों रो रहे हैं ? स्यारनी ने कहा कि बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाना चाहते हैं। लंगड़ा शेर इतना सुनकर घबड़ा गया। वह एकदम से भागा। दूसरे शेर जो ऊपर चढ़ पाए थे वे शेर भदभद गिरने लगे और सब भाग गए। इसी प्रकार हम सबपर अनेक विपत्तियां छाई हैं। जितने जगत के क्लेश हैं वे पर में आपा बांधे हैं, इस बुनियादपर अड़े हैं।

ये सारे क्लेश, विपदाएं यों ही खत्म हो जाएं। यदि परमें ममत्व बुद्धि है वह खिसक जाय। अच्छा परीक्षा ही करके देख लो जैसे जो कहते हो कि यह मेरा घर है। बतावो—आपके पास क्या निर्णय है कि आपका ही घर है। आपका शरीर भी नहीं है। विषय कषाय विकल्पों का परिणाम तक भी आपका नहीं है। यह जो कुछ होता है यह भी आपका नहीं है। ये विषय कषायों के परिणाम आपके स्वभाव में नहीं हैं। अन्य

कषायों के करने वाली भी यह आत्मा नहीं है। केवल मैं अपने स्वरूप को भूल गया हूँ, इसलिए सारे झंझट लग गए हैं। अब इस आत्मा की दृष्टि करो, शुद्ध स्वरूप की पहचान करो। समस्त क्लेश इस आत्मस्वरूप की दृष्टि से नष्ट हो जाते हैं। सब क्लेशों के नष्ट करने की सामर्थ्य इस आत्मदृष्टि में ही है। देखो अन्तरंग तपस्या करके जो निर्मल परिणाम होते हैं जिनसे घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं तो अरहंत अवस्था आती है। अरहंत अवस्था आते ही उनका शरीर औदारिक शरीर परमौदारिक शरीर हो जाता है। घातिया कर्म के क्षय से पहिले कोई साधु रोगी हो, कोई उपद्रव हो गया है, वृद्ध हो, कैसा ही हो, अरहंत होनेपर शरीर निरोग, पूर्ण देदीप्यमान हो जाता है। इस शरीर में कितने ही परिणमन आते हैं, परन्तु वीतराग सर्वज्ञ अवस्था में जब आत्मा हो जाता है तो फिर वह शरीर औदारिक न होकर परमौदारिक हो जाता है। अब भी देखो जब कोई रोग हो तब यदि भगवान की भक्ति में लीन हो जाते हैं, उनके गुणों में अनुराग होता है, शुद्ध, निर्मल परिणाम होता है तब देखो रोग भी दूर हो जाते हैं। इसी कारण जो रोगी बुद्धिमान होता है, पड़े-पड़े निरन्तर णमोकार मंत्र का जाप किया करता है वह रोगमुक्त हो जाता है। इन मंत्रों में इतनी विशाल महिमा है कि संसार के क्लेश दूर हो जाना तो सरल बात है भव भव के बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं, क्लेश भी और झंझट भी समाप्त हो जाते हैं। आत्माएं शुद्ध होती हैं।

इनमें दो प्रकार के पवित्र आत्मा हैं, एक तो जो आत्मा शुद्ध हैं वे हैं और दूसरे वे हैं जो शुद्ध होने के प्रयत्न में सफल हो रहे हैं। जो शुद्ध हैं वे हैं अरहंतसिद्ध, जो शुद्ध होने के प्रयत्न में सफलता पा रहे हैं वे हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु। साधु कहते किन्हें हैं जिनको अपने यथार्थ स्वरूप का विश्वास हो गया है, अपने आत्मा के केवलज्ञानस्वरूप को शुद्ध देखते हैं। ये आत्मा किन्हीं रागों से सम्बंधित नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। ऐसा जो आत्मचिन्तन में दृढ़ हो जाता है, ऐसा जो अपने को देखने के लिए बड़ा उत्कृष्ट लालायित हो जाता है, उन्हें दुसरी चीज जगत में नहीं रुचती। उनका परिवार छूट जाता है, आसार परिग्रह छूट जाते हैं। यह शरीर नहीं छूट पाता है। यदि शरीर भी छोड़ा जा सकता होता तो वह शरीर को छोड़कर बाहर ही रहकर आत्मा की उपासना करेगा। वे तो आहार भी नहीं करते, किन्तु विवेक आहार करवा लेता है। यह शरीर धर्मसाधन के लिये है। शरीर की स्थिति के लिये आहार आवश्यक है। सो दिन में एक बार ही वे आहार की ऐषणा करते हैं। एक बार से हीं यह शरीर टिका रहता है। एक बार जो

आहार कर ले और बाकी समय तपस्या में व्यतीत करे, निरंतर आत्मसाधना में लगा रहे, ऐसीं आत्मा को साधु पुरुष कहते हैं। उनमें जो ज्ञानी साधु हैं औरों को पढ़ाते हैं जिनको आचार्य, उपाध्याय घोषित कर देते हैं वे ज्ञानी साधु उपाध्याय कहलाते हैं, जो बड़े ज्ञायक हैं, साधुवों में प्रमुख हैं, जिनकी आराधना में साधु रहते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। देखो यह आत्मा ही परमेष्ठी का स्वरूप है, आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। इस निज आत्मतत्त्व को, परमेष्ठित्व को निरखकर अपनी दृढ़ आत्मसाधना द्वारा आत्मकल्याण कर लेना महान् विवेक व पुरुषार्थ है। वह आत्मा जिनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा पूर्ण विकास को प्राप्त हो गए हैं, जिसके ज्ञान में सर्व विश्व के सकल ज्ञेय तत्त्व ज्ञान में सर्व विश्व के सकल ज्ञेय तत्त्व प्रतिभात होते हैं (ज्ञात हो रहे हैं) वे हैं सिद्धात्मा। ये प्रभु सर्वज्ञ होकर भी अपने आनन्दरसमयी हो रहे हैं, ऐसा परमानन्द का जो पिंड है उसी को परमात्मा कहते हैं। भगवान के दर्शन करना है तो अपने स्वरूप में दृष्टि दो। बाहरी चीज में न अपने का पता चलेगा और न भगवान का पता चलेगा। ये इन्द्रियां जिनको आत्मा का घात करने वाला कहा गया है जब यह जीव इन इन्द्रियों के कहने में लगा रहता है तो यह बरबाद हो जाता है। मुझे केवल ज्ञानदृष्टि से कार्य लेना है। मैं ज्ञानमात्र हुं, ज्ञान का ही कार्य करता हूं और मैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करता। मैं अपने आपकी दृष्टि में रहूं, ऐसे उपयोग में जो आनन्द होगा। उस आनन्द में वह शक्ति है जिसके कारण भव-भव के संचित कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं। बाकी तपस्याएं जो की जाती हैं वह इन्द्रियोंको कन्ट्रोल में लाने के लिए की जाती हैं। उन बाहरी चीजों से कर्म नहीं कटते, पर आत्मप्राप्ति में जो संतोष होता है उससे कर्म कट जाते हैं।

हम इस संसार में अनन्तकाल से भटकते चले आए। उन अनन्त पर्यायों में कितनी इच्छायें की होंगी धर्म के प्रसंग में, किन्तु उन चेष्टाओं से कुछ नहीं हुआ। जब धर्म का संयोग होता है तब ऐसे में यदि हमारी दृष्टि बाहर रमी, बाहर ही हम उलझे रहे, हम केवल अपने आपको न पहचान सके तो यह सब हमारी बातें हैं, मिट जावेंगी, हम कोरेके कोरे रह जावेंगे।

एक सेठ था। उसकी राजा से बड़ी मित्रता थी। कुछ दिन बाद वह गरीब हो गया, उसके पास कुछ नहीं रहा। एक दिन वह राजा से बोला—राजन् कुछ निधि का संयोग हो तो पुनः व्यापार करुं। कहा २ बजे से ४ बजे तक का समय देता हूं, रत्नों के खजाने में से जाकर जितना तुमसे हो सके रत्न ले आवो। वह सेठ रत्नों के खजाने में

चला गया। ज्यों ही वह खजाने के अन्दर पहुंचा, एक बड़ा महल था, हाल था। वहां देखता है कि यहां बहुत सुन्दर-सुन्दर खिलौने भी हैं, बड़े-बड़े कलायुक्त खिलौने देखना शुरु किये। खिलौनो में ही उसका मन रम गया। इतने में ही चार बज गए। चपरासी ने निकाल दिया। वह फिर राजा के पास आया, बोला—महाराज मैं तो खिलौनों में ही रह गया। मैं कुछ नहीं कर सका। राजा ने कहा—कल २ बजे से चार बजे तक की इजाजत मैं तुम्हें स्वर्ण के खजाने में जाने की देता हूं। वह सेठ उस स्वर्ण के खजाने के अन्दर गया। वहां पर भारी मैदान था। वहां उसने सुन्दर-सुन्दर घोड़े देखे। वह घोड़ों का बड़ा शौकीन था। यह घोड़ा देखा, वह घोड़ा देखा। एक घोड़ेपर बैठ गया! चाल देखने लगा, इतने में चार बज गए। चपरासी ने निकाल दिया। वह सेठ राजा के पास गया, बोला—महाराज यह भी समय मेरा यों ही गया। मैं घोड़ों में ही पड़ा रहा। राजा ने कहा कि कल २ बजे से ४ बजे तक का समय देता हूं। एक चांदी के खजाने में जाओ। जितनी चांदी ला सको, ले आवो। वह सेठ चाँदी के खजाने में गया। वहां पर उसने सुन्दर-सुन्दर चित्र देखे। नाना रूपों के भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र देखे। उन बाह्य चित्रों को देखने में ही उसका मन रम गया। इस तरह से ४ बजे गए। चपरासी ने निकाल दिया। राजा के पास गया, बोला—राजन् आज का भी दिन व्यर्थ ही गया। राजा बोले कि ३ दिन हो गए, तुम नहीं चेते, अच्छा तुम्हें एक दिन का समय और दिया जाता है। एक तांबेके खजाने में कल जाना। जितना तांबा ला सको, ले आना। चौथे दिन जब सेठ खजाने में गया तो वहां पर एक बहुत ही अच्छा स्प्रिंग-दार पलंग देखा। पलंग देखा। पलंग की परीक्षा के लिये पलंगपर वह लेट गया। नींद आ गई। इस तरह से चार बज गए। तब चपरासी ने निकाल दिया। इसी तरह भाई इस मनुष्यपर्याय के चारपन होते हैं। बच्चा हुआ, फिर बालक हुआ, फिर युवा हुआ, फिर वृद्धावस्था हुई। कुमारावस्था में भी धर्मपालन करना आवश्यक है। आठ वर्ष का बालक भी अरहंत हो सकता है। बालिग जैन सिद्धान्त में ८ वर्ष का माना गया है। आठ वर्षकी आयुमें तो सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्व व संयम कर सकता है, परमात्मा हो सकता है। कुमार अवस्था में भी धर्मसाधना नहीं किया, खेलों में ही समय बीत गया। युवा-वस्था का समय स्त्रीप्रेम में व्यतीत हो गया, वृद्धावस्था में पड़े-पड़े अधमरे से हो गये। बतावो किस पनको इसने सार्थक किया? देखो छहढाला एक बहुत सुन्दर पुस्तक है। वह तो प्रत्येक गृहस्थ को कण्ठस्थ भी होनी चाहिये। उसमें पहिली ढाल में चारों

गतियों के दु:ख बताते हुए मनुष्यगतिका वर्णन किया है कि "बालपन में ज्ञान न लह्यो। तरुण समय तरुणीरत रह्यो। अर्धमृतकसम बूढ़ापनो कैसे रूप लखै आपनो।"

बचपन में तो ज्ञान नहीं किया, जवानी में स्त्रीरत रहा, बुढ़ापा अर्धमृतकसम है, बतावो अपना रूप कैसे लख सकता है ? भाई कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि बुढ़ापा तो आता ही है। सब कुछ कर लें, बुढ़ापा तो आयगा ही। और बुढ़ापे में सब खराबी होगी तो किसलिये धर्म पुरुषार्थ करें ? इसका समाधान यह है कि जिस जीवने बचपन में ज्ञान नहीं किया व उसी जीव ने संयम न कर विषयरति की, ज्ञान नहीं किया तो युवावस्था के बाद में यह जीव बूढ़ा हो जाता हैं, अधमरा हो जाता हैं तब वह कुछ नहीं कर पाता है। जहां धर्म की ओर दृष्टि रहे, ऐसा पुरुष बूढ़ा है तो क्या हानि है ? आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि तो ज्ञानी ही डाल सकता है। बड़ी अवस्था में तो उन ज्ञानियोंका ज्ञान ही मंज जाता है, उनको हानि नहीं होती है। ज्ञानी तो वह है जिसकी आत्मा के स्वरूप की ओर दृष्टि रहे वही ज्ञान वास्तविक है। बड़े-बड़े रेडियो का आविष्कार, वैज्ञानिक कलाएं आ जावें तो यह वास्तविक ज्ञान नहीं है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, यदि ऐसा अनुभव नहीं है तो जगत में रंच भी शांति नहीं हो सकती है। यदि मैं बाहरी पदार्थो में दृष्टि कर लूं, उनको ही अपना मान लूं तो क्या बाहरी पदार्थों में कुछ अधिकार पाना अपने बसकी बात है ? अरे इन बाहरी पदार्थों का प्रवेश भी इस आत्मा में नहीं है। पर जिन्होंने विकल्प बनाया है उन विकल्पों से यों ही भ्रम से परको अपना मान लिया है, इसका फल यह होता है कि वे कर्मबंधनों में फंस जाते हैं। ऐसा एक निर्णय करो कि मैं आत्मा आनन्दघन हूं, मेरे से ही मेरा काम पूरा पड़ेगा। यहां के चकाचौंध चार दिन के हैं, मिट जावेंगे। यहां कुछ नहीं रहेगा।

मैं एक सत् सारभूत वस्तु हूं, मैं रहूंगा, अनादि से हूं, अनंतकाल तक रहूंगा, किसी न किसी रूप मे रहूंगा। अब हमें क्या करना चाहिए कि हमें क्लेश न हों, मैं अमुक जाति का हूं, कर्म के उदय हैं, मैं अमुक कुल, अमुक मजहब का हूं, अमुक धन वाला हूं, इतना समझदार तथा धर्मात्मा हूं—ये सब विकल्प ही विपदायें हैं। ये बाधाएं वह अपने आपमें डाल रहे हैं। इन सब बातों से दूर रहना चाहिए। अरे तू तो निर्विकल्प है, तेरे में विषयकषाय ही नहीं हैं, तू तो ज्ञान से रचा है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही दृष्टि धर्म का पालन है, यही कल्याण का उपाय है। यह अगर कर लिया तो सब कर लिया और अगर नहीं कर पाया तो कुछ नहीं कर पाया। यदि ऐसा

न कर पाया तो उद्धार नहीं होगा। दिखाकर नहीं, बनाकर नहीं, गुप्त ही रहकर तू अपना कल्याण कर सकता है। दिखावट, बनावट, सजावट से आत्मा का कल्याण नहीं होगा। तू अपने अंतर को अपने उपयोग में लगावे। तू बनावट, सजावट, दिखावट इत्यादि करता है। गुप्त होकर आत्मस्वरूप को देखने की कोशिश नहीं करता है। बनने से धर्म की बात कैसे होती है ? दिखावे से धर्म हमारा खतम होता है, सजाने से धर्म हमारा नहीं रहता है। सो अपने आत्मस्वरूप को अपना लो और मनन कर लो, इस ही में रमने में तुम्हारा कल्याण हो सकता है अन्यथा कल्याण कोशों दूर है। जो अपने में है उसे देखो और अगर न देखो तो अहंकारों से घुल-मिल जावोगे, कहीं कीड़े मकोड़े हो गए तो सारी इज्जत धुल जायगी। यह क्यों धुल गई ? अहंकारों का परिणाम आया, सारी इज्जत धुल गई। एक जगह एक छोटी कहानी लिखी है कि एक साधु था और एक शिष्य था। दोनों एक राजा के बगीचे में पहुंच गए। वहां दो पलंग पड़े हुए थे, एकपर संन्यासी जाकर बैठ गया और दूसरेपर शिष्य जाकर बैठ गया। सन्यासी ने शिष्य से कहा कि तुम बनना नहीं। थोड़ी देर बाद राजा घूमने आया। उन्हें देखकर राजा ने सिपाही से पूछा कि बंगले में ये कौन बैठे हैं ? सिपाही ने कहा— महाराज दो अपरिचित व्यक्ति बैठे हैं, पता नहीं है कि कौन हैं ? सिपाही शिष्य के पास जाकर कहता है कि तुम कौन हो ? शिष्य ने कहा कि देखते नहीं हो, हम साधु हैं। उस शिष्य को सिपाही ने कान पकड़कर बाहर निकाल दिया। सिपाही सन्यासी के पास जाकर पूछता है कि तुम कौन हो ? साधु कुछ नहीं बोलता है। सिपाही राजा के पास गया और बोला कि राजन् एक मनुष्य है, मौन है, वह कुछ बोलता ही नहीं है। और दूसरे से पूछा कि तुम कौन हो ? उसने जवाब दिया कि देखते नहीं हो कि मैं साधु हूं। सो मैंने उसे कान पकड़कर बाहर निकाल दिया है। राजा ने कहा कि जो मौन है कुछ बोलता नहीं उसे छेड़ा तो नहीं था। अरे वह कोई सन्यासी होगा। राजा के जाने पर शिष्य गुरु से कहता कि मैं पीटा गया। गुरु ने कहा कि तुम बने तो नहीं थे। अरे तू तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है। तू अपने आप भ्रमवश मानता है कि मैं गृहस्थी हूं, साधु हूं। इस बाह्य वेश-भूषा की दृष्टि छोड़कर अपने परमार्थस्वरूप को देखो। है तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा और बनता है और कुछ। अन्तर्दृष्टि करनेपर यह अनुभव करेगा कि मैं सर्वसाधारण एक चैतन्यमात्र वस्तु हूं। जो अपने आप चैतन्यमात्र ही अनुभव करे वह न रुलेगा, निकट समय में ही उसकी मुक्ति हो जायगी। हमें न देखना है कि मैं

दयालु हूं अथवा न देखना है कि तपस्वी हूं। मुझे अपने ज्ञानस्वरूप का सिंचन करना है। यह सिंचन ज्ञान से होता है। ज्ञान की उपासना की तो भी यह ज्ञान होता है कि मैं ज्ञानघन हूं। यह दिखाने में, बनावट में, सजावट में, सोचने में न मिलेगा। उससे कीड़े बनते रहना होगा। अपने आप ही रमने का प्रयास करो। इसी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। इस रत्नत्रय के एकत्व में आत्मा के एकत्व का विकास है। यह एकत्वदर्शन चिंतामणिदर्शन है। इसके दर्शन बिना ही शरीर के क्लेशों का सम्बन्ध हो जाता है। यही ज्ञानमात्र स्वरूप हमारे और आपके उपयोग में रहे। यही आत्मा का रूप है। जिसने बाहरी पदार्थों में दृष्टि नहीं डाली, उसका ही जीवन में कल्याण है।

इस आत्मा में राग आदि विकार व्यक्त हो रहे हैं। उन रागादिकों के होते हुए भी आत्मा का स्वरूप जो ज्ञायकत्व है उस ज्ञायकत्व में विकार नहीं है। सफेद बल्ब में जैसे हरा रंग चढ़ा देने से वह प्रकाश हरा मालूम होता है, खूब हरा मालूम देता है। पर क्या वह हरा होता है ? नहीं। उसपर हरा रंग चढ़ा दिया गया है। जैसे जल है, जल में हरा रंग मिला दिया जाय तो क्या जल में हरा आदि रंग आ जायगा ? नहीं, जल जल ही रहेगा। जैसे बिजली के तार का प्रकाश हरे, नीले, पीले रंग के प्रकट होते हैं, पर क्या भीतर जो बिजली के तार का प्रकाश है वह प्रकाश क्या हरा, नीला, पीला होता है ? नहीं। कभी कोई तार भी हरा, नीला, पीला आ जाय और उससे फिर हरा, नीला, प्रकाश भी झलके तब भी बिजली का जो काम है, बिजली का जो निजी प्रकाश है, ज्योति है, क्या उस ज्योति में विकार आ जायगा ? नहीं आ जायगा। इसी प्रकार यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा इस शरीर देवालयमें विराजमान है। इस शरीर में कई प्रकार के रूप, रंग इत्यादि नजर आ रहे हैं। क्या इन पौद्गलिक पदार्थों से जीवों में विकार आ गया ? नहीं। अंतरङ्ग में क्रोध, मान, माया, लोभ, असंयम योग तथा नाना प्रकार के विकार होते रहते हैं। विकार हैं, पर इस आत्मा का जो स्वभाव है वह ज्ञानमय है। क्या उस ज्ञानमय स्वभाव में विकार आ गया। अरे विकार होते हैं, फिर भी यहां विकार नहीं होते, ऐसा मर्म जब आपकी समझ में आता है तब आत्मा के मर्म का पता चलता है। ५ सेर पानी में लाल, गुलाबी, हरा कोई रंग डाल दो तो वह सारा पानी बिल्कुल हरा, लाल या गुलाबी या अन्य कोई रंग का ही नजर आता है। यह पानी का रंग हरा, नीला, गुलाबी इत्यादि जो प्रतीत होता है तो वह पानीका

स्वरूप है क्या ? उस पानी के स्वरूप में हरा, पीला, नीला अथवा गुलाबी रंग आ गया। वह केवल रंग डालने से ही रंगीन नजर आता है, पर पानी का स्वरूप रंगीन नहीं। पानी अब भी अपने स्वरूप में स्वच्छ ही है, पर उस पानी की स्वच्छता रंग से ढक गई है। यह ज्ञायकस्वरूप भगवान अपने स्वरूप में स्वच्छ है, अपने स्वभाव में अधिकृत है, किन्तु इन विपत्तियों के सम्बंध से, इन कषायों के परिणामों से इस भगवान आत्मा का यह शुद्ध स्वच्छ स्वरूप ढक गया है। ढक गया है तो भी स्वरूप में विकार नहीं आया। स्वरूप में विकार आ गया होता तो त्रिकाल में भी यह विकार न मिट सकता था। पानी में रंग आ जानेपर भी कुछ समय बाद रंग बैठ जाता है और ऊपर पानी में पतला रंग मालूम होता है। कभी पानी बिल्कुल ऊपर स्वच्छ ही है। रङ्ग में रङ्ग है और पानी में पानी है। रङ्ग को घोल दें तो सारा रङ्ग दिखता है और वहीं का वहीं पानी में सारा पानी दिखता है।

अब घर की बात देख लो। घर में पिताजी अपनी धोती और साफा पीले रंग से रंगते हैं तो बोलते हैं कि साफा पीला कर दिया। साफा पीला हो गया, नीला हो गया, लाल हो गया, क्या धोती पीली हो गई, लाल हो गई, नीली हो गई क्या ? चाहे इनको बार-बार भीचें, फिर भी रंग नहीं निकले। तो भी रंग में रंग ही है, धोती में धोती है, वस्तु में वस्तु है। वह तो चीजें अपने स्वरूप को लिए हुए हैं। इतनी ऊपरी भेद की बातें भी मोही जीव कैसे पा सकते ? भींत में कलई पोती गयी तो भींत लगती है कि सफेद है अथवा यदि भींत में हरा रंग पोता गया तो लगता है कि भींत हरी है। भींत हरी नहीं होगी भींत भींत ही है, जैसी थी वैसी ही है। यह हरा रंग हरा हो गया है भींत हरी नहीं हुई। इतनी बाहर की भेद की बातें समझ में जल्दी नहीं आती हैं, पर कुछ तो समझ में आ ही रहा है। यह हरा रंग है, वह रंग ही है। भींत इसमें वही की वही है। लेकिन लोग इसको भूल गए हैं। वह समझते हैं कि भींत ही हरी है। भींत का आश्रय पाकर वह आधी वर्ग इंच का रंग का ढेला १ हजार वर्ग गज में फैल गया। पर देखने वाले लोग यह समझते हैं कि भींत हरी है। पर ऐसा नहीं है। भींत हरी नहीं है, रंग ही हरा है। भींत तो भींत ही है।

ऐसे अनेक उदाहरण ले लो। अब भाई धीरे से अपनी आत्मा की ओर आवो। शरीर में यह जीव बद्ध है। पर जीव इस प्रकार नहीं होगा जैसा कि यह शरीर है। बुद्धिमत्ता है तो अपने ज्ञानस्वरूप में ही दृष्टि देकर परख लो कि हम हम ही में हैं।

गाय को जेवरी से बांध दिया। लोग देखते हैं कि गाय को इस जेवरी से बांधा है। गाय का गला रस्सी से बांध दिया गया है, पर गाय का गला पूरा ज्यों का त्यों है। वह रस्सीसे नहीं बंधी है। उसके गलेके चारों ओर रस्सी लटकी है, उसके चारों ओर जो रस्सी है उसका ही एक छोर दूसरे छोरसे बन्धा है, पर एकदमसे ऐसा लगता है कि गला रस्सी से बंधा है। अरे गले में गला है, रस्सी में रस्सी है। रस्सी का यह बन्धन है गले का बन्धन नहीं। देह में देह है। शरीर में आत्मा का बन्धन नहीं है। मैं आत्मा स्वरूप को देखूं तब तो जान पड़े कि आत्मा में कुछ बन्धन नहीं है। जरा बाहर देख तो लो फिर वही विकल्प आता है कि मैं देह में बंधा हूं। अरे बाहर न देखो। अपने आनन्द-घन स्वरूप को देखो तो अपना स्वरूप अपने में मिलेगा। बहुत विकल्प, कषायें होते हैं यह काम मेरा रह गया है, इसमें टोटा पड़ गया है, इसमें यह करना है, पुत्र, स्त्री तथा परिवार को नहीं छोड़ते हैं, उनको ही अपना सर्वस्व देखते हैं, विपत्तियां उठाते हैं। अरे तू केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, सबसे निराला, ज्ञानघन अपने को निरख। तू एक पदार्थ है जिसमें वही वही है यह तो एक पदार्थ है और ज्ञानस्वरूप परिणाम रहता है, जहां विकल्प एक नहीं है। ऐसा यह स्वयं स्वरूप है। चमड़े की आंखें खोलकर यदि अपने से बाहरको देखोगे तो उतनी ही विपदाएं आयेंगी। सर्वज्ञदेव तो कहते हैं कि उन प्राणियों के रागादिक भाव जब होते हैं उस समय भी आत्मा का जो स्वरूप है, स्वभाव है, ज्ञायकत्व है उसमें विकार नहीं होते हैं। मैं शुद्धस्वरूप हूं—यह दृष्टि जो हो तो आते हुए विकार भी खत्म हो जायेंगे और यदि शुद्ध स्वभाव में दृष्टि नहीं है तो समझो कि विकार बुलाए जा रहे हैं। ख्याल में ख्याल रक्खो तो ख्याल होता चला जायगा और अगर उस ओर से मुड़कर किसी आराम के स्थानपर उपयोग लगाया तो वह बस ख्याल होते हुए भी भूल जाय। तात्पर्य यह है कि आत्मा के स्वभाव में रागादि दोष नहीं हैं। जैसे कोयले की आग जल रही है और उसी में गंधक लोभान भी डाल देते हैं। गंधक लोभान डाल देने से हरे, पीले रंग की लौ निकलती है। उस हरी नीली लौ के होने से क्या अग्नि हरी नीली हो गई ? अग्नि तो इस उष्ण प्रकृतिमय सदा एक स्वरूप है। चाहे उसमें लौ हो या न हो या किसी रंग या आकार का हो, इससे क्या ? प्रत्येक परिस्थितियों में अग्नि एक समान ही है। इसी प्रकार कर्मों के विचित्र सम्बन्ध से इस आत्मा में क्रोध आता है, मोह आता है, माया आती है, नाना प्रकार के विकार, नाना प्रकार के विकल्प छाये रहते हैं। इतने पर भी इस भगवान आत्मा के स्वरूप को देखो

तो वह सदा एक ही स्वरूप है।

यह बात सुनने में समझने में थोड़ी आती भी हो तो भी इस बात का पता लगाए बिना उत्थान का मार्ग नहीं मिलेगा। और-और प्रकार से तो धर्म के मार्गपर चलकर ही जहां का तहां अन्य उपायों से तो मात्र कल्पित संतोष प्राप्त किया जा सकता है। जैसे गर्मी के दिनों में रात के समय में समुद्र के पास एक नदी के किनारे खड़े हुए जहाज या बड़ी नाव में कुछ मनुष्य बैठ गये। जहाज या नाव रस्सी से खूंटे में बंधी हुई थी। उसको खूंटे से खोला नहीं और उस पर बैठ गए। नाव को वे खे रहे हैं, ताकत लग रही है, परिश्रम लग रहा है। दो-तीन-चार घंटे तक नाव चली, ६ घंटे तक चली, सवेरा हो गया। सोच रहा था मन ही मन में कि अब चार मील पहुंच गए हैं, अब ६ मील पहुंच गए हैं, अब मैं अपने गांव के किनारे लिए जा रहा हूं, खुश हो रहे थे। जब सवेरा हुआ तो देखा कि नाव अपनी ही जगहपर स्थिर है। बोले अरे भूल हो गई। बहुत परिश्रम किया, ताकत लगाया, पर नाव वहीं की वहीं रही। क्या किया कि खूंटे से रस्सी खोली ही न थी।

इसी प्रकार से धर्म की बातें सोचकर बहुत-बहुत बातें कर डालीं। ४०-५०-६० वर्ष बहुत-बहुत बातें कर लीं। इस तरह से बहुत श्रम करनेपर भी जब हम अपने को पाते हैं तो हम में अशांति ही नजर आती है। उस २४ घंटे के समय में कोई लक्षण ऐसा नहीं नजर आता कि वह धर्म करता हो। यदि ऐसा समय आ जाय तो उसे शांति मिलती है। अपना स्वरूप तो देखो—यहां सब कुछ है, कृतार्थ हूं, स्वरूपवर्तन के अतिरिक्त मेरे को कुछ करने का नहीं है। लेकिन मोह के खूंटे से उपयोग की रस्सी बंधी हुई है उसे खोला नहीं है। हमारे १० लक्ष हैं, हमारे महल हैं, हमारे यही परिवार के लोग सब कुछ हैं, परिवार में दो-चार लोग हैं वही सबसे बढ़कर हैं। भगवान की उतनी कदर नही है जितनी कि बच्चों की है। उनका जो कुछ सर्वस्व है वही दो-चार लोग हैं। परमपवित्र ज्ञान जिसके दर्शन से मिलता है उस स्वरूप का दर्शन ही नहीं हुआ। वह अपना आया कैसे ? अनेक काम कर डाले, बड़े-बड़े प्रयत्न कर डाले और बड़े प्रयत्न करके भी जगत में जहां के तहां रह जाते हैं, किन्तु आत्मशान्ति, आत्मीय आनन्द के लिए जो यत्न करना चाहिए उस यत्न के लिए तैयार नहीं होते। करते हैं पर तैयार नहीं होते। जैसे उपयोग में कोई जमा ले जाता है कि हमको तो यह दूकान करनी ही है। इस तरह जम करके यह बात नहीं आई कि हमको तो आत्मशांति लेनी ही है।

मुझे तो आत्मकल्याण करना ही है। इस तैयारी के साथ भाव उत्पन्न हुआ हो तो यह सब अपने स्वरूप की बात यहीं बहुत जल्दी सुगमतया अन्तर में बैठ जाय। देखो यह आत्मा या स्वरूप जो केवल ज्ञानरसमय है, जानन-जानन ही जिसकी पूरी बौडी है। विचित्र जगत के सब पदार्थों का सार यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा है। इस आत्मा में न विकार हैं, न विपदाएं हैं। स्वरूप की बात यह है पर सत् के इस पिंड की बात यही सब सामने है। क्रोध है, माया है, लोभ है, शरीर तो केवल चल रहा है, ये सब सत्‌पिण्ड में हैं, पर स्वरूप में नहीं चल रहा है। हां केवल स्वरूप को पूरा पिंड मान लिया तो एक ब्रह्मवाद निकल आया है। मैं निर्विकार हूं। ठीक है, स्वरूप से निर्विकार हूं, किन्तु इस पिण्ड में परिणमन तो निरन्तर चल ही रहा है। पानी गर्म हो गया है, पानी में बहुत गर्मी आ गई है, पर पानी के स्वभाव में गर्मी है क्या ? पानी के स्वभाव में गर्मी नहीं है।

इतनी बात सुनकर कि पानी के सत्व में गर्मी नहीं है कहीं उस खौलते पानी को पी लिया जाय तो पता चल जायगा कि पानी के स्वभाव में गर्मी नहीं है, पर इस पिण्ड में तो है। अभी कोई गर्म पानी को पी ले तो बोलता है कि हाय जीभ जल गई। कहता है कि यदि पानी स्वभाव से गर्म नहीं होता तो मैं जल कैसे जाता ? इसका पता लगाने के लिए ज्ञानी से मालूम कर। पानी के पिण्ड में गर्मी है, पानी के स्वभाव में नहीं। बस इतने ही अन्तर से बेदांत के व स्याद्वाद के स्वरूप में अन्तर है। इस ज्ञायक-स्वरूप में विकार कहां है ? जिस स्वरूप में विकार नहीं है ऐसा ही ज्ञायकमात्र मैं हूं। मैं आत्मा अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप हूं।

हे आत्मन् ! तू परमें दृष्टि न लगा, पर मिट जाने वाले हैं। तू मिटने वाली चीजों का विश्वास करता है। पर में दृष्टि लगाने से दुःख होगा। अभी घर में दादा के गुजरने से, बाप के गुजरने से, बच्चों के गुजरने से दुःख होता है। क्यों दुःख होता है। क्यों दुःख हो ? यों दुःख होता है कि उनमें बाबा, बच्चे वगैरा के बारे में यह निर्णय किया था कि ये सब अमिट हैं। जब तक उनके मनमें यह नहीं आया था कि जो समागम होता है वह मिटेगा ही। सो अगर कोई कह देता है कि क्या बाप जी मर जावेंगे तो कहेंगे कि कैसे तूने सोच लिया अपशकुन की बात। अरे यहां पर जो कुछ है वह सब मिटेगा। शिकारी आदमी को कोई अगर साधु मिल जाय तो उसे बड़ा गुस्सा आयगा। शिकार के लिए साधु का दर्शन अपशकुन हो गया। मोहियों के लिए ज्ञानी

और वैरागी तो अपशकुन है। यदि सत्यस्वरूप को देखा जाय तो समझ में आता है कि शकुन तो ज्ञान और वैराग्य ही है। मोह सम्बन्ध तो अपशकुन ही है। यदि तूने अपना समय अपशकुन में ही व्यतीत किया तो कष्ट तो लगेगा ही। यदि अपने स्वभावशकुन में उपयोग दिया तो तेरे में है तू है ही, तुझे कष्ट नहीं होंगे। जहां पर ज्ञानदृष्टि होगी वहां पर दु:ख नहीं होंगे। अनित्य में अनित्य की दृष्टि होनेपर वह पदार्थ मिट जाय तो वह ज्ञाता रह सकता है। वह तो यही कह उठेगा कि देखो वही बात हो गई ना जो हम पहले समझते थे।

अरे वही तो होगा जो हम समझते थे। किसी सौदे के खरीदने में यदि तुरन्त अनुभव हो जाय कि इसमें तो ठग गए। १० हजार का खरीदा हुआ बेचने से ६ हजार का पड़ता है तो इतने की हानि हो रही है। वह इस सौदे को वर्ष भर रखकर बेचता है और उतना टोटा पड़ता है तो पड़ो, परन्तु इससे उसे दु:ख नहीं होगा, क्योंकि वह समझता है कि इसे एक वर्ष पहले खरीदा था, तब भी यह टोटा था। देखने सुनने का ही आत्मा के भीतर कितना कमाल हो गया ?

यह प्राणी अनित्य को नित्य समझे तो जब हम मरते हैं तब हम रोते हैं। इस असार शरीर को जब हमने सार ही समझ लिया तब रोते हैं। असार चीज को हमने सार समझा, तब रोते हैं। दूसरे की चीजों को हमने अपनी समझ ली या तब रोते हैं। असत्य को सत्य समझ लिया इससे हम रोते हैं। वहां पवित्रता नहीं है, जहां मोह है। लेकिन कहते क्या हैं कि नाली गंदी है, यह पानी गंदा है, सड़ा हुआ है, उससे बदबू आतीं है अर्थात् इसमें बहुत से गंदे पदार्थ पहुंच गए हैं अतः गंदगी है। सड़े गले मांस की तथा अन्य बाह्यपदार्थों की वह गंदगी कैसे हो गई ? सोचो तो सही पहले तो इस गंदगी में मिष्ठान्न के टुकड़े थे, बर्फी थी, बूंदी थी, लड्डू थे, परन्तु अब वह तो विष हो गया, अब वह गंदगी बन गयी। अब जो गंदगी की शक्ल है वह भी पहले एक साफ पिंड थी और उसके पहिले देखो तो वे अणुस्कन्ध थे, आहारवर्गणायें थी। उनसे भी पहले परमाणु-परमाणु थे उन स्कन्धोंपर जब इस आत्मा ने कब्जा कर लिया उन्हें ग्रहण कर लिया तो ये शरीर की शक्ल बन गये वे बनकर इस शक्ल में आ गये हैं। इन सब बातों का मूल कारण क्या है ? इनका मूल में कारण यह हुआ कि इन परमाणुवों में आत्मा का कब्जा हुआ, जीव का सम्बन्ध हुआ, तब उन्हें ये विचित्र शक्लें मिली। जब तक इस पिण्ड के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हुआ तब तक सब पवित्र था। आत्मा

से सम्बन्ध होनेपर, मोही आत्मा से सम्बन्ध होनेपर इन वर्गणावों की ऐसी प्रगति होने लगी। अब देखो इसका मूल अशुद्धिकारक कौन हुआ ? ये सब गंदगियां अशुद्ध हैं किसके प्रसाद से ? जीवों के संपर्क के प्रसाद से, जीवों के नहीं, मोही जीवों के। तब मोह ही तो मूल हुआ। देखो लोक में जो लड़का अशुद्ध हो जाता है उसको छूते तो नही हैं। बाहर रहो, बाहर रहो, कहीं छू न लो। यदि उस लड़के ने छू लिया तो अशुद्ध हो गए, दिल में अशांति हो गई। दूसरे ने तीसरे को, तीसरे ने चौथे को छू लिया, जहां तक नजर चलती है वह सब अशुद्ध ही होते चले जाते हैं। यह क्यों अशुद्ध हो गए ? उसने हमें छू लिया। उन सबमें मूल खराब है केवल एक लड़का। अरे यह लड़का तो शुद्ध है किन्तु हो गया जठराग्नि से सम्बन्ध। यह जठराग्नि कैसे बनी ? मोही जीव के सम्बन्ध से। लो, जठराग्नि भी हो गई, जीव का सम्बन्ध होने से। अब सब गंदी शक्लें बनने लगीं। अब मूल कारण का विचार करें तो मूल में क्या अशुद्ध है ? किस वजह से सारी चीजें अशुद्ध हो गयीं। अरे रागी जीव ने कब्जा किया तो यह अशुद्ध हो गया। जीव के सम्बन्ध से यह अशुद्ध नहीं हुआ, किन्तु राग के सम्बन्ध से यह अशुद्ध हो गया। फिर यह राग हुआ क्यों ? यह अशुद्ध राग बना क्यों ? अरे मिथ्यात्व की वजह से यह अशुद्ध राग बन गया। दुनिया में सबसे गंदा होता है मोह। क्या मांस से गंदा है ? हां मांस से भी गदा है, खाद से गदा है तथा अन्य अशुचि पदार्थों से भी गंदा है। हां, हाँ सब पदार्थों से गदा है। गंदगी जो है उसका करने वाला भी यह मोह ही है। मोह है, मोह का सम्बन्ध जीव से है तो राग पैदा हुआ। तो राग तो मोह-परिणामों से हुआ। शरीर बन बैठा तो यह मोह। दुनिया में जो गंदी चीज है तो केवल एक मोह है और कोई दूसरी चीज इस दुनिया में गंदी नहीं है। जिस मोह ने इस समस्त जगत को गंदा कर दिया उसका महत्व इतना है कि भगवान भी छूट जाय, धर्म भी छूट जाय, सबसे मुंह मुड़ जाय, पर मोह से मुख नहीं मोड़ते। यही वजह है कि हमारे धर्म के प्रयत्न तो होते हैं, धर्म की बात चलाते तो हैं, किन्तु उपयोग की रस्सी मोह की खूंटी से गड़ी हुई है। ४० वर्ष तक धर्म किया, पूजा किया, सेवा किया—५० वर्ष तक, परन्तु आज हम उसी जगह पर हैं। कषाय में फर्क नहीं पड़ा। वह सहज उजेला नहीं मिल सका। यही चीज समझने की है कि इस आत्मा के ज्ञायकस्वरुप में क्या विकार है ?

मैं ही तो मैं ही ज्ञानमय हूं, ज्ञानमय होना ही मेरा स्वभाव है। ऐसा ही मैं शाश्वत निश्चल हूं। यही मैं साक्षात भगवान् हूं। भगवान होने के लिए बाहर से कुछ

नहीं आता । मैं तो बना बनाया भगवान् हूं, मेरे में विषय कषाय नहीं है विषय कषायों को ज्ञानदृष्टि की छेनी से काटकर बाहर कर देना है और फिर है बना बनाया प्रभु। जैसे पत्थर की मूर्ति बनाई जाती है तो पत्थर से जो कारीगरों ने मूर्ति तैयार की। उसमें केवल बाहरी ढकने वाले पत्थर काट दिये, मूर्ति तैयार हो गई। कुछ बाहर से मूर्ति तो नहीं रची । इसी प्रकार से मूर्ति को तैयार कर लेते हैं अन्य काम नहीं करने पड़ते हैं । यह मूर्ति वही तैयार कर सकता है जो कुशल कारीगर है । जो मूर्ति पहले थी वह अब भी है । जरासा ढकने वाले पत्थरों को काटकर हटा दिया, मूर्ति तैयार हो गई । इसी प्रकार इस आत्मा में भगवान बनने के लिए कुछ नहीं बाहर से लाना है । केवल ज्ञान स्वरूप को ढकने वाले जो विषय कषायों के परिणाम हैं उन विषय कषायों को ज्ञान-छेनी से बाहर करना है । यह स्वरूप कृतकृत्य है । दूकान करने को पड़ी है, यह नहीं चलेगा तो इसके बिना गुजारा नहीं है । ऐसा कुछ नहीं है । विषय कषायों की गंदगी को हटाकर इस ज्ञानस्वरूप से भगवान के स्वच्छ व सही दर्शन तो कर लें, इसको कर लें और अगर न कर सका तो जहां के तहां मौजूद मिलेंगे । हे संसारी प्राणी, हे ज्ञानानन्दघन आत्मन्, तू दुखी क्यों हो रहा है, विवश क्यों हो रहा है ? अपने स्वरूप को तो देखो । तेरा तू ही है, एक ज्ञानघनरस, आनन्दपुञ्ज है । तुम्हारा आनन्दस्वरूप ही है । दुःख तो तूने कल्पनाएं करके बनाये हैं । स्वभाव में तो आनन्द ही बना हुआ है । तेरा स्वरूप चतुष्टय तुझ में ही है, तेरा उत्पाद व्यय ध्रौव्य तुझ में ही होता है । पदार्थों का अपना-अपना स्वरूप उन ही उन ही में है । अन्य पदार्थों का दूसरे पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । किन्तु जब यह चैतन्यमय ज्ञानमात्र वस्तु बाह्य पदार्थों में कल्पनाएं करता 'यह मैं हूं' यह मेरा है' बस इन कल्पनाओं से दुःख उत्पन्न होने लगता है । दुःख का मूल दृढ़ नहीं है । एक केवल भ्रम से बाह्य में आ जाने से, अध्रुव का आश्रय मान लेने से, असत्य को सत्य मान लेने से क्लेश उत्पन्न होते हैं । क्लेशों का मूल दृढ़ नहीं, परन्तु हिम्मत करना नहीं तथा अपने आपके स्वरूप में ही आपा बुद्धि रखना नहीं । और क्लेश यों ही मौज करते-करते खतम हो जायें सो कैसे हो ? सबसे न्यारा विज्ञानघन एक निजी आत्मतत्त्व मैं समझूं तो सारे क्लेश समाप्त हो जावेंगे, तेरा न्याय तू ही है । तेरा न्याय करने वाला कोई दूसरा नहीं है, तेरी पुकार का सुनने वाला कोई दूसरा नहीं है । तेरी प्रभुता तेरे में ही है, तू ही अपनी पुकार को सुन सकता है, तेरी आवाज तेरा प्रभुत्व ही सदा सुनता रहता है अर्थात् जैसे परिणाम

उत्पन्न होते हैं वैसे ही इस प्रभु आत्मा में परिणतियां होती चली जाती हैं। तेरा निर्णय तुझ में है। तू अन्यत्र दृष्टि मत कर। तूने अन्यत्र दृष्टि बहुत की, इसी की वजह से दुःख होते आ रहे, यह मेरा स्वभाव नहीं है। परको तो महिमान जान। महिमान कहते हैं उसे जिसकी कोई महिमा न हो, आते हो तो आओ, न आते हो तो चले जाओ। ऐसे ही मेहमान होते हैं, जिनके प्रति लोग कहते हैं कि इसकी चाहे यह बड़ा भी हो मेरे यहां महिमा नहीं है। तू अपने ज्ञानस्वरूप को देख। और कर्मों के स्वभाव से उत्पन्न हुए भाव, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि यह तेरे स्वभाव में नहीं है। तू तो निश्चल, एक ज्ञानस्वभावमात्र है। तू अपने को ज्ञानस्वरूप ही अनुभव कर। जैसे कोई पुरुष है इसके मित्र हैं, मैं उसका मित्र हूं, इस तरह से जो अनुभव करता है, जिनको मित्र माना है, जिनको वैभव माना है उन्हीं से उसे क्लेश होते हैं और उन क्लेशों से उसे रंज होता है, दुःख होता है। इसी प्रकार यह किन्हीं पदार्थों को अपना मान लेते हैं तो इस बिगाड़ से ही उसे दुःख उत्पन्न होता है। इन रागात्मक भावों को तू अपना मान लेता है तो दुःख उत्पन्न होता है। भेदविज्ञान की चरमसीमा यह है कि तू अपने औपाधिक भावों को अपने आपसे न्यारा समझ। यह धन वैभव तो प्रकट न्यारे दीखते हैं। मकान है, देखो यह तो प्रकट ही न्यारा दीखते हैं। यह मित्र तो प्रकट न्यारा दीखते हैं। परिवार के लोग भी जुदा-जुदा हैं। और इसी आत्मभूमिका में जो अष्ट प्रकार के कर्म-बन्धन बंधे हुए हैं वे भी इस आत्मा से जुदे हैं। पुद्गल कहलाते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं, वह सब भी न्यारा है। इस आत्मा में जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं से सुख व दुःख उत्पन्न होते हैं। अच्छा जरा परीक्षा तो करो कि विकार न्यारा है कि नहीं। एक दृष्टि से देखते हैं तो वह न्यारा नहीं जंचता है। मेरा द्रव्य ही तो इस समय यों परिणमता है। जब इसके कारण देखते हैं तो यह जुदा समझ में आ जाता है। यह विकार मेरा नहीं, यह मेरे स्वभाव के कारण नहीं हुआ। रागादिक भाव मेरे स्वभाव से उठकर नहीं होते, किन्तु कर्म के उदय का निमित्त पाकर झलके होंगे। जिन महात्माओं ने, जिन सौभाग्यशाली पुरुषों ने इस निराले तथा चैतन्य चमत्कारमात्र स्वरूप को पहिचाना है वे आनन्दमय हैं और जिन्होंने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना है वे प्राणी संसार में रुलते हैं, रोते हैं। ऐ रोने वाले प्राणियों ! व्यर्थ में दुःखी हो रहे हो, व्यर्थ में विवश हो रहे हो। तेरी सहायता करने वाला संसार में कोई है क्या ? तेरेको दंड देने वाला कोई दूसरा इस जगत में है क्या ?

तेरा अहित करने वाला, तेरे पहिचानने वाला, तुझे मुक्ति में ले जाने वाला, तेरे को इस संसार में भटकाने वाला कोई दूसरा इस जगत में है क्या ? कोई नहीं है। आप तो परिणाम करते हैं और ये क्लेश अपने में ही ओटोमेटिक बनते चले जाते हैं। इन दुःखों से बचना है तो अपने स्वरूप को देखो। दूसरा कोई उपाय नहीं है। धर्म का पालन इसी को कहते हैं। धर्म बाहर नहीं, वेश-भूषा में नहीं, नाना स्थानों में नहीं, नाना पद्धतियों में नहीं। केवल निज सहज स्वभाव में 'यह ही मैं हूं' ऐसा मान लेने से, ऐसा अंगीकार कर लेने से, ऐसी दृष्टि बना लेने से धर्म का पालन है। इस ही बात के लिए यह व्यवहार धर्म है। सत्संग करते हैं किस प्रयोजन के लिए कि हमारी दृष्टि ऐसी बनी रहे कि हम धर्म के पालन के योग्य बने रहें। इसके लिए सत्संग किया जाता है। उपकार सत्संग जो किए जाते हैं इसलिए किए जाते हैं कि मेरी बुद्धि ऐसी व्यवस्थित रहे कि मैं अपने स्वभाव के दर्शन करने के लायक बना रहूं। अपने स्वभाव के दर्शन करना सोई धर्म का पालन है। दुःख तो कल्पनाओं से बनाया गया है। कोई भी दुःख हो रहा हो, यही निर्णय कर लो कि और कुछ नहीं है, केवल कल्पनाएं बनी रहीं। बस इसी से दुःख होता रहा है। इन कल्पनाओं का बना लेना, इसी का नाम दुःख है। जैसे न तो टोटा पड़ा है, न विपत्तियां आती हैं, न हमारे लिए कोई अनर्थ की योजना कर रहा है। केवल कल्पनाएं बना बैठा होऊं कि हमारे अनर्थ के लिए कोई योजनाएं कर रहा है। वहां कुछ नहीं हो रहा है, वहां अपने हित की ही बात बन रही है और मन में कल्पनाएं कर लीं कि मेरी हानि के लिए योजनाएं ये बना रहे हैं तो इसी से दुःख होता है। बाह्य पदार्थ हैं, हैं, वे अपने आपमें परिणमते हैं। हम ऐसे हैं, वह वैसे हैं, इस प्रकार से वस्तुस्वरूप के अनुकूल विचार चलें इससे उन्हें आनन्द है। सुख और दुःख कहीं बाहर से नहीं आते हैं। जैसी भावना है वैसे ही दुःख तथा सुख हैं। वस्तु है किसी दूसरे प्रकार की और मान लेना उसे भिन्न प्रकार की तो दुःख होगा ही और वस्तु जैसी है तैसी मान लें तो सुख होगा। वस्तु का स्वरूप जैसा है तैसी बुद्धि बने तो सुख है। चाहे बाहर की नरकगति के दुःख भी भोगे जा रहे हों, किन्तु यदि आत्मा में मिथ्यात्व नहीं है तो आत्मा में सुख है, कोई क्लेश नहीं है। और अन्तर में सम्यक्त्व नहीं है तो उसकी आकुलता बराबर लगी चली जाती है। सम्यक्त्व बराबर सुख को पैदा करता है और मिथ्यात्व सदा आकुलताओं को पैदा करता है। जैसा है तैसा ज्ञान हो जाना, जैसा है तैसी समझ हो जाना, यही ज्ञान है। ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि असंयम के काम

करता है, चरित्र के प्रतिकूल भी चलता है पर जैसे पतंग उड़ाई गई, पतंग कितने ही ऊपर पहुंच गई है तो डोर तो अपने हाथ में है, वह पतंग कहीं बाहर नहीं जा सकती है। इसी प्रकार सम्यक्त्व है तो चाहे उपयोग थोड़ा भ्रम की ओर हो जाय, विचलित हो जाय, यहां वहां पहुंच जाय तो वह सब सम्यग्दृष्टि के आधीन बात है। वह अपने उपयोग को शीघ्र अपनी ओर बना सकता है। होता भी ऐसा ही कि श्रद्धा तो सही है, फिर भी मार्गपर नहीं चल पाता। कौन नहीं जानता कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह संसार में भटकाने वाले हैं। इनकी निवृत्ति होनेपर भलाई है, फिर भी लोगों को कुछ समय तक करना पड़ता है। पर यदि श्रद्धा है तो पाप कम हो जाते हैं।

जैसे सामने अग्नि पड़ी है। एक पुरुष को जबरदस्ती ढकेलकर कहा जा रहा है कि आगपर चलो तो वह पैरों को आग में ऊपर-ऊपर रखकर निकल जायगा। पर एक ऐसा आदमी जिसके पीछे अग्नि पड़ी हुई है और कहने से नहीं, किन्तु किसी कारण पीछे पैर रख लेता है। इन दोनों पुरुषो में जरा बतलाइए कि अधिक कौन जलेगा ? जिसने पीछे बिना प्रेरणा के पैर रख दिया है, उसको पता नहीं था तो वही अधिक जलेगा। उसको आग का पता न होने से जल्दी उठने का परिणाम भी नहीं है, सो अधिक जल गया और जो सामने देख रहा है वह जल्दी-जल्दी पैर रखकर निकल जायगा। इसी प्रकार जिसको ज्ञान है, श्रद्धान है, वैराग्य है, फिर भी कोई परिस्थिति आती है जिससे कुछ प्रतिकूल चलना पड़ता है। पर प्रतिकूल चलने पर भी उसके विपरीत खिंचा हुआ रहता है। जिसमें ज्ञानस्वरूप नहीं, विषयों में आसक्ति है, उसके कर्म बन्धन विशेष है। ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं होती, इससे वह मोक्षमार्गस्थ है। एक कुत्ता जानवर होता है, वह बड़ा स्वामिभक्त होता है, आज्ञाकारी होता है। २ रोटी के टुकड़ों में ही २४ घंटे पहरा देता है। अपनी पूंछ हिलाकर बड़े प्रेम से अपने मालिक को बड़ा प्रेम दिखाता है। देखो कुता कितने काम आता है ? चोरों से बचाने के लिए रखवाली करता है, कोई उपद्रव मालिक पर आ जाय तो शीघ्र कुत्ता अपने मालिक का उपकार करने के लिए तैयार हो जाता है। एक सिंह को देखते हैं तो दिल दहल जाता है। किसी किसी का तो हार्ट फेल हो जाता है। कोई-कोई तो शेर से डरकर मर जाता है। कितना अहित करने वाला यह शेर है ? क्यों जी जो उपकारी है, जो भला है उसकी उपमा देना चाहिए या नहीं। अच्छे पुरुष किसी सभा में खड़े हो जाएं और कहें कि फलाने भाई तो बहुत उपकारी हैं, इनका कहना क्या है ? यह बहुत

ही उपकारी एवं धर्मात्मा है। यह तो एक कुत्ते के समान हैं। इनकी बड़ी भव्य आत्मा है। यह बड़े उपकारी हैं। और उसी को या अन्य किसी को यह कह दिया जाय कि यह शेर के समान है (यानी दूसरों की जान लेता है)। ऐसा नाम सुन करके वह खुश हो जायगा। पर इसका बुरा अर्थ होता है।

यदि किसी व्यक्ति को यह कह दिया जाय कि यह व्यक्ति कुत्ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह व्यक्ति कुत्ते के समान स्वामिभक्त तथा आज्ञाकारी है। यह अंतर किस बात का आ गया ? यह आध्यात्मिक मर्म को बताने वाला अन्तर है। अगर कोई कुत्ते को लाठी मारता है तो उस लाठी को कुत्ता चबाने लगता है। वह समझता हैं कि मेरा दुश्मन यह लाठी है। मेरा अहित करने वाली यह लाठी है। यह हुई निमित्तदृष्टि अर्थात् निमित्त ही मेरा सब कुछ करने वाला है। ऐसी दृष्टि हुई कुत्ते की जैसी दृष्टि। उसको यह पता नहीं चल पाया कि मेरा दुश्मन लाठी नहीं है बल्कि यह पुरुष है, जबकि शेर को कोई लाठी, तलवार से मारे तो शेर यह नहीं समझता है कि मेरा दुश्मन लाठी और तलवार है बल्कि वह यह समझता है कि यह व्यक्ति ही मेरा दुश्मन हैं, इसलिये वह शेर उस पुरुषपर ही हमला करता हैं। एक की दृष्टि है कि मेरा दुश्मन लाठी है और दूसरे की दृष्टि है कि मेरा दुश्मन पुरुष है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है। ज्ञानी देखता है कि धन, वैभव, परिवार किसी में मेरा सुख नहीं है। मेरा सुख मेरे अन्तर से उठता, परन्तु अज्ञानी यह देखता है कि धन, वैभव, कुटुम्ब, परिवार आदि में ही सुख हैं। ज्ञानी यह सोचता है कि बाह्य पदार्थों से सुख नहीं होता, पर अज्ञानी यही सोचना है कि बाह्य पदार्थों पर ही सुख दुःख निर्भर हैं। अज्ञानी जीवने अपनी प्रभुता को बरबाद कर दिया है। वह सोचता है कि यदि प्रपंच, परिवार, सदस्य तथा अमुक को मैं न देखूंगा तो मेरा नुक्सान है। परन्तु नुक्सान है—इसी बाह्य दृष्टि में यह आत्मा पूर्ण स्वच्छ हो तो दुःख नहीं होंगे। एक पुरानी घटना है कि वज्रदंत चक्रवर्ती जब फूल में मरे हुए भंवरे को देखते हैं तो देखकर विचार करते हैं कि यह भंवरा फूलकी सुगंधमें आसक्त होकर इस फूलमें ही छिपा और मर गया। कोई फूल ऐसे भी होते हैं कि दिन में तो खुले रहते हैं और शाम होते ही बन्द हो जाते हैं। भंवरा मकरंदरस चूसने के लिए बैठ गया शामको और उसी फूल में बन्द हो गया। जिस भंवरे में इतनी ताक़त है कि काठ में छेद कर सकता है। एक ओर से छेद करके दूसरी ओर से निकल जाता है। फूल की उन कोमल-कोमल पंखुड़ियों में आसक्त होकर भंवरा

मकरंद रस का पान करता है और वहीं मर जाता है। इसी तरह आत्मा में तो अनंत शक्ति है, आनन्द शक्ति है, केवलज्ञान की शक्ति है। परन्तु विषयों में आसक्त होकर अपने ज्ञान प्राण को बरबाद कर रहा है। आत्मा में क्लेश या आनन्द केवल जानने की कलापर निर्भर हैं। लो, शरीर को देखो, आनन्द खत्म हो गया और लो ज्ञानस्वरूप देखने में उपयोग बन गया, तो आनन्द प्रकट हो गया। ऐसी महान् चमत्कार की कला से युक्त यह भगवान आत्मा है।

यह प्राणी बाह्य दृष्टि करके कि मुझे तो बाहरी चीजों से आनन्द मिलता है, बाहर में ही आसक्त होकर बाहर-बाहर ही घूमता है। इस प्रकार का प्राणी बाहरी पदार्थों को नहीं छोड़ सकता है। यह भूला हुआ प्राणी भ्रम में ही रहकर अपना आत्मबल खो देता है और बरबाद हो जाता है। ऐ प्राणी ! क्यों दुखी हो रहे हो ? तेरा तो स्वरूप भगवान का है। तेरे में भी तो वही द्रव्य वही गुण है, ६ चीजें हैं। भगवान की आत्मा का तत्त्व शुद्ध ज्ञान के द्वारा आनन्दमय है, ज्ञानघन है। मेरे आत्मा का उपयोग अशुद्ध की ओर है, यही तो हो गया अंतर। चीज तो एक है जिसमें दुविधापन नहीं है। तो जैसा सुख का भण्डार प्रभु है वैसा तू है। परन्तु अपने आपको नहीं जानता है। इसी कारण बाहरी फंसाव में फंस रहा है। २४ घंटे के समय में २ क्षण को सबकी कल्पनाएं छोड़कर अन्तर में तो देखो। तू उत्कृष्ट ज्ञानानन्द का पिंड है। कहते हैं कि जीव हवा है। फूंक मारा उड़ गया। यह जीव हवा से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, शरीर से अत्यन्त जुदा स्वरूप वाला है। शरीर के अंदर है, इसमें निमित्तनैमित्तिक भावों का होना कारण है। नहीं तो शरीर से इतना संयोग होने की भी गुञ्जाइश नहीं, तेरे परिवार के लोग तेरे नहीं हैं जिनसे तू इज्जत चाहता है, यह तेरे नहीं हैं। तू तो चैतन्यस्वरूप एक वस्तु है। ऐसा सुख का भण्डार तू है। अन्तर भीतर में देखो और अपने में अपने लिए अपने आप देखते रहो।

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्।

एक समयसार ग्रन्थ अध्यात्म का एक ही ग्रंथ है, जिसमें अध्यात्म पद्धति से आत्मा को स्वरूप बताया है। उसमें आत्मा का स्वरूप बताते-बताते उसका उपाय, भेद, ज्ञान कहते है। और शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन् ! तब तक भेदविज्ञान की भावना करो जब तक यह ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जावे। मैं ज्ञानमात्र हूं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। इस प्रकार सबसे निराला अपने आपके चैतन्यस्वरूप को देखो। यही काम

अभी पड़ा हुआ है। यही काम कठिन है, पूजा सरल है। अरे वहीं भैया अपना यह काम सरल है, पूजा कठिन है। पूजा में १० साधन जुटाने हैं। यहां क्या है? जैसे ही वैसा अपने को देख डालो, यह क्या कठिन है? धर्म का पालन यही है। बाही चीजें तो सहारा मात्र हैं, उनमें दृष्टि न दो। जैसे नीचे से ऊपर आने में जो सीढ़ियां हैं वे तो सहारा मात्र हैं ऊपर आने के लिये। सीढ़ियों से प्रेम नहीं कर लो। सीढ़ियां बहुत अच्छी हैं, बड़ी सुखद हैं, मैं नहीं छोड़ूंगा। अरे तू व छोड़ेगा तो वही पड़ा रहेगा, झाह्य तो तेरे सहायक हैं। पहली सीढ़ीपर कदम रखकर उसको छोड़ दें, दूसरी को छोड़ दे, तीसरी को छोड़ दे। ग्रहण किया है छोड़ने के लिए। ऐसा न चलो कि हम तो पहले से ही छोड़े हैं, पहले से ही छोड़े पड़े हैं। नहीं, ग्रहण करके छोड़ने की बात है। यहां कुछ छोड़ना नहीं। यथार्थ ज्ञान जो इसमें ही ज्ञान है, इसमें ही आचरण है, ऐसा स्वरूप वाला यह मैं निश्चल रूप से अपने आपमें रहूं और अपने आप सुखी होऊं। मैं क्या हूं, इस बात को समझने के लिए इस श्लोक में पांच बातें बताई गई हैं। पहली बात में कहा है कि यह आत्मा ज्ञानपिंड है। दूसरी बात में अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न बताया है। तीसरी बात में स्वभाव से निर्विकार कहा है। चौथी बात में स्वतन्त्र कहा है और पांचवी बात में सहज अनन्दमय दिखाया है। इन्हीं पांच बातों के विवरण से मनन कयनेपर आत्मा में यथार्थ बल बुद्धि हो जायगी। मैं ज्ञानपिंड हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। जैसे गर्मी ही अग्निका स्वरूप है वैसे ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। जैसे कोयला तिकोना, चौखूटा है, जलता है तो वह अग्नि का स्वरूप नहीं है। अग्नि का स्वरूप तो केवल गर्मी है। और बातें तो निमित्त पाकर होती हैं। यह मैं आत्मा ज्ञान का पिंड हूं, ज्ञान ही इसका स्वरूप है। ज्ञान रसमय हैं। यह आत्मा मच्छ के शरीर में इतना लम्बा चौड़ा हो गया और चींटी के शरीर में इतना छोटा हो गया। ऐसा छोटा बड़ा हो जाना, फैल जाना, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह तो निमित्त पाकर होता है। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान है। ज्ञानपिंड रह आत्मा है और अन्य से भिन्न है। मेरे अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं उन सबसे मैं जुदा हूं। यह अस्ति और नास्ति का जिक्र किया है। मैं मैं हूं, कुछ और नहीं हूं। हूं तो ज्ञानपिंड और मेरे अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब मैं नहीं हूं। इसी को कहते हैं एकत्व विभक्तत्व। तू एकत्व विभक्त, इसके अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है। वस्तु की पहचान स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना वस्तुओं से परिचय नहीं होता।

यह पीछी है, तो यह पीछी है और नहीं है। पीछी चौकी हो जाय, पीछी ही दरी हो जाय तो यह सत् नहीं हो सकता है। पदार्थ सत् कहलाते हैं तब जब अपने स्वरूप से हो और परके स्वरूप से न हो। यदि वह परके स्वरूप से न हो व निजस्वरूप से हो तब तो वह पदार्थ रह सकता है अन्यथा नहीं। पदार्थ तभी कह सकते हैं जब अपने स्वरूप से तो हों और परके स्वरूप से न हों। यह चौकी है, है, स्पष्ट दीखती है। यह चौकी अपने आपमें तो है, पर इससे अतिरिक्त जितनें पदार्थ हैं उन सब रूप नहीं है तभी तो यह पदार्थ है। इसी तरह अपने आत्मा की बात लगाइए। यह में आत्मा अपने स्वरूप से हूं और परके स्वरूप से नहीं हूं। अपने आपमें हूं, मैं अन्य जीव नहीं हूं, कोई पुद्गल नहीं हूं, अन्य किसी द्रव्यरूप नहीं हूं। वह मैं क्या हूं? इसके बारे में बताया है कि मैं ज्ञानपिंड हूं। आत्मा में ज्ञान ही का तो सारा वैभव है, ज्ञान का ही सारा कमाल है। ज्ञान ज्ञान ही तो आत्मा है, अमूर्त है, ज्ञान भावात्मक है, ऐसा ज्ञानरस इस आत्मा के साथ अन्य-अन्य भी गुण मालूम होते हैं। जैसे आनन्द है, श्रद्धा है, चारित्र है, परन्तु यह सब कुछ भी लगा रहता है। मानो ज्ञानधर्म के अस्तित्व की सेवा के लिए सर्व गुण हैं। सबमें प्रधान एक ज्ञानगुण ही है। जब हम आत्मा को पहिचानने चलें तो और-और बातों को देखकर हम आत्मा को न अनुभव में ला सकेंगे। जैसे सोचा कि यह मैं आत्मा कितना लम्बा चोड़ा हूं? तीन-चार हाथ का लम्बा, एक हाथ का चौड़ा, इतना ऊंचा, सोचते रहें, पर ऐसा सोचने से आत्मा का परिचय न मिल सकेगा। आत्मा का अनुभव न हो सका, आत्मा की पकड़ न आ सकेगी। यह मैं आत्मा कैसा हूं? अरे जो गुस्सा आ रहा है यह है आत्मा, दर्द का अनुभव है यह है आत्मा, त्याग है यह है आत्मा। सुख का, दुःख का, हर्ष का, मौज का अनुभव है तो यह है आत्मा। ऐसा सोचने से आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

तो है क्या आत्मा? अरे आत्मा में अनन्त शक्ति है और उस शक्ति के प्रति-समय परिणमन चलते रहते हैं। अनादि से परिणमन चला आया और अनंतकाल तक परिणमन चलेगा। परिणमन तो होगा पर परिणमन या शक्तिभेद की दृष्टि से परिचय नहीं हो सकता, आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसा पकड़ में नहीं आ सकता कि जिससे स्पष्ट पहिचान में आवे। अरे यह है आत्मा। जैसे हाथ में रखा स्वर्ण का ढेला है, पहिचान में आ जाता है कि यह है। एक ज्ञानदृष्टि से आत्मा को सोचो कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा है जो जानन का ही काम करता है वह ही आत्मा है। इतना ही

नहीं जानने की जो शक्ति है, त्रैकालिक जो ज्ञानस्वभाव है वह आत्मा है। इस तरह केवल ज्ञानस्वरूप को ही लक्ष्य में रक्खो तो ज्ञानस्वरूप ही लक्ष्य में रहते रहते यह लक्ष्य भी छूटकर ज्ञानमात्र आत्मा की ओर अनुभव हो जाता है। यह चीज प्रयोग की है। जितने शब्द कहे गए उतने शब्दों के सुनने से आत्मा का अनुभव नहीं। इतना बयान करने से भी आत्मा का अनुभव नहीं। इसका तो भीतर में उपयोग बने कि मैं ज्ञानमात्र हूं और जानन का जो स्वरूप है वह ही लक्ष्य में लेवें, इतना मात्र मैं हूं, ऐसा मनन करने से आत्मा का परिचय मिलता है, आत्मा की पकड़ होती है। तो यह इस नास्ति वाले दूसरे न्याय से अलग बात नहीं है। मैं अन्य सब पदार्थों से जुदा हूं। इसको भी साथ में विचारना चाहिए। अरे नहीं, यह तो पहले की बात है। जब ज्ञानानुभव का अवसर आ रहा हो वहां विभक्तपने की बात सोचना विघ्न है। आनन्द तो आ रहा था। मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं—ऐसा उपयोग करने से ज्ञान से ही ज्ञान में पहचान का आनन्द आने का हो और वहां नास्ति का विचार करो तो वह विघ्न है। यह तो वस्तुस्वरूप के पहचानने की जड़ है।

अरे दूसरी बात से तो निर्णय कर लो कि मैं जगत में सब पदार्थों से न्यारा हूं। अनुभव के मार्ग में सोचने की आवश्यकता नहीं, यह तो निर्णय की बात थी। मैं तो स्वचतुष्टय से हूं, परपदार्थ के चतुष्टय से नहीं हूं। यह बात निर्णय कर लेने के लिए थी। पर जब ज्ञान के अनुभव के आने का टाइम चल रहा हो उस समय स्याद्वाद का आश्रय लेने की जरुरत नहीं। स्याद्वाद निर्णयके लिए है। निर्णय होकर फिर हमें उसके मर्म में ही चले जाना चाहिए। फिर स्याद्वादके विकल्पों को न लिए फिरें। मैं ज्ञानपिंड हूं और अन्य सब पदार्थों से भिन्न हूं, स्वभाव से निर्विकार हूं। यहां क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकार मुझ में आते तो हैं, परन्तु यह मेरा भाव नहीं बन गया। स्वभाव होता तो सदाकाल ही यहां रहा करता। जैसे अंगुली टेढ़ी कर दें तो टेढ़ी तो हो गई, मगर टेढ़ी हो जाना अंगुली का स्वभाव नहीं है। अग्नि की गर्मी का निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया। गर्म तो हो गया, पर गर्म हो जाना पानी का स्वभाव नही है। विकार तो आ गए पर, विकारों का आना आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं स्वभाव से निर्विकार हूं। अपने आप सहजस्वरूप जो मेरी सत्ता है तावन्मात्र ही हूं। मैं कैसा सत् हूं इस बात को जब देखो तो मैं एक चैतन्यमात्र वस्तु हूं, ज्ञानमात्र हूं, मैं निर्विकार हूं, ऐसा अपने को देखना चाहिए। और मैं धनी हूं, मैं गरीब हूं, मैं लड़के बच्चों

वाला हूं, कुटुम्ब वाला हूं परिवार वाला हूं, यह सब क्या है ? यह सब विकारों में फंसना है। विकार रूप ही अपने को मानने पर आत्मा विकार रूप नहीं हुआ, विकार रूप मानने से आत्मा कहीं विकारमय नहीं हो गया, किन्तु अपना उपयोग विकार रूप बनाना ही विकारों में आना हुआ।

मोही तथा अज्ञानी पुरुष ही अपना उपयोग अपने को नाना विचित्र रूपों में मान-मानकर विकार रूप में बनाते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष मैं पुरुष नहीं हूं, मैं स्त्री नहीं हूं, मैं बालक नहीं हूं, मैं बालिका नहीं हूं, मैं धनी नहीं हूं, मैं गरीब नहीं हूं—इस प्रकार में सब विचित्रतावों को मना कर अपना उपयोग यथार्थ रूप में बनाते हैं। मैं केवल एक चैतन्यमात्र वस्तु हूं, इस मुझ चैतन्यमात्र वस्तु का अन्य वस्तु के साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। वे सब पदार्थ हैं, वे अपने में हैं, मैं एक पदार्थ हूं, अपने आपमें हूं। सब पूर्ण स्वतंत्र हैं, आजाद हैं, अपने-अपने स्वत्व में मौजूद हैं। किसी पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है। स्पष्ट देखो यह वस्तु का स्वरूप है। यह प्रत्येक पदार्थ अपने सत् में है, अपने स्वतंत्र स्वरूप में है, पर ऐसा न मानकर किसी दूसरे के साथ सम्बंध हो, ऐसी झूठी बातें बनावें, ऐसा झूठा विश्वास बनावें, बस यही संसार के दुःखों की जड़ है। धन्य है वह उपयोग, धन्य है वह ज्ञान, धन्य है वह आत्मा जो संसार के पदार्थों को स्वयंसिद्ध स्वतंत्र, यथार्थ समझते रहते हैं। ज्ञानी गृहस्थी जहां पर रहते हैं वह अपने कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, स्त्री इत्यादि को भिन्न ही समझते हैं, धोखा देने वाले समझते हैं। उन्हें यह प्रतीत है कि मेरा कुछ नहीं है, रंच भी इनसे सम्बंध नहीं है, ये चीजें मेरी हो ही नहीं सकती हैं। और जो कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, बच्चों इत्यादि को ही अपना सब कुछ समझते हैं तो उनके हाथ केवल पापका कलंक रहता है।

ये तो त्रिकाल में उसके नहीं हो सकते हैं। अगर कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, बच्चों को अपना माना तो प्रोफिट में पाप का कलंक आ जायगा और संसार में रुलने की बात आ जायगी, अन्य वस्तु तो आ नहीं सकती। अरे इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। जगत के बाह्य पदार्थों को अपना मानने में कितना प्रोफिट है ? अपना मान लेने से क्या वह अपने हो गए ? वह अपने तो हुए नहीं। वे अपनी सत्ता में ही हैं। त्रिकाल में भी वे अपने नहीं हो सकते हैं। मिथ्या समझकर अनेक विकार बन गए, अनेक कषाय बन गए, संसार में बहुत समय तक दुःख रहा, रुकने की रजिस्ट्री करा ली। यह सब मुसा-बतें आजीवन रहीं। अन्य वस्तु का तो कुछ अंश भी मुनाफा न हुआ। जो दुनिया में

कुछ चाहता है उसकी ऐसी ही हालत होती है।

एक सेठ थे, हजामत बनवा रहे थे। वह सेठ बहमी था। वह नाई बाल बना रहा था। अब सेठ ने जब देखा कि नाई तो बाल बना रहा है, इसमें तो मेरी जिन्दगी नाई के हाथ है। सेठ डरता है। वह सोचता है कि कहीं बाल बनाते में गला न कट जाय। इस डर से वह नाई से कहता है कि बहुत बढ़िया समझकर बनाना। तुमको हम कुछ देंगे। जब नाई बाल बना चुका तो सेठ जी ने एक चवन्नी निकालकर नाई को दी। नाई ने कहा कि हम चवन्नी नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। सेठ जी एक अशर्फी, २ अशर्फी, १० अशर्फी देते हैं, पर नाई कहता है कि हम यह नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। सेठ को कुछ भूख प्यास लगी थी। नाई से कहा कि आरेमें जो गिलास रक्खा है वह ले आवो, दूध पी लें। हम भी पी लें और तुम भी पी लो। नाई ने गिलास में जो देखा तो उसमें कुछ काला काला था। नाई ने कहा कि सेठ जी इसमें तो कुछ पड़ा हुआ है। सेठ बोला कि कुछ है तो वह कुछ तू ही ले ले। तू कुछ को अड़ाभी था। उठाया तो क्या निकला, कोयला। जो कुछ की जिद में पड़ा उसको तो क्या मिला, कोयला।

इसी तरह यहां के प्राणी कुछ में ही पड़े हुए हैं। उनको मुनाफे में मिला क्या है, मिथ्यात्व, भ्रम, संस्कार हो जाना, और कुछ नहीं मिला। मान लिया एक करोड़ है, पर इस आत्मा में आता क्या है? उसमें नए पैसे का हजारवां हिस्सा भी नहीं आता। सब अपने स्वरूप में हैं, किन्तु मुनाफा यह मिला कि मिथ्यात्व बढ़ गया, अज्ञा-नता बढ़ गई, खोटे संस्कार हो गए। यही एक मुनाफा हो गया। चीजें तो कुछ मिलती ही नहीं। क्योंकि जगत का प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। किसी भी पदार्थ का किसी भी पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है।

यह आत्मा के स्वरूप की बात चल रही है। इस श्लोक में पांच विशेषताओं से आत्मा का स्वरूप खोला गया है। जिसमें चौथा विशेषण चल रहा है कि मैं स्वतंत्र हूं। मैं स्वतंत्र कब हो सकता हूं? जब मैं सबको स्वतंत्र निरखूं तब स्वतंत्र हो सकता हूं। अर्थात मैं अपने आप स्वतंत्र श्रद्धामें रहूं। जब हम प्रत्येक पदार्थों को भी स्वतंत्र स्वरूप देखें कि वे स्वतंत्र हैं तो मैं भी स्वतंत्र हूं। मेरे घरके बच्चे तो मेरे हैं, वे तो मेरे आधीन हैं ऐसा उन्हें पराधीन माने तो खुद भी पराधीन है। अरे वे तो एक सत् है। जब वे पर पराधीन बन गए तो तुम भी पराधीन बन गए। यह मेरे हैं, मेरे आधीन हैं, सोचने से

बच्चे पराधीन नहीं बने, मगर तुम पराधीन बन गए। तो अपने अनुभव से पराधीन हो गये। जो मेरा नहीं है उसे मैंने अपना मान लिया तो पराधीन बन गए। मैं तो स्वतंत्र हूं और जगत के पदार्थों को पराधीन देखूं। उन्हें मैं अपने आधीन देखूं तो मैं स्वतंत्र नहीं बन सकूंगा। अपने स्वरुप का अनुभव न कर सकूंगा। जिन लोगों के मोह को लिए हुए हैं कि ये सारे प्राणी राम हो जाएं। अरे तो तू भी राम नहीं बना। कहते हैं कि स्त्री सीता हो जाए और पुरुष राम न बनें क्या ? पुरुष राम नहीं बने और स्त्री सीता बन जाय यह कैसे हो सकता है ? सब राम बन जावो तो स्त्रियां भी सीता बने। तुम सब द्रव्यों को स्वतंत्र अर्थात् उन उनके खुद के आधीन देखो तो तुम भी स्वाधीन बन सकोगे।

यह सब मेरे आधीन रहें, ऐसी कल्पना जहां आई तहां पराधीन बन गए। यह स्त्री मेरी है, ऐसी कल्पना आने के मायने हैं स्त्री के आधीन बन जाना। यह पुत्र मेरे हैं, यह पदार्थ मेरे हैं के मायने हैं कि पुत्रों तथा पदार्थों के आधीन बन जाना। मैं स्वतंत्र हूं। जगत के सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता में हैं। कोई दूसरे के आधीन नहीं। मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूं। अब पांचवां विशेषण कहते हैं कि मैं सहज आनन्दस्वरूप हूं, सहज स्वभाविक आनंद स्वरूप हूं। आनंद मुझ में लाया नहीं जाता। जैसे ज्ञान जीव का स्वरूप है तैसे आनन्द भी जीव का स्वरूप है। जीवों का सर्वप्रयोजन इसी बात में है और इसी बात में प्रयत्न रहता है। एक तो जानन का और एक आनन्द का, यही दो प्रयोजन हैं इस जीव के। इन दोनों ही चीजों को प्राणी चाहता है कि जानन भी खूब हो और आनन्द भी खूब हो। सो भाई ज्ञान और आनन्द यह आत्मा के ही हैं। आत्मा में स्वभाव हैं और आत्मा में स्वरूप है, ज्ञान और आनंद बाहर कहीं से नहीं लाना है, किन्तु जैसे हो वैसा अपने को मान लेना बस यही ज्ञान और आनंद की प्राप्ति का उपाय है। इस श्लोक में पहले विशेषण में ज्ञान है और आखिरी में आनन्द है। मेरा भी तो प्रयोजन ज्ञान और आनंद से है। वे सब मेरे ठीक बनने के लिए और आनन्द के विकास के लिए हैं। ज्ञान और आनन्द ही जीव का वैभव है। यदि अन्य वैभव के दर्शन करेगा तो तू अपने अमूल्य वैभव को गंवा देगा। केवल यह मैं ज्ञानानंदमय आत्मा हूं। ऐसा ही अपने को अनुभव करो तो अपने में अपने आप अपने आनंद का अनुभव कर सकते हो। देखो—जैसा नहीं हूं वैसी ही भावना करूं तो वैसा उपयोग में बन जाता हूं, तब मैं जैसा हूं तैसा अनुभव करके वैसा ही उपयोग बनाऊं तो वैसा बन जाने में कोई संदेह

है ? क्या मैं भैंसा नहीं हूं किन्तु अकेले बैठे बैठे समझ लिया कि मैं भैंसा हूं तो ऐसी यदि धुन बन जायगी तो वह अपने शरीर को भूल जायगा। यही सोचेगा कि मैं भैंसा हूं। मेरा बड़ा पेट है। दो बड़ी सींगें हैं, एक पूंछ है, चार पैर है। ऐसा अगर एक चित्त से वह अपने को भैंसा समझ लेवे तो भैंसा ही भैंसा नजर आयगा। मैं अपने उपयोग में भैंसा ही बनूंगा और अगर दिलमें ऐसा अनुभव आ जाय कि मंदिर का दरवाजा छोटा है तो रंज करेगा कि मैं कैसे निकलूंगा ? मैं कैसे मंदिर से बाहर निकल पाऊंगा ? हमारा शरीर इतना मोटा है, दो सींग हैं, एक पूंछ है, अच्छा काला काला बड़ा मोटासा हूं। मैं कैसे बाहर निकल पाऊंगा ? सारी बातें सोचने सोचने में ही अपने आप अनुभव कर डालता है जैसा कि है नहीं। फिर जैसा यह है, ज्ञानरस, आनंदघन, आनंदस्वरूप, ज्ञानमय, सबसे निराला, तैसा ही अपने को माने तब तो यह स्थाई रूप से ऐसा ही हो जाता है। वह भैंसे की कल्पना बनाए बैठा था तो क्या भैंसा बन गया ? भैंसा वह नहीं बन जायगा, परन्तु यह तो ज्ञानानन्दमय है और ऐसा ही मान लेवे तो स्थाई रूप से ज्ञानमय यह आत्मा बन जायगा। तो यह मैं आत्मा सहज ज्ञानानन्दरूप हूं तो यह मैं अपने में अपने लिए रमकर अपने आप आनन्दमग्न होऊं।

थोड़े से शब्दों में यदि कहा जाय कि संसार क्या है ? सारी झंझटें क्या हैं ? तो कहा जा सकता है कि अपनी चेष्टा का फल अन्य में होता है इसको मानना है, इस ही को संसार कहते हैं। हम जो कुछ करते हैं उसका असर दूसरों में होता है, उसका फल दूसरों में होता है। इस प्रकार की बुद्धि होने का नाम ही संसार है। सारी विपदाएं हैं, ऐसी दृष्टि का ही नाम संसार है। संसार शब्द का अर्थ देखा जाय तो निकलता है कि संसरणं संसारः—परिभ्रमण करने का नाम संसार है। बाहरी दृष्टि से ३४३ घन राजू प्रमाण लोक में परिभ्रमण करना संसार है और अध्यात्मदृष्टि से अपने आपके विभावों में आकुलित होकर फिर-फिर कर विकल्पों में बने रहने का नाम संसार है, परिभ्रमण है।

यह संसरण क्यों लग गया ? इसका मूल कारण क्या है तो अपनी चेष्टा का फल दूसरों में मानने की दृष्टि ही इसका मूल कारण है। हम एक स्वतंत्र पदार्थ है। जगत के ये सभी स्वयं स्वतंत्र पदार्थ हैं। किसी का किसी से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। अपने ही तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य में रह करके अपने ही स्वभाव से ये परिणमते रहते हैं। अपने स्वरूप की सीमा का उल्लंघन कोई नहीं करता है। फिर कोई वजह ही नहीं

कि किसी के करने से किसी को कुछ हो जाया करता हो। परन्तु यह मोही प्राणी कुछ भी करता है तो यह समझता है कि मैं अमुक में यह परिणमन कर दूंगा। बस इसी दृष्टि के कारण संसार के सारे क्लेश लग गए। इसी को कहते हैं कर्तृत्व-पर्तृत्व बुद्धि अर्थात् पर को कुछ कर लेने का ख्याल। मैं दूसरों को कुछ कर देता हूं, दूसरे मुझे कुछ कर देते हैं—इस प्रकार का जो विकल्प चलता है, खोटा अभिप्राय रहता है इस ही का नाम संसार है और इन विकल्पों से छुट्टी लेने का नाम ही मोक्ष है। घर में, समाज में, समूह में जहां भी जो विवाद खड़े होते हैं उन विवादों का मूल कारण देखो तो अहंकार निकलेगा। अहंकार बिना विवाद नहीं होता है। घर में, स्त्री में, देवर जेठानी में, सास बहूमें विवाद खड़ा होता है (विवाद तो दो के बीच में होता है ना, एक से विवाद क्या) जिसमें विवाद खड़ा हो। समझो इसमें भी अहंकार ही है क्यों दुखी होते ? असुक काम नहीं हुआ तो न हुआ सही। वह भी पदार्थ है। यह ही परिणम गया, इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ गया ?

मैंने हुक्म दिया पर उसने नहीं माना अथवा मैं ऐसा करता था, ऐसा क्यों नहीं किया ? यह हो गया अहंकार। यह इसके इस तरह के बर्ताव से मुझे सुख होता है यह भी हुआ अहंकार। मैंने इनका इतना बड़ा पालन पोषण किया और इनकी सेवा करता हूं और फिर भी ये मेरे अनुकूल नहीं चलते। यह भी हुआ अहंकार। जितने विवाद होते हैं वे सब अहंकार से होते हैं। धंधे करने के मामले में निरन्तर ऐसी चिताएं रहा करती हैं, इतना क्यों नहीं हुआ, इतना कैसे बचा लिया जाय, यह कैसे कमा लिया जाय अथवा इज्जत रखना है, ये सारे जितने राग हैं उनका भी मूल है अहंकार। क्या उनका बिगड़ा कि ५ लाख थे और २ लाख निकल गए तीन लाख रह गए। अरे इसमें क्यों तुम्हारा तत्त्व बिगड़ गया ? पर इन मायामयी मूर्तियों के बीच इस मायामय मूर्ति को जो चाह रहा है, इस मायामय शरीर को जिसने सामने रक्खा है और इस माया की दुनिया में अपने को कुछ बताना चाहता है, वह अहंकार ही उन व्याधियों का स्वयं कारण है। जगत में जितनी भी विपदायें हैं उन सब विपदावों की व्याधियों का कारण अहंकार है। कर्तृत्व बुद्धि के होने का कारण भी अहंकार है। हम कुछ करते हैं फल दूसरे में होता है। कुतत्व के मानने का नाम ही संसार है। परमार्थ से बात तो यह है कि हम जो करते हैं उसका फल हम ही भोगते हैं। हम करते क्या हैं ? क्या दुकान चलाना है, रोटी बनाना है, घर की लीपा-पोती करनी है। हम विकल्प कर लेने का

ही काम करते हैं। अभी विकल्प के अतिरिक्त अन्य काम नहीं करते हैं, हम तो विकल्प करते हैं फिर इसके निमित्त से जो कुछ होता है वह अपने आप होता है।

तुम आत्मा हो। आत्मा एक ज्ञानमय पदार्थ है। वह इस शरीर के अन्दर रहते हुए भी इस शरीर से जुदा है। यह ज्ञानमय जीव पदार्थ केवल अपने परिणाम कर पाता है। परिणाम किया कि इस शरीर में रहने वाला यह आत्मा जो शरीर से न्यारा है, सब प्रदेशों में हिल जाता है, कंप जाता है। जैसे अभी भय का परिणाम हो तो यह आत्मा हिल जाता है। कम भय का परिणाम हुआ वहां भी हिल जाता है। खुशी का परिणाम हुआ, चिंतन का परिणाम हुआ, इच्छा की वहां भी हिल जाता है। यहां जीव परिणाम करता है तो उस परिणाम के फल में यह जीव कंप जाता है, हिल जाता है। प्रदेश परिस्पन्द होने लगता है। इसे कहते हैं योग। पहली बात को कहते हैं उपयोग। यह जीव केवल उपयोग और योग करता है और दूसरा काम ही नहीं करता है। मैं तो केवल उपयोग और योग करता हूं। इसके बाद जो कुछ होता है वह अपने आप होता है। देखो यह ज्ञान की बात है। यही अमृत है। इसको पी लोगे तो अमर बन जावोगे, अमर हो जावोगे। वह अमर तो होता ही है। समझमें आ गया कि अमर है। मैं अपने स्वरूप से हूं, अपने में रहता हूं। सदा अकेला ही रहने वाला हूं। यहां तो यह मैं ही मैं दिखता हूं। मैं ही मैं यहां हूं। जरा आंखें खोलकर देखो, अरे यह तो शरीर में है। व्यवहार की बात है, शरीर में यह नहीं है। और व्यवहार से है तो रहने दो। यह मैं इस शरीर को छोड़कर दूसरी जगह के लिए जाऊंगा तो मैं तो वहीं का वहीं हुआ। यहां से छोड़कर दूसरी जगह पहुंच गया। मैं तो पूरा का पूरा हूं। उतना का उतना पूरा का पूरा हूं। मैं अमर ही तो रहा। मरा कहां? मगर यह दृष्टि यह विकल्प कर डालता हूं कि देखो हमारा कमाया हुआ यह धन छूटा जा रहा है अथवा इज्जत बनी हुई थी अब वह छूटी जा रही है। यह जब ख्याल करता है तो दुःख हो जाते हैं। नही तो दुखी होने का कुछ काम ही नहीं है। मैं यहां रहूं अथवा न रहूं इससे उसमें क्या फर्क आयगा? मगर बाहर जब मोह की दृष्टि बनी होती है तब तो क्लेश उत्पन्न होते हैं। तो बाहर दृष्टि ही दृष्टि बनती है, पदार्थों में फेरफार कुछ नहीं होता है व्यर्थ उधम मचाते हैं और दुखी होते हैं। ये ऊधम तथा दुःख कहांसे आ गए? हमारे में से हम खुद कसूर करते हैं व दुःखी होते हैं, किसी से ठिनकने का क्या प्रयोजन? ऊधम किया तो दुःखी होंगे? हां होंगे। अब दूसरों से क्या आशा रखते हो? उनसे मेरे हित की बात

होगी । यदि ऐसे विचार कर लेते हो तो दुःखी हो जाते हो । अनहोनी को होनी बनाना चाहते हैं इसका तो फल दुःख ही है ।

एक लड़का था । वह इस बात में मचलने लगा कि मुझे तो हाथी चाहिए । उसका पिता हाथी ले आया । फिर लड़का बोला—इसे खरीद दो । बाप ने कह सुनकर हाथी को बाड़े में खड़ा कर दिया और कह दिया कि खरीद दिया । अब लड़के ने कहा कि हाथी मेरी जेब में रख दीजिए । अब बतावो भैया ! यह काम कौन कर देगा ? उसकी जेब में हाथी कौन रख देगा ? जैसे लड़का मचलता है हाथी को जेब में रखने के लिए उसी प्रकार जीव परपदार्थों को लेने के लिए मचलता है । अरे भैया, अनहोनी बात क्यों चाहते हो ? जो होना है होगा । उसे भगवान सब कुछ जानता है, जो कुछ वह जानता है सो होगा । वह जानते हैं इस लिये होगा ऐसी बात तो नहीं है । किन्तु जैसा हुआ था, जो हो रहा है, जो भविष्य में होगा सबको भगवान जानता है, यह बात है और कोई बात नहीं । बाह्य दृष्टि मैं आपदा ही आपदा हैं आत्मा में धोखा है, नहीं । यह परिचय की जगह में मायारूप है, परमार्थ से तो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है । यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब जो भगवान ने जाना है वह होगा, फिर पुरुषार्थ करना व्यर्थ है । भैया जो आप करेंगे वही प्रभु ने जाना है । फिर इसकी ओर से क्यों ऐसी उपेक्षा कर ली जाय ? हां परवस्तुवों से क्या सिद्धि है, सो पर के बारे में सोचो यह जैसा होता है होने दो । अन्य पदार्थ तुम्हारे सोचने से वैसे हो नहीं जावेंगे । तब जैसा भी हो गया होने दो, उसके भी यह जानने से बिगाड़ कुछ होता नहीं । और मोह है इसलिए दुःख होता है । जैसे कोई नाच रहा हो और नाचने में ऐड़ियां कुछ गलत उठ गयी हों, ठीक ठीक ठेके के अनुसार एड़ी न चलें । नाचने की कला को जानने वाले जो लोग बैठे हुए हैं वे दुखी हो जावेंगे यह गलती देखकर । वे दुखी हो जाते हैं, इसका कारण है कि उनको भी शौक है, उनको भी अहंकार है । देखो जानने की कलापर ही सब कुछ निर्भर है । जगत के सब पदार्थों से निराला अपने आपको जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है वह जब तक अनुभव में नही आता तब तक पर्तृत्व बुद्धि नहीं मिटती । अज्ञानी सदा अपने घमंड में रहता है । कोई बड़ा धनी था और अब जो बिल्कुल गरीब हो गया हो तो वह अनेक कल्पनाएं करेगा कि मेरे दरवाजेपर सैंकड़ों जूते उतरते थे, मेरा सम्मान होता था, ऐसा कहकर अपना बड़प्पन जताता है । चाहे अर्थ ऐसा निकले कि पाप का उदय आ गया सो देखो सब खतम हो गया । यद्यपि उसके

सुनाने में इज्जत नहीं है बेइज्जती है तो भी उनकी कर्तृत्व बुद्धि का नशा है सो कहता है। वर्तमान की बात का भी मोही अहंकार करता व भविष्य का भी। वह यों बन जायगा, वह ऐसा हो जायगा, यों इज्जत वाली बात में घमंड किया। इस कर्तृत्व बुद्धि में अपने हित का मार्ग नहीं सूझता। तो इन संसार भावों को छोड़कर हमें मोक्षमार्ग में आना चाहिए। मैं जो करता हूं वह तो उपयोग और योग को ही करता हूं। इसके अतिरिक्त मेरा कहीं करने का कुछ काम नहीं है। इतना कर लेने के बाद शरीर में जो वायु भरी है, चक्कर करने लगती हैं। तब आत्मा के भावों के अनुसार चक्कर काटना शुरु हो जाता। यों उपयोग के अनुसार योग व योग के अनुसार वायु चलती है। जब आत्मा के प्रदेश में बौखलाहट होने लगी तो यहां एक क्षेत्र में रहने वाले इस शरीर के स्कन्धों में भी वायु की बौखलाहट होने लगी। जहां इस शरीर में वायु चली तो शरीर के अंग भी चल उठे। जैसा उपयोग किया था उस ही के अनुसार योग हुआ, वायु चली, उसके अङ्ग चले और उन चलते हुए अङ्गों के बीच में कोई रोटी जो आए उसके भी परिणमन हुए। उसको देखकर लोग कहते हैं कि इसने रोटी बनायी, दुकान चलाई, वस्तुवें खरीदीं, इत्यादि नाना बातें लोग कहने लगते हैं। परमार्थ से अन्य कुछ नहीं किया। जीव ने तो केवल उपयोग और योग ही किया है। उपयोग योग होने के अतिरिक्त इस जीव के करतूत कुछ नहीं है। लोक में कहावत ही कही गयी है कि घी, शक्कर मीठा या बहू के हाथ घी शक्कर होने के कारण पकवान मीठा हैं। हाथ निमित्त है। इनमें मीठा क्या है बहू के हाथ मीठे हैं क्या, नहीं। शक्कर मीठी थी। तो पकवान बहू ने बनाया या शक्कर ने बनाया। रोटी को आटे ने बनाया या बहू ने बनाया। आटे ने रोटी को बनाया। आटे से रोटी बनाया। देखो हाथ में हाथ चला और रोटी में रोटी बनी। व्यर्थ का ही अहंकार होता है कि रोटी मैंने बनाया है। रोटी का उपादान तो वह आटा ही है, हाथ तो निमित्तमात्र है।

निमित्त वह कहलाते हैं जो अलग रहा करते हैं। हाथ रोटी से अब भी अलग है। लोक में जो भी काम होता है उन सब कामों से हाथ अलग है। निमित्त अलग को ही कहते हैं। जो भिन्न चीजें हैं सारी अलग हैं। तभी तो निमित्त पाकर भी यदि उपादान योग्य नहीं है तो कार्य नहीं होता है। आज भाई आटा नहीं बचा। अरे नहीं बचा तो नहीं सही। कैसे बनेगा ? धूल धर दो। क्या रोटी बन जायगी। नहीं, क्यों ? अरे उपादान तो है ही नही। कार्य जितने होते हैं वे उस ही वस्तु में होते हैं जहां कि वह

कार्य है । मैं जो कुछ परिणाम करता हूं, कार्य करता हूं मेरा असर मुझ में ही है । मेरे से बाहर मेरा असर नहीं है । मोह करके दुःखी हो गया, बरबाद हो गया । दुःखी हुआ तो दुनिया के अन्य किसी वजह से कुछ नहीं हुआ । मोह हुआ, उस ही से दुःख हुआ । मोह की गंदगी जो दुनिया में है हमारी ही है । बाहर कोई गन्दगी नहीं है । इस गंदगी का कारण यह अपना मोह ही है, मोह का परिणाम ही है । इस मोह के परिणाम ने हमें निगोद जैसी खोटी योनियों में पहुंचने वाला बना दिया । बतलाओ इसमें कौनसी स्थिति ऐसी है जो अच्छी है और संतोष के लायक है । जैसे कहावत है कि घर-घर में मिट्टी के चूल्हे, घर-घर में क्लेश हैं । घट-घट में विपदाएं हैं । कहीं चले जावो । कचहरी में जो जज बैठता है कुर्सीपर हुकूमत करता है, अनेक लोग आकर प्रणाम कर रहे हैं और साहब बने बैठे हैं । देखने वाले लोग सोचते हैं कि जज साहब सुखी हैं । अरे वह सुखी नहीं हैं । वह अहंकार से भरे हुए बैठे हुए हैं, निरन्तर दुःखी होते हैं, चिंताओं से युक्त हुआ करते हैं तो बतलाओ कि वह मजे में कैसे होंगे ? ऊपरी शान से सुखी हैं, पर भीतरी मन से वह दुःखी हैं । जैसे ऊपर से चांदी का घड़ा दीखता है और अन्दर विष्ठा भरा रहता है । तो वह कैसा है ? इसी तरह संसार के प्राणी ऊपर से चिकने-चुपड़े लगते हैं व भीतर अज्ञान व अशान्ति भरी है । कहो हैं न वैसे ही लखनऊ जैसी नजाकत है ।

यही बात है कि देखने मात्र में वे सुखी हैं, पर भीतर में वे विकल्प भरे हुए हैं, मोह भरे हुए हैं और दुखी हो रहे हैं । भीतर में राग, द्वेष, मोह इत्यादि भरे हुए हैं । विष्ठासे भरे हुए घड़े की तरह हीन परिस्थिति है । कौंनसी ऐसी स्थिति है जिसमें अहंकार किया जाय, संतोष किया जाय ? जैसे रास्ता भूलकर कोई पुरुष कुछ आगे बढ़कर चला गया है तो भूल मालूम होनेपर सामने के बड़े बगीचों, वन-उपवनों से अपना मुख मोड़ लेता है, उन्हें मुड़कर भी नहीं देखता है । इसी प्रकार खोटे मार्ग में भ्रम की बातों में पड़कर बहुत दूर तक चला-फिरा, भटका हुआ प्राणी जब यह समझ जाता है कि यह सब विषय कषाय है, भूल का मार्ग है । निज सहजस्वभाव की दृष्टि छोड़कर परपदार्थों को अपना मानना यह सारी भूल है । हम मार्ग को भूल गए हैं । यह तो आधियों-व्याधियों का मार्ग है । जब ऐसा सही ज्ञान होता है तो यह जीव अपने कुटुम्ब, परिवार इत्यादि से अपना मुख मोड़ लेता है । अपने धन वैभवका लिहाज नहीं करता है, अपने लड़कों पर निगाह नहीं डालता है । यदि अपने को व्याधियों से

रहित मार्ग में लाना है तो सुमार्ग की ओर देखो। अपनी चेष्टाओं का फल दूसरों में होता हो, ऐसा दृष्टि पाप फैलाए हैं, यही खोटा मार्ग है, यही संसार है। यह विपरीत का मार्ग है। इसमें चलने से इसमें ही भटकते रहोगे।

जब समझ आती है तब ज्ञान इससे मुड़ जाता है। मेरी शक्तियों का परिणाम मुझ में ही होता है। मेरा मित्र मैं ही हूं, मेरी विपदाएं मैं ही हूं। यह ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। इसको ही अपने आपके लक्ष्य में लो। इस शरीर की समस्त आकुलताएं समाप्त हो जावेंगी। अपनी चेष्टाओं का फल दूसरों में मानना सोई कुबुद्धि है, संसार है। अगर कुछ असंयम में भी पड़ा रहना पड़ता हो, फिर भी प्रतीति तो पूर्ण सहों रखनी चाहिए। अपने को ऐसा ही प्रतीत करना चाहिए कि मैं सबसे निराला, केवल ज्ञानस्वरूप ही, आनन्दमय भावात्मक एक विलक्षण चैतन्य पदार्थ हूं जिसका यहां कुछ नहीं है, इसमें जो कुछ हरकत होती है, चेष्टा होती है वह इस स्वरूपकी होती है। और जो असर बनता है वह इसके ही बनने की चेष्टा हो रही है। जो होता है इसके ही प्रयोजन के लिए होता है, इसमें ही होता रहता है, इसके लिए ही होता है। जैसे सर्प कुंडली बना लेता है, अपने लिए ही अपने को घेर लेता है। इसी तरह इस जीव ने जो कुछ उपयोग और योग किया वह सब अपने लिए ही अपने में किया। इसका इससे बाहर कुछ वास्ता नहीं है। अन्दर दृष्टि होने का नाम मोक्ष का मार्ग है, और बाहर में दृष्टि फैलाने का नाम संसार है, संसार का मार्ग है। देखिए भावना से ही यह संसार मिल जाता है और भावना से हो मोक्ष का मार्ग मिल जाता है। अब बुद्धिमानी यह होनी चाहिए कि हम किसे प्राप्त कर लें? केवल भावना से ही मिल रहे हैं सव कुछ। रात को एक भाई ने यह प्रश्न किया था कि हम जैसे चीजों का सौदा करते हैं। सौदा तो करते हैं और चीज खरीदते नहीं। केवल भावना ही कर लेते हैं। इसमें नफा-नुक्सान कुछ होता नहीं।

इसी तरह केवल भावना कर लें, पर हम किसी को मारें नहीं, किसी को सताएं नहीं। बाहर से कुछ करना नहीं हैं। केवल भावना कर लेते हैं। तो उसमें नुक्सान क्यों होता? बड़े गजब की बात यह हो गयी। नुक्सान तो सौदा लेनेपर होता कि भाव करनेपर। लेकिन यह भाव कर्म का बंध करा देता। रोजगार में भावना करने से नफा-नुक्सान नहीं होता। नफा-नुक्सान तो सौदा खरीद ही करने से होता है। सो भैया! प्रथम ता यह बात है कि तू तो केवल भावनाओं को बना सकता है, काम कुछ कर

सकता नहीं है। भीतर से विषय कषाय के परिणाम भरे हुए हैं उनसे कर्मबंध होता हिंसा, झूठ आदि के कारण कर्म नहीं बंधता। यह विचित्र रोजगार है। जीव भाव ही कर पाता है और भाव से ही नफा-नुक्सान होता है। भाव के कारण कर्मबंधन है। हां यह बात जरुर है कि भाव बुरे हैं तो कार्य भी बुरा किया जाता है। इसी से कहो कि हिंसा, झूठ इत्यादि भावनाओं के कारण कर्मबंधन है। यह रोजिगार विलक्षण है। यदि अपनी खोटी भावनाओं से हटकर सही रूप में कार्य करने लगें तो नफा हो जाय, भाव खोटे नहीं तो बाह्य परिणति से पापबंध नहीं।

ऐसे अनेक उदाहरण मालूम होंगे। सुदर्शन सेठ थे। रानीने सेठको बुला लिया। महल में सब चेष्टायें कर लीं, परन्तु सुदर्शन विरक्त ही थे। राजा ने गुस्से में आकर शूली का आदेश दिया। परन्तु सुदर्शन सेठ का परिणाम बुरा रंच भी न था। उनको विकार न था रानी से कहा था कि मां, मैं तो नपुंसक हूं। उनका परिणाम निर्मल था, उसके कारण उसके कर्मबन्धन नहीं हुए। तथा परवस्तुवों के कारण मोक्षमार्ग में बाधा नहीं आती। और ये दुनियाके विचित्र गुंडे लोग परिणाम बिगाड़ते हैं, पर कहीं वश थोड़े ही चलता है, फिर भी कर्मबंधन हो रहे हैं। जैनसिद्धान्त तो यह कहता है कि कार्य से कर्मबन्ध नहीं, कर्मबन्ध में भावना मुख्य कारण है। हां यह बात और है कि भावनाओं के बिना कार्य हो नहीं सकता। यदि साधु ईर्यासमितिसे जाते हैं और अचानक मार्ग में कोई कुन्थु प्राणी मर जाता है, प्राणिघात होते हुए भी कर्मबन्धन नहीं हुआ। उन्हें जीव-हिंसा का पाप नहीं हुआ। कोई बिना देखे चल रहा है और उसके शरीर से किसी प्राणी का घात भी न हो तो भी कर्म बंधेंगे। कर्मबन्धन का रोजगार भाव से चलता है, चीज के लेन-देन से नहीं। सबसे बुरा भाव बुरा पाप तो मिथ्यात्व है। अपनी चेष्टा का फल दूसरे में देखना यह भाव भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्या आशय को त्यागकर मैं निज सहज चैतन्यस्वभावमात्रको देखूं और अपने में अपने आप सहज विश्राम पाऊं।

मैं अपने आप किन तत्त्वों से बना हुआ हूं, किन तत्त्वों रूप हूं? इसपर विचार करने से जब आत्मा में देखते हैं तो यही मालूम होता है कि यह एक ज्ञानमय वस्तु है, ज्ञान में ही रचा हुआ है, ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञान के मायने जानना। जानना आत्मा के आधीनता की बात है। परपदार्थों के आधीनता की बात नहीं। जानने में परपदार्थ आते हैं, पर जानना आत्मा की चीज है, आत्मा में उठता है, जानना आत्मा के स्वभाव की कला है। इस कारण जानने की सीमा नहीं होती है कि इसको ही जान,

आगे न जान, इससे अधिक न जान, ऐसा जानने में कोई सीमा नहीं है। स्वभाव में ऐसा ही जानने का स्वरूप है। जिसे कहते हैं अनन्त ज्ञान। यदि ज्ञान कम जाने इतना जान लेने का कोई कारण होता है। इतनी बात बतलाइए कि १० कोश का जान लेने का काम है और ग्यारहवें कोस के जानने का आत्मा का काम नहीं है। क्यों ? अरे इसमें तो जानने का ही मात्र स्वभाव है। सीमा बनावेगा तो स्वभाव मिट जावेगा। जो है सो जानने का स्वभाव है, जानने का विषय सत् है, वह सब जानने का स्वभाव है। आगे पूछने की गुंजाइश नहीं। क्यों ऐसा नहीं है। इसने हजार कोश तकका जाना, पर हजार कोश से आगे न जाना। पूछा जा सकता है कि वह हजार कोश तक सबको जानता है इसके आगे वह किसी को नहीं जानता। इसका क्या कारण है ? यह कितना जानता है ? अरे यह सबको जानता है, विश्व के समस्त द्रव्य गुण पर्यायों को जानता है। क्यों जानता है ? जानने का क्या कारण है ? अरे पूछने की बात नहीं। अनहोनी के होनी का कारण पूछा जाता है। कुछ उल्टा बन गया है उसके ही कारण पूछा जाता है। जो स्वभाव से होने वाला है उसका कारण क्या पूछा जाय।

मेरा स्वभाव जानने का है। जानन ही आत्मा है। जैसे वर्णन किया जाता है ना कि आत्मा में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व हैं, अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्व प्रमेयत्व तथा असाधारण गुणों में श्रद्धा है, चारित्र है, आनन्द है, ज्ञान है। यदि इन सब गुणों में से केवल एक गुण ज्ञान का न हो, ज्ञान को न मानो, ज्ञान को बाहर निकाल दो और कहे कि सब खुशी से रहो, अस्तित्व से रहो, तो न रह सकेगा एक ज्ञानभर को न रहने दो, निकाल दो, नहीं है, ऐसा मान लो अपनी कल्पनाएं करलो तो अस्तित्व न रख सकोगे, श्रद्धा और चारित्र न रख सकोगे। देखो केवलज्ञान के न रहने से कितनी विपदाएं आ गयीं ? ज्ञान ही जिसका एक स्वभाव है यह मैं आत्मा हूं। सारे गुणों का अंतर्भाव ज्ञान में तो किया जा सकता है, पर ज्ञानका अन्तर्भाव किसी अन्य गुण में नहीं किया जा सकता है। आध्यात्मिक शास्त्रमें तो सब कुछ यह ज्ञान ही है, श्रद्धा, ज्ञान है सम्यग्दर्शन है तो ज्ञान है, जीवादि के श्रद्धान के स्वभाव से ज्ञान का होना याने श्रद्धान के स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्दर्शन है और जीवादि तत्त्व के जानने के स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्ज्ञान है। और रागादि का परिहार करने के स्वभाव से ज्ञान का होना सो सम्यक्चारित्र है। मैं ज्ञानमय वस्तु हूं, ज्ञान ही जिसका सर्वस्व है ऐसा यह ज्ञानमय हूं। मैं तो अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिंड हूं, फिर भी तृष्णा के वशीभूत होकर

अपने में कैसे-कैसे बखेड़े पैदा कर डाले ? हीन, दरिद्र, दुखी अपनेको कर डाला ।

जिसकी वजह से जगह-जगह भटकता रहा । सर्वत्र कल्पनओं का ही तो नाच है । दुःख है, कठिनाई है, इस तरहकी कल्पना जो कर डाला तो दुःख है । दुःख मिटाना है तो यह कल्पनाएं बदल दीजिए । वस्तुस्वरूप के अनुकूल कल्पनाएं कर ली जाएं तो दुःख मिट जायगा । वस्तुस्वरूप के विपरीत ही कल्पना की तो दुःखी हो गए । असार को सार समझकर जहां कल्पनाएं की तहां दुःख हो गया और जहां इन कल्पनाओं को बदल दिया जाय तो दुःख मिट जायगा । यह दुःख और सुख कैसे कल्पना की हवा में चल रहे हैं ? कल्पना कर ली दुःख हो गया । सही बात सोच लिया, लो आनन्द हो गया । यह जीव अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुखों का पिंड हैं । लेकिन कोई ऐसा न माने तो वही दुखी रहेगा । जैसे ज्ञान की सीमा नहीं है इसी तरह अनन्त ज्ञान से अनन्त जानने वाले आत्मा के दर्शन भी अनन्त हैं । आनन्द अनन्त है । आनन्द का अंत तो उसका होता है जो आनन्द झूठा हो, पराधीन हो, कल्पनामात्र से हुआ हो । जिसकी मूल जड़ कुछ नहीं है । केवल संकल्प का ही फल है । ऐसे सुख का तो अन्त आया करता है पर जो आनन्द आत्मा से उत्पन्न हो, आत्मा के आधीन हो ऐसे सुख का अंत नहीं आया करता है और उस आनन्द की सीमा भी नहीं रहती हैं । जैसे गुड़ से शक्कर में रस ज्यादा होता है । उससे मिश्री में रस ज्यादा है तो उस रस की सीमा बन जाती है । इस तरह आत्मीय आनन्दमें तो भेद नहीं सो आत्मीय आनन्द की सीमा नही हो सकती है ।

आत्मीय आनन्द कितना आया ? देख लो कितना आत्मीय आनन्द है ? ऋगवेद व और महावीर स्वामी के आनन्द में अन्तर है । क्या राम जी और हनुमान जी के आनन्द की सीमा है क्या, नहीं है और जब यह ज्ञानी जीव भी आत्मीय आनन्द का अनुभव करता है तो उसके उस आनन्दकी भी सीमा नहीं है । सीमा कहां बताई जाय ? जिसकी कमी हो वहां सीमा है । इसी प्रकार समस्त विकास को बनाए रहने की ताकत ही अनन्तवीर्य है । मैं अनंतानंत, ज्ञानानन्द का पिंड हूं । ऐसा होते हुए भी यह भगवान आत्मा केवल कल्पनाओं के भुलावे में पड़कर, असार बाधा के बन्धन में आकर दीनवत संसार में भ्रमण करता है । जैसे लोग कहते हैं कि हम अपने घर के बादशाह हैं और दूसरे लोग चाहे जो कुछ हो । अरे अपने घर का भी सही पता लग जाय कि मेरा निजी स्वरूप ही घर है जो ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र है । इस मेरे का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं

है । इसे कोई पहचानता नही है, इससे कोई बोल-चाल होती ही नहीं है । मैंने कभी किसी को कुछ किया ही नहीं । कोई मुझसे अब तक बोला-चाला ही नही । मैं सबसे निराला, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र हूं । इस जगत के प्राणियों को यदि निजी घर का पता लग जाय तो यह बात सत्य है कि वह अपने घर का सर्वस्व हो जावे । सारा जहान चाहे जैसा उनको माने उनसे कुछ अहित नहीं हो सकता है । सारा जहान अनीति कर यदि उनके विपरीत चले तो भी उनका कुछ अहित नहीं हो सकता है । अपना हित और अहित कल्पनाओं से संकल्प से होता है । लोग कहते हैं कि ईश्वर ने संकल्प किया कि सारा संसार बन गया । ऐसी ही उसकी विचित्र लीला है । मगर कुछ नहीं करना पड़ता, हाथ-पैर नहीं चलाने पड़ते । वह तो सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दमय एक अद्भुत शक्ति है । उस ईश्वर ने संकल्प किया कि संसार बन गया । जैसे कि लोग कहते हैं । अब इस ईश्वर के मर्म को विचारकर अपने आपका बोध कर । तू अपने को ऐसा निरख कि मैं ज्ञानमय आत्मा हूं । जिस आत्मा में हाथ-पैर नहीं हैं, केवलज्ञान का पिंड है ऐसा मैं आत्मा हूं । ज्ञान में क्या जानना है ? उस ज्ञान का जानना । अरे जो है सो जान लो, वस्तुवों को जान लो । ज्ञान इस आत्मा का प्रधान धर्म है । इस दृष्टि से देखो तो इस आत्मा में ज्ञान लोकालोक व्यापक है । यह आत्मा संकल्प करके ही अपने आपकी सृष्टिरचना कर लिया करता है । और ऐसे ही सभी आत्मा हैं । तो उन आत्माओं के स्वरूप में दृष्टि देकर विचार करो । यह ज्ञानमय स्वरूप अपने संकल्प मात्र से सारे संसार को रचता रहता है । संकल्प ही तो करता हैं कर्म के बन्धन होते हैं । कैसे इसने संकल्प किया कि बन्धन हो गए । पुण्य का बंधन होता हैं । कैसे संकल्प तूने किए कि पुण्य नहीं हो पाया । पुण्य का बन्धन होता है कैसे ? सम्वर निर्जरा होती है कैसे ? अपने निर्विकल्प यथार्थस्वरूप को संकल्पमें लो । संकल्प मात्र से अपनी सृष्टि की रचना करते हैं । हम तो अनन्त ज्ञान के पिंड है, मगर मोह में, तृष्णा में रहते हैं, इसलिए इस असार संसार में घूम रहे हैं । यों दश लक्षण प्रतिवर्ष आते हैं । ये हमें ख्याल कराते हैं ।

हे आत्मन् ! तेरा क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र विकास रूप रहने का स्वभाव है । ऐसे ही स्वभाव में रहे तो तेरे सारे संकट समाप्त हो जावेंगे । इस स्वभाव को छोड़कर अन्य बातों में लगे तो संसार में भटकना ही बना रहेगा । आज इस वर्ष के दशलक्षण का प्रथम दिन है, क्षमा का दिन है । क्षमा करो, माफ करो । अरे अपने प्रभु को क्षमा करो । जानने वाले को ही

माफ कर । अपने आपको मैंने कितना सजाया है ? कितना गुस्सा किया अपने आपपर ? यह अनंतानुबंधी कषाय अपने आपकी जा रही है अपने आपपर । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते हैं जो सम्यक्त्व नहीं होने देते । क्यों भैया, एक ऐसा मनुष्य है जिसके घर में स्त्री व पुत्र दो प्राणी हैं । कमाते हैं, पैसा आता है, किराये का आता है, कमाना भी नहीं पड़ता है । किसी से गुस्सा होने का कोई काम ही नहीं है । वह तो पड़ा रहता है । तो उसमें सदैव क्षमा बनी रहती होगी । अरे इसमें क्षमा नहीं बनी रहती है । अपने प्रभु की प्रभुता को भूल रहा है और अपनेपर निर्दयी होकर, बेदर्द होकर अपनी प्रभु आत्मा से विमुख हो रहा है । अपने प्रभु की प्रभुता का बिगाड़ कर रहे हो । यह कितना बड़ा भारी क्रोध है ?

हे आत्मन् ! तू अब अपने आपको मत सता । तू तो ज्ञानमय ईश्वर-सम परम-पवित्र है, तू समस्त पदार्थों से अत्यन्त जुदा है । विवादों से तू अत्यन्त परे हैं, तेरे में झंझटों का काम नहीं है । ऐसे अपने महान् ऐश्वर्य को तो देखो । उसकी रक्षा तो करो । अपने आपपर दया करो, अपने आपको माफ करो, अपने आपमें क्षमा आ गयी तो उत्तम क्षमा बनेगी । मैं दूसरे जीवों के कसूरों को बिल्कुल माफ कर देता हूं । ऐसी दृष्टि अगर अपने में हो, ऐसा विश्वास अगर अपने में हो तो वह तो मिथ्यात्व है । जैसे लोग कहते हैं कि मैंने क्षमा कर दिया । अरे वह क्षमा नहीं है । उत्तम क्षमा हो तो अपने को क्षमा की मूर्ति रूप बना देती है । अपने आपकी दया में सबकी दया आ जायगी । जो अपने आपको सहजस्वरूप के दर्शन में लगाने के लिए लालायित है उसके लिए दूसरों के अप-राधों के करने में क्या लगेगा या दूसरे के अपराधों को दिल में रखेगा क्या ? दूसरों की क्षमा सहज बन जायगी । विषय कषायों के परिणाम में क्यों अधिक लगे हुए हो, धन कमाते हो । तो अरे धन किसके लिए कमाते हो अथवा न्याय की सीमा से बढ़कर किस लिए इतना श्रम करते हो ? अरे जिसके लिए श्रम कर रहे हो वह तुम्हारा कोई नहीं है । और है तो तुम्हारी अक्ल ठीक करने के लिए है । अर्थात् विपदाओं में गिराने के लिए वह एक निमित्त कारण है । वह तुम्हारे कोई नहीं है । अपने को संभालो । जैसी दृष्टि अपने आपको क्षमा कर देने की है वैसी दृष्टि परको क्षमा कर देने की बनाओ । अभी १००-२०० वर्ष पहले पं० दौलतराम जी, भैया भगवतीदास जी आदि थे । जिनमें यह निर्णय रहता था कि एक रुपया कमाया वही बहुत है । आज एक रु० से १० रुपया कमा लेने का ही भाव रखे सो भी गनीमत है । एक रुपया में एक

आना मुनाफा या एक पगड़ी में एक आना मुनाफा। यदि १६ रु० का माल बेचा तो १६ आने का मुनाफा हो गया। बस इतना होते ही तुरन्त दूकान बंद कर देते थे और मन्दिर जी में आकर धर्मध्यान करते थे, स्वाध्याय व चर्चा में समय व्यतीत करते थे। वे लोग थे ज्ञानी पुरुष, उनका ध्येय दूसरा था।

आत्मा के दर्शन कर लें और उसी आत्मीय आनंद के रस का पान कर लें तो यही आत्मानुभव पार कर देने वाला है। और सब असार काम है। ऐसी धुन लगने के कारण दूकान से होते हुए मुनाफे को छोड़कर चले आए और मंदिर में बैठकर विचारों में लग गए। मंदिर में धर्म की चर्चा होती है उसको सुना। धर्म की चर्चा सुनने से स्वाध्याय तो हुआ। इतना तो संतोष कर रहे हैं कि राग की आग में जल नही रहे हैं। वीतराग मंदिर में बैठे हुए हैं। प्रभु की वाणी तो सुन रहे हैं। ऐसे सुन्दर चरित्र से रहें तो जगत के सारे पाप दूर हो जावेंगे। मोह से तो दूर हो रहे हैं। क्योंकि यह बोध तो स्पष्ट है कि जो समागम प्राप्त है वह इस संसार में कुछ नहीं रहेगा। जैसी दृष्टि वृत्ति बने, जैसा जिसने परिणाम किया उसके अनुसार ही जो कुछ भोगना होगा, भोगेगा। क्षमा कर अपने आपको क्षमा कर। परवस्तुवों के बारे में, अन्य जीवों के बारे में, राग, द्वेष, मोह, हठ इत्यादि न बनावें। राग होता है उसमें भी पछतावा होता है। द्वेष होते हैं तो अपने आपको दुखी कर लेते हैं। सो भाई अपने आप पर दया करो, अपने को क्षमा करो। अपने आपकी ही तरह जगत के सब जीव हैं, अतः सब जीवों पर क्षमा करो। क्रोध सब गुणों को जला देता है। क्रोध को अग्नि की उपमा दी जाती है। सी यह बड़ा भारी क्रोध किया जा रहा है कि हम अपने को सताये चले जा रहे हैं। दूसरों के प्रति नाना प्रकार के राग, द्वेष करते है तो यह बुरा ही तो करते हैं। यह परमें रागद्वेष क्या है? अपने आपको सताना है। अतः अपने आपको सताते चले जा रहे हो। सो भाई बढ़ते हो तो बढ़ते जाओ। करोड़पति हो तो अरबपति हो जाओ, मेरा कोई नुक्सान नहीं है। यदि मेरे में ईर्ष्या का भाव आ जाय तो इसमें अपनी हानि है। करोड़पति अरबपति होना तो मामूली बात है, वह मोक्ष चाहे तो जाने दो, जावो, बड़ी जल्दी जावो। उससे मेरी कोई हानि है क्या? अरे जावो परमात्मा हो जावो या जावो अपने आपमें रमो। दूसरों को बड़ा बना देने में, दूसरों के बड़ा हो जाने से यहां कुछ कमी नहीं हो जायगी। सबके प्रति कल्याण का भाव हो, अपने आपके स्वरूप का परिचय हो क्षमा तभी पैदा होता है।

सबने अपने-अपने यहां क्षमा की महिमा गायी है। कोई कहता है कि तुम्हारे गाल में कोई तमाचा मारे तो कहो अच्छा लो यह दूसरा गाल भी तुम्हारे तमाचे के लिये हाजिर है। यह ईसाई लोगों के यहां कहा है। अरे तमाचा तो केवल मन बहलाने के लिए लगाया है तो लो और बहला लो। किसी ने किसी प्रकार कहा, मतलब क्षमा को धर्म सबने कहा। हे आत्मन्! निज नाथ को पहिचाने बिना अंधेरा है। तूने अपने यथार्थस्वरूप का अनुभव नहीं किया इसलिए तेरे में क्षमा का अनुभव नहीं हुआ। यदि तेरे में क्षमा नहीं है तो समझो तूने धर्म नहीं किया। इस वर्ष भी ये भादों में दशलक्षण आए और भादों सुदी पंचमी से आए ऐसा क्यों हुआ ? एक-एक कल्पकाल में प्रलयकाल हुआ करता है तो इस कल्प में भी प्रलय हो चुका था। प्रलय में वर्ष के अंतिम ४९ दिन खोटे होते हैं। बहुत वर्षा तूफान इत्यादि चला करते हैं। सारे विश्वमें नहीं चलते। भरत व ऐरावत के आर्यखंड में प्रलयकाल के वे दिन आसाढ़ सुदी पूर्णिमा तक खतम हो जाते हैं। फिर ४९ दिन तक अच्छी वर्षा होती है। उत्तम वृष्टि होती है। अमृत वृष्टि, दुग्ध वृष्टि होती है, जिससे कुछ शांति छा जाती है। वह ४९ दिन खतम हो जाते हैं भादों सुदी चौथ को। इसके बाद में आपके धर्म की वृद्धि सिर्फ होती है। जो कुछ होना था इन्हीं ४९ दिनों में हो गया। अब धर्मवृद्धि होती है वह तिथि भादों सुदी पंचमी को पड़ती है। ये दशलक्षण पर्व प्रतिवर्ष हमें धर्ममार्ग का स्मरण कराने आते हैं। हमको चाहिये कि अपनी शक्ति के अनुसार हम क्षमादि धर्मों को अपने में उतारें। सबसे बड़ी चीज यही है कि अपने पर यथार्थ क्षमा करलो तो समझो कि सब कुछ कर लिया। हमने अनन्तज्ञानमय होकर भी, स्वभावदृष्टि से दूर रहकर इस संसार में घूम-कर अनन्त दुःख उठाए। अब मैं अपने स्वरूप को देखकर अहंकार से दूर रहकर अपने में अपने आप आनन्दमग्न होऊं।

समाधिशतक में भी लिखा है कि जाति और धर्म वेषभूषा या पहनावा का जिनके आग्रह है उनको मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मैं किसी जाति वाला किसी शरीर वाला नहीं हूं, मैं आत्मा चैतन्य जातिका हूं ऐसा जानूं। कोई भी आग्रह हो, चाहे जानूं कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं, वैश्य हूं, शूद्र हूं अथवा किसी प्रकार का विकल्प करे हुए हूं तो उस आग्रह के कारण मोक्ष नहीं होता है। हालांकि यह बात ठीक है कि तमाम जातियों में यह कोई श्रेष्ठ जाति है। और श्रेष्ठ जाति व आचरण वाले मोक्ष पात्र हैं। यदि संस्कार निम्न जातियों के हुए तो मोक्ष नहीं है। तो भी अपने आपमें किसी भी

पर्याय का आग्रह हो तो मोक्ष नहीं होता। मैं पुरुष हूं अथवा स्त्री हूं तो कोई भी विकल्प मेरे मोक्ष नहीं होंगे। मोक्ष की बात दूर रही। मेरा विश्वास है कि उसे सम्यक्त्व नहीं होगा। मेरा मेरे सहजस्वरूप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। अगर विश्वास नहीं है तो सम्यक्त्व नहीं है। मैं तो एक चैतन्यवस्तु हूं। मैं तो सबसे अछूता चैतन्यमात्र हूं। वह ज्ञानी नहीं है जो अपने को सबसे निराला तथा अछूता न निरखे। अपने आपकी सहज चैतन्यस्वभाव के रूप में पहिचान होगी तब सम्यक्त्व है। यह बात कहो कि हंसी-हंसी में ही शांति मिल जाय तो नहीं मिलती। हंसी-हंसी से ही यदि यह चाहो कि मोक्ष का मार्ग मिले तो नहीं मिल सकता है। मेरे लिए तो आध्यात्मिक तपस्या की जरुरत है। तपस्या तब होगी जब कि यह समझो कि मैं पुरुष नहीं हूं, स्त्री नहीं हूं, अपने को पुरुष स्त्री मनवाने वाली भावनाओं का तिस्कार कर दो। और ऐसी भावना बनाओ कि मैं मनुष्य नहीं हूं, मैं सदा आनन्दघन स्वरूप चेतन वस्तु हूं, मेरी भावात्मक ज्योति बढ़े यही काम है। देखो इंगलिश में 'आई' शब्द है जिसका 'मैं' अर्थ होता है। वह आई शब्द न पुरुषलिङ्ग है, न स्त्रीलिङ्ग है। इसी तरह संस्कृत में अहं शब्द है जो कि अस्मद से बना है वह शब्द भी न स्त्रीलिङ्ग है और न पुरूषलिंग है। तब सोचो 'मैं' शब्द भी जब स्त्री पुरुष दोनों से परे है तो वाच्य जो यह मैं चेतन वस्तु हूं, सो वह मैं भी न स्त्री हूं, न पुरुष हूं। मैं तो चेतनात्मक जगमग स्वरूप प्रकाशमान चकचकायमान एक वस्तु हूं। हे आत्मन ! तेरे में तो कोई विकार नही पर तेरे में ये जो विकार हो गए, विकल्प हो गए, विषय कषाय हो गए, वह तूने भ्रमवश ही झलका लिये। तू धन के ही पीछे पड़ा रहा, अपने परिवार के ही पीछे पड़ा रहा। अरे तेरा ये धन नहीं, तेरा यह परिवार नहीं। विकल्प तो तूने स्वयं ही इस जगत में बना लिए हैं। अरे यदि तू नुक्सान मान लेता है तो नुक्सान है और यदि नहीं मानता है तो कोई नुक्सान नहीं। चाहे हजार का नुक्सान है, चाहे लाख का, चाहे करोड़ का। उसे तू नुक्सान न मान वे तो सब परद्रव्य हैं, उनसे तेरा क्या सम्बन्ध ? हे जगत के प्राणी ! तू विकल्प छोड़ दे तो तुझे शांति हो जायगी।

घर में यदि कोई बीमार हो जाय तो जिसके बचने में संदेह हो तो उसके परिवार का इष्ट पुरुष कितना विह्वल रहता है। वैद्य आता तो उससे पूछता है कि सच तो बता दो यह बचेगा कि नहीं। यदि बीमार मर जावे तो दुःख वियोग का तो जरुर है, किन्तु अनिर्णय का अन्धेरा नहीं है। इससे पूर्ववत् भीतरी अज्ञान की आकुलता नही

है। पहिले क्लेश डबल था। अब केवल वियोग का क्लेश है। यदि कोई बीमार पुरुष के बारे में उससे यह कह जावे कि बचने की कोई आशा नहीं है। हां हो सकता है कि भाग्य अच्छा हो तो बच जावे। ऐसा कहने से उस इष्ट का दिमाग खराब हो जाता था और उसके हृदय में अशांति फैल जाती थी अब मर जानेपर भी अनिर्णय की आकुलता तो नहीं है। अज्ञान में होने वाली आकुलता बड़ी आकुलता है। मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं—इस प्रकार के विकल्प से सही ज्ञान नही मिल सकता है। ऐसी अवस्था में वह कितने ही धर्म के नामपर काम कर डाले, तपस्या कर डाले, उपवास कर डाले पर अहंकार भरे हुए हैं कि मैं शुद्ध हूं, मैं तपस्या का काम करता हूं, मुझे मोक्ष जाना है। तो विकल्पों से तो काम नहीं हो जाता। जिसका कोई आग्रह नहीं होगा वह ही निर्वाण का पात्र है। मुझे अपने आपमें विश्वास करना चाहिए कि मैं सब जीवों की भांति चैतन्यस्वरूप लिए हुए हूं। इसका नाम नहीं, आकार नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, मैं तो केवल भावात्मक चीज हूं, ज्ञानानन्दघन मैं हूं। यदि ऐसी ही बात होवे तो मैं निर्वाण का पात्र हूं, सम्यक्त्व का पात्र हूं। सम्यक्त्व मेरे से कहीं बाहर नहीं है।

जैसे नदी या सागर के तटपर पहुंचनेपर फिर नदी या सागर दूर बाहर नहीं हैं। वैसे ही सम्यक्त्व ही मोक्ष का एक तट है। उस तटपर पहुंचनेपर मोक्ष दूर नहीं। हां कोई बिरला ही आतमा आन्तरिक तपस्या में खिसक जाय। एसी अवस्था में निर्वाण कुछ दूर तो रह जाता है, पर अधिक दूर नहीं रह जाता है। और अगर अधिक दूर रह जाता है तो मोक्ष का मार्ग भी ज्यादा से ज्यादा निकट समझिये। यदि सम्यक्त्व बना रहे तो मोक्षमार्ग अत्यन्त निकट है। सम्यक्त्व में सही ज्ञान है और सही में उजेला है, वही बना रहे उसे तो निर्वाण का सुख अभी से है। निर्वाण सुख का ही रूप तो आत्मानुभव है।

जैसे आजकल लोग प्रायः गिलास में मसाले की लकड़ी से रसीला पानी पीते हैं। वह भरा हुआ गिलास लोग पीते हैं। उस भरे हुए गिलास में एक रस है। गिलास में रस भरा हुआ होता है वही तो एक संतान हो पाइप द्वारा मुंह में जाता है। यद्यपि गिलास में सर्वाङ्गसमृद्ध रस है और मुंह में अंश जाता है फिर भी वह आंशिक अंश व गिलास का रस एक रूप हो रहा है। तो देखो वह एक निर्वाण का सुख है। वह यद्यपि लबालब आनंदसागर कुछ आगे है मगर सम्यक्त्व के प्रभाव में उस आनन्द की ओट में उसका ही स्वाद लिया जा रहा है, उसका ही आनन्द लिया जा रहा है। उसके लिए

निर्वाण दूर नहीं है। सम्यक्त्व में ही आकुलताएं व्याकुलताएं नहीं हो पाती है और सम्यक्त्व भी निर्वाण का एक रूप है तथा सम्यक्त्व निर्वाण का एक स्वरूप है। निर्वाण कहते हैं सम्यक्त्व की एकरसता को। अतः सम्यक्त्व का ही नाम निर्वाण है, समझ लें तो मैं एक भावात्मक वस्तु हूं। स्थान का ही नाम निर्वाण हो, सो नहीं है। जहां भगवान स्वयं विराजमान है, शुद्ध भगवान की आत्मा जहां विराजमान है वहीं अनन्ते निगोद हैं, किन्तु निगोदिया तो यहां जैसे ही निगोदियों की तरह हैं प्रत्येक जीव अपने में अनन्त आनन्द, भगवान के स्वरूप, सुख और केवल ज्ञान को लिए हुए है। जो अपने को इन रूपों में नहीं समझता है वह जन्ममरण के चक्र में पड़ा रहता है। आत्मा जैसी आकार में है जिस क्षेत्र में है उसमें अनन्त आनन्दभरा हुआ है। निर्बल आत्मा की बात तो मैं नहीं करता, परन्तु जो आत्मा अपने आपपर विश्वास करता है, अपने आपपर दृष्टि करता है वह अनन्त आनन्द अपने में भरे हुए हैं। वह आत्मा अपने में ठसाठस आनन्दसे भरे हुए हैं। इस अपने अनन्तानंत भगवान आत्मापर विश्वास करता हुआ, अपने आत्मा को देखता हुआ चलें तो जीवन का प्रत्येक क्षण आनन्द से प्राप्त होता चला जायगा। मैं एक ज्ञानानन्द पदार्थ हूं, सत् हूं, अपने स्वरूप में नहीं हूं। मैं अपने ही द्रव्य से हूं और अपने ही क्षेत्र में हूं। प्रत्येक सत् में ४ चीजें पायी जाती हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। जैसे वह चौकी है तो यह एक वस्तु हुई। जितनी लम्बी चौड़ी तथा मोटी है यह उसका क्षेत्र हुआ और जो काली है कि पीली है यह हुआ भाव। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बने बिना कोई सत् नहीं हुआ करती है। कोई सत् है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लिए हुए है। चाहे वह मूर्तिमान पदार्थ हो चाहे अमूर्त। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का चतुष्टय अवश्य होता है। आत्मा को देखो कि मैं आत्मा गुणपर्यायमुक्त होने से द्रव्यरूप हूं तथा क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि को लिए हुए हूं। जो गुणपर्याय है उसका मैं पिंड हूं। मेरे में विकार नहीं, विकल्प नहीं। देखो गुण पर्याय का पिंड आत्मा है। यह सब यों नहीं बताया जा सकेगा जैसे पुद्गलपिण्ड को उठाकर बता देते हैं। ज्ञान से ही समझ में आता कि इसमें जो त्रैकालिक शक्ति है वह गुण है। उसका प्रतिसमय कोई न कोई पर्याय है और परिणमता है। जिसमें शक्ति है, गुण है, पर्याय है उसको देखकर यह कहा जा सकता है कि यह आत्मा एक सत् है। इसमें अन्य द्रव्यों की भांति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव है। जैसे एक धोती है तो वह एक पदार्थ है। उसको फैला दिया जाय तो व्यक्तरूप से क्षेत्र है

और उसको जो काला, पीला इत्यादि जो रंग है वह काल है। उसमें जो शक्ति है वह भाव है। इसी तरह से यह आत्मा एक द्रव्य है। इसमें गुण का प्रसार है, फैलाव है यही इसका क्षेत्र हुआ और इस आत्मा का क्षेत्र आकाश के क्षेत्र के बराबर नहीं बल्कि अपने आपमें जितना फैला हुआ है उतना ही मेरा क्षेत्र है। परमार्थ से जितना मेरा ज्ञान है उतना ही मेरा क्षेत्र है। यदि मैं २-४ कोस की दूरी तक जानता हूं तो २-४ कोस का क्षेत्र है और यदि हजारों कोस की दूरी तक जानता हूं तो हजारों कोस का क्षेत्र है। और यदि विश्व के विषय में जानता हूं तो विश्व के बराबर क्षेत्र है। प्रदेशतः जितने में यह मैं द्रव्य विस्तृत हूं उतना निजी असंख्यात प्रदेश मेरा क्षेत्र है। हमारा रूप दुःखरूप नहीं, क्लेश रूप नहीं, ये सब केवल हमारे विभाव परिणाम हैं। इन परिणामों से ही दुःख होते हैं। यदि हम ऐसे परिणाम न करें तो क्लेश नहीं हो सकते हैं, ऐसी खराब भावनाएं हो जाने से हम विकास नहीं कर पाते हैं। यदि हम विभाव न करें तो भी हम परिणमते तो प्रतिसमय ही हैं। जैसे कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय परिणमती रहती है। इस परिणमन को व इसके आधार को जो नहीं मानता है, उनका परिणमन भिन्न-भिन्न रूपों में रहता है और यदि भावात्मकता के परिणमन को देखो तो अन्य-अन्य है तब भी उनका परिणमन भिन्न-भिन्न भावों में रहता है। अहा! इस ज्ञानानन्दभावमात्र आत्मा को तो देखो, यह देखने के योग्य है, इसमें कोई विकार नहीं है। केवल यह आत्मा स्वरूप सत् मात्र है।

इस जगत में जितने भी द्रव्य हैं वे सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को लिए हुए हैं। इस भावस्वरूप चैतन्य का जो ज्ञान करे वह बड़े सम्यक्त्व के निकट है। बात कठिन पड़ रही है, मगर वस्तु में यह खास तत्त्व की चीज है।

जितने भी दर्शन बने, जितने भी वेदांत, सांख्य, बौद्ध इत्यादि बने, सबकी बुद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों से परिपूर्ण अपने सत्मात्र हूं। अपने ही द्रव्य में मैं सत् हूं। प्रत्येक द्रव्य अपने में सत्रूप होते हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपेक्षा सत् इस आत्मा में नहीं होता है।

यह कमण्डल, यह दरी कोई भी हो सब अपना-अपना, अलग-अलग सत् रखते हैं। कभी-कभी इस प्रकार की दृष्टि बन जाती है कि कोई सर्वपदार्थों को मिलाकर अपने को एक सत् मानते हैं। यदि वे स्वतंत्र स्वतंत्र सत् नहीं मानते हैं तो वह तो ब्रह्मवाद आ गया। परद्रव्यों में सत् रूप न देखना ही ब्रह्मवाद है। मैं तो अपने ही क्षेत्र में

सत् हूं, परके क्षेत्र में सत् नहीं हूं, मैं अपने अकेले में सत् हूं। यदि मैं ऐसा अपने को मान लूं तो मेरे में आकुलताएं व्याकुलताएं नहीं आवेंगी और यदि इसके विरुद्ध अपने को मान लिया तो अनेक प्रकार की आकुलताएं आ जावेंगी। इस तरह से मैं अपने को ज्ञानानन्द, चैतन्यस्वरूप निरखूं और यदि मैंने अपने को यह निरखा कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं साधु हूं, मैं अन्य कोई हूं तो उसका निर्वाण नहीं होता, वह दुःख के बन्धन में ही फंस जाता है। मेरी दृष्टि बाहर नहीं होनी चाहिए। मुझे यह समझना चाहिए कि मैं सबसे निराला चैतन्य स्वभावमय पदार्थ हूं। मेरे में वर्ण नहीं, जातियां नहीं। मैं तो सबसे जुदा हूं। ऐसा ही मुझे अपने को निरखना चाहिए। मैं किसी स्त्री स्वरूप नहीं हूं, मैं किसी पुरुष स्वरूप नहीं हूं, मैं किसी अन्य रूप नहीं हूं, मैं एक चैतन्यमात्र वस्तु हूं—इस प्रकार से जो अन्तर में अपने आपको निरखता है वह शांति का मार्ग प्राप्त कर सकता है।

जैसे कुछ लोग कहीं बाहर चले जा रहे है, मक्खियां सिरपर मंडरा रही हैं। शरीर में बराबर मक्खियां चोट मार रही हैं। यदि वे व्यक्ति किसी तालाब में जाकर डुबकी लगा लेवें तो सारी मक्खियों का प्रयास बेकार हो जाता है। वे मक्खियां उन पुरुषों को कष्ट नहीं दे पाती हैं। उसी प्रकार से इस जगत् के जीवपर अनेक विकल्प विपदायें मंडरा रही हैं यदि इस जगत का यह प्राणी अपने ज्ञानसागर में डूब जावे तो अनेक प्रकार के जो विकार हैं, विकल्प हैं वे उन्हें परेशान नहीं कर पावेंगे। इस जगत का प्राणी यदि अपने ज्ञानसागर में डूब जावे तो उसके विकल्प समाप्त हो जावेंगे और वह मोक्ष को प्राप्त करेगा। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, मेरे में अन्य-अन्य रूप नहीं हैं, मैं चैतन्यस्वरूप हूं—ऐसा मुझे अपने आपको मानना है। यदि अपने को यथार्थ रूप नहीं दिया जाता तो काम नहीं चलेगा।

आगे यह कहते हैं कि जहां कल्पनायें प्रतिभासित होती हैं वह तो मैं हूं, किन्तु ये अस्थिर कल्पनायें मैं नहीं हूं। इस समय अमृत को पीऊं और अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊं। इस जगत के प्राणियों को कल्पना मात्र से ही क्लेश होते हैं। जो कुछ वे कल्पनाएं बना लेते हैं उन्हें सत्य दिखती हैं, पर वे सत्य नहीं होती हैं। उन कल्पनाओं से उनसे उन्हें क्लेश होते हैं। जैसे सोते हुए व्यक्ति को स्वप्न में सब बातें सही दिखती हैं। वह उस स्वप्न में आनन्द मग्न हो जाता है। परन्तु वे सब बातें सही नहीं होती हैं। जैसे सनीमा के पर्दे में चित्र उछलता है, तो पर्दा नहीं उछलता है बल्कि

चित्र ही उछलता है। पर्दा का स्वरूप चित्र नहीं हो जाता है। पर्दा तो वह है जिसपर चित्र उछलकर गये। अपने में यह भावना बनाओ कि मैं चैतन्यमात्र हूं, मेरे में सुख दुःख नहीं हैं। सुख दुःख आदि विकार मुझ में उछल जाते हैं पर मैं तो चैतन्यशक्तिमात्र आत्मतत्त्व हूं। मैं सबसे निराला हूं। मेरे में मोह नहीं है। मैं तो अविनाशी तत्त्व हूं, मिटने वाला नहीं हूं। ऐसी श्रद्धा हे आत्मन् ! तू अपने आपमें बना।

हे आत्मन् ! यदि तू अपने आपको सबसे निराला शुद्ध अविनाशी समझे तो तुझे अविनाशी सुख प्राप्त होंगे। तेरे को कभी आकुलताएं व्याकुलताएं नहीं आवेंगी। और यदि तूने अपने को इसके विपरीत समझा, मैं तो संसार के समस्त प्राणियों से मिला हुआ है, यह मेरी मां है, यह मेरे भाई हैं, यह मेरी बुवा है, यह मेरे फूफा हैं तो उसको कष्ट ही रहेगा।

मैं तो जैसा हूं तैसा ही सदा बना रहने वाला हूं। मैं अन्य अन्य रूपों में नहीं हूं। हे जगत के प्राणी ! यदि तू अपने को अन्य-अन्य रूपों में मानेगा तो तुझे क्लेश प्राप्त होंगे और यदि अपने को भगवानरूप मानकर अपने में ही रम गया तो तुझ में आकुलताएं व्याकुलताएं कभी नहीं आवेंगी। मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं—ऐसा अपने आपको निरखो। तू अपने को भगवानरूप मान। तेरे में तो कोई विकार ही नहीं दिखते हैं, तू तो निर्विकार है। तेरे में दुःख कहां है ? तू तो सदा सुखी हैं। दुःखों का रंच भी तेरे में नाम नहीं है। तू अपने को शुद्ध चैतन्यमात्र समझ। तेरे में दुःख करने की, विकल्प करने की, कोई आवश्यकता नहीं है। तू अपने आपको भगवानस्वरूप मानकर अपनी ही अंतर आत्मा में रम और अपने में अपने लिए अपने आप सदा सुखी हो। देखो जो आत्मा है वह स्थिर व एक स्वरूप है उसमें जो अस्थिर व अनेक स्वरूप भाव झलकते हैं वे औपाधिक हैं। वे कल्पनायें मैं नहीं हूं, किन्तु जिस पदार्थ में कल्पनायें प्रतिभासित होती है वह मैं हूं। जैसे फिल्म के चित्र सिनेमा का पर्दा नहीं है किन्तु जिस पर चित्र उछलते हैं वह परदा है। यह मात्र लौकिक दृष्टान्त है। मैं समस्त पर्यायों का स्रोत तो हूं किन्तु किसी पर्यायमात्र नहीं हूं। जो पर्यायमात्र अपना अनुभव करे वह परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि है और जो ध्रुव स्वभावमय अपना अनुभव करे वह स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि है। अपने सहज स्वरूपमात्र अपनी श्रद्धा करना सो परमार्थ अमृत का पान करना है। इस अमृतपान से आत्मा अमर व अनुपम आनन्दमय हो जाता है। आनन्द तो यहीं इस आत्मा में है। सो अपने को सहज चैतन्यस्वरूपमात्र

निरखकर निर्विकल्प हो, अपने में अपने आप सुखी होऊं ।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है । सुख प्राप्त होवे, इसका केवल एक ही उपाय है, दूसरा नहीं है । वह यह है कि मैं एक स्वतंत्र स्वयं सत् हूं । मैं सबसे निराला एक जुदा पदार्थ हूं, ऐसा अपने आपमें विश्वास आ जाना यह ही सुख का उपाय है । मैं कैसा स्वतन्त्र पदार्थ हूं, मैं किसी पर अन्याय करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूं, किसी को धोखा देने के लिए नहीं हूं । मैं स्वयं एक स्वतन्त्र पदार्थ हूं और जगत के सब जीव भी स्वतन्त्र पदार्थ हैं । किसी पदार्थका दूसरा पदार्थ न कार्य है और न कारण है । इसी प्रकार स्वतंत्र जानते रहने का उपयोग करना ही सुख का उपाय है । मेरा कोई कारण नहीं है अर्थात् मैं किसी चीज से पैदा हुआ नहीं हूं । ऐसा निरखना ही ज्ञान है और ऐसा निरखने में ही सुख है । यह मैं किसी दूसरे पदार्थ से पैदा हुआ हूं ऐसी बात नहीं है । प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें है और अपने आपमें ही परिणमते रहते हैं मैं ऐसा ही ज्ञानमय हूं, सुखमय हूं । मैं स्वतन्त्र हूं और अपने आपमें अपने द्वारा अपनी शक्ति की व्यक्ति में परिणमता रहता हूं । मेरा जो परिणाम होगा वह ज्ञान और सुख का होगा । जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसा ही परिणमन होगा । जैसे आम में रूप गुण है तो आम में क्या काम होगा ? नीला हो जाय, पीला हो जाय, लाल हो जाय । रूप बदलता रहेगा । यही तो आम का काम है । आम में रस है तो रस बदलता रहता है । खट्टा हो जाय, मीठा हो जाय, कैसा ही हो जाय । यही तो आम का काम है । इसी प्रकार मेरा शुद्ध ज्ञान व आनन्द है तो मेरा क्या काम होगा ? कभी अपूर्णानन्द रहे, कभी पूर्णानन्द रहे, कभी अल्प ज्ञान रहे, कभी पूर्ण ज्ञान हो, यही तो मेरा काम है । यहां पर कोई दूसरा काम नहीं है । मेरे गुण से ही ज्ञान और आनन्द बर्तता है । यह मैं आत्मा अपने को सोचूं कि मैं आनन्दस्वरूप हूं, स्वतन्त्र अस्तित्व को लिए हूं । हूं तो अपने आपमें हूं । अपने आपसे ही ज्ञान व आनन्द मिलता है । किसी दूसरे पदार्थ से अपने को ज्ञान व आनन्द नहीं मिलता है । यह आत्मा ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है । मेरे में ज्ञान किसी दूसरे पदार्थों से नहीं आता है । मेरे में जो ज्ञान और आनन्द भरा हुआ है वह दूसरे पदार्थों के कारण नहीं हैं । दूसरे पदार्थ तो मेरे ज्ञान और आनन्द के बाधक बन सकते हैं । हमारे ज्ञान और आनन्द के वे साधक नहीं बन सकते हैं । परमार्थ से बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान और आनंद के बाधक भी नहीं बनते, क्योंकि हम स्वयं ही कल्पनाएं बनाकर विह्वल हो जाते हैं । मेरे में तो आनंद और ज्ञान है, मैं आत्मा अपने

स्वरूप में हूं । यदि किसी बाह्य में दृष्टि न हो, मोह न हो, विकल्प न हो तो हमारा ज्ञान जितना भगवान का है उतना हो जायगा । जितना आनन्द भगवान में है उतना हो जायगा । मैं तो सबसे जुदा हूं, फिर भी स्वयं ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हूं । मेरी और भगवान की जाति तो एक है, पर अन्तर इतना है कि उनके ज्ञान और आनंद परिपूर्ण अनंत है और हमारे ज्ञान और आनंद अल्प है । ऐसा क्यों हुआ ? हममें गल्ती यह हैं कि हम अपने स्वरूप को न लानकर दीन बने हुए हैं । यही गल्ती है और यही कारण है कि दुःख हो रहे हैं । जानकारी किसी भी चीज की कर लें तो जानकारी करने में दीनता नहीं आती है । दीनता तो केवल अपने में आशामयी कल्पनाएं बना लेने से आती है । दीनता से क्लेश आ जाते हैं । यदि आशायें मिट जावें तो दीनता भी मिट जायगी । यदि हमें दीनता मिटानी है तो पर की दृष्टि छोड़ दें । पर की दृष्टि से ही क्लेश होते हैं । अतः यदि पर की दृष्टि छोड़ दें और अपने आपके महत्व को समझें तो दीनता मिट जाती है । यदि अपने में दीनता का भाव न रहे तो आनन्द ही आनन्द है और अन्य इसका उपाय नहीं है । कितने ही उपाय कर डालें पर अधूरे ही रहेंगे । दुःख न हों, अशान्ति न हो, ऐसी अवस्था न हो, ऐसा चाहते हो तो अपने आपको कृतार्थ समझकर मुझे अपने आपपर विश्वास करना चाहिए । विश्वास यह होना चाहिए कि मैं एक सत् पदार्थ हूं, सत् ही स्वरूप हूं, अपने में हूं, मेरे में ज्ञान अपूर्ण नहीं, ज्ञान और सुख से लबालब भरा हुआ हूं । हालांकि इस समय एक समस्या सामने है कि भूख तो लगती ही है, इसे भोजन में तो दृष्टि देनी ही होती है, पर यह नहीं कि दृष्टि भोजन ही भोजन में रहे । उपाय तो ऐसा बने कि भोजन की इच्छा ही न रहे और ज्ञान व आनन्द ही रहे । भोजन तो करते ही जाते और पूरा कुछ पड़ता नहीं, तब इतना तो करो कि भोजन में आसक्ति न रखो । अपने पेट की केवल पूर्ति कर लो और अपने भाव निराहार ज्ञायकस्वभावमात्र की प्रतीतिरूप रूप कर लो तो अमर रह सकते हो । यदि भोजन की इच्छा दूर होगी और निराहार ज्ञायकस्वभावमय आत्मतत्त्व की दृष्टि होगी तो उसका यह परिणाम होगा कि आहार संज्ञा खत्म हो जावेगी और ऐसी स्थिति आवेगी कि यह शरीर छूट जायगा व इस संसार के सारे झगड़े छूट जावेंगे और केवल आत्मा ही आत्मा रह जावेगी । यही स्थिति सर्वोत्कृष्ट है । यदि मन में अन्य कुछ लालसा, लालच इत्यादि करने की भावनाएं बने तो फिर ऐसी स्थिति कैसे आ सकती है ?

लालसा करो तो इस बात की करो कि यथार्थ दृष्टि को अपने आपमें लाने की, अपने आपमें झुकने की, विकल्पों से छूटने की और अपने भाव की आत्मा की सेवा करने की बात बने । और ऐसी लालसा करना कि मेरे २ लड़के हो जावें, ४ लड़के हो जावें, मेरी ऐसी स्थिति बन जाय, धन हो जाय इत्यादि ऐसी लालसा बनने से तो ठीक नहीं होगा । अरे इससे पूरा नहीं पड़ेगा । ऐसा करने से तो कोई न कोई काम विपदा संकट खड़े रहेंगे ही । अब यह है, अब वह है, अब यह चाहिए और अब यह मिले—इस तरह से अनेक विकल्प खड़े ही रहेंगे । इस तरह विकल्पों से आकुलता ही आकुलता आयगी । हे प्रभो, हे निज नाथ ! मेरे में ऐसा बल भरो कि मेरे में केवल अपने आपकी शक्ति आवे, किसी भी बाह्य पदार्थ के विकल्प न बने । बाह्य पदार्थों को मुझे सोचना ही न पड़े । बाह्य को सोचने से कुछ लाभ भो नहीं है । सोचते होंगे कि हम लड़के को पढ़ाते हैं तो पढ़ता है । अरे लड़के का भाग्य है । अपने भाग्य से ही पढ़ता है । लड़के की सेवा करते हैं, खुशामद करते हैं तो यह बतलाओ कि आपका भाग्य बड़ा है कि आपके लड़के का भा य बड़ा है ? अरे आपके लड़केका भाग्य बड़ा है । जिसकी सेवा करते हो, पढ़ाते लिखाते हो, खिलाते पिलाते हो, भारी सेवायें करते हो तो उस लड़के का भाग्य अच्छा है कि आपका भाग्य अच्छा है । अरे जिसका भाग्य बड़ा है उसकी चिंता करते हो और अपने भवितव्य के प्रति चिंता नहीं करते हो । ये सब काम होते हैं अपने आप होते रहेंगे । सबके भाग्य व काम जुदा जुदा हैं । चिंता से पूरा भी नहीं पड़ेगा ।

ऐसी बाह्य चिंताओं से फायदा नहीं है । अपने आपका चिन्तन करो कि मैं शुद्ध, ज्ञानभाव ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं । केवल आत्मदृष्टि का ज्ञान होने का ही स्वाद लेकर यह अनुभव करो कि मैं आनन्दमय हूं, यदि बाह्य विषयों की स्थिति में रहे तो आनन्द नहीं है । आनंद है तो केवल अपने आपके ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में है, जिनकी हम पूजा करते हैं, जिनका आदर करते हैं, जिनका चरित्र पढ़ते हैं उन्होंने अपने आपपर विश्वास किया, बाह्यदृष्टि खतम की और अपने ही ज्ञानरस का स्वाद लेकर रहे इसलिए उनका आदर करते हैं, उन्हें पूजते हैं । जीवन में एक महान् उद्देश्य यह बनाना चाहिए कि मेरी वह स्थिति आवे जिसमें केवल अपने ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करता रहूं और ज्ञान स्वरूप का ही स्वाद लेता रहूं । अपने आपमें यह विश्वास हो कि मैं सबसे निराला स्वतंत्र एक पदार्थ हूं । मेरे में दूसरा कुछ फेर फार नहीं कर सकता है । मैं दूसरे लोगोंमें कुछ फेरफार नही कर सकता हूं । सब सत् हैं और अपने ही सत् के कारण वे निरंतर

परिणमते रहते हैं। मैं किसी का कारण नहीं जो किसी को कुछ कर दे सकता हूं। मैं किसी का कार्य नहीं कि दूसरे लोग मुझे कर दिया करतें हैं। सब अपने-अपने सत् के मालिक हैं। ऐसी दृष्टि यदि अपने में हो तो निश्चित मुक्ति का मार्ग है। समस्त जगत के जितने पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने सत् में रहते हैं और कोई भी अपने-अपने स्वरूप से आगे नहीं जाते हैं।

हे आत्मन् ! ऐसा अपने आपमें विश्वास कर कि जो मैं कर सकता हूं वह अपनेको ही कर सकता हूं। दूसरेको कुछ नहीं कर सकता हूं, भोग सकत हूं तो अपने स्वरूपको ही। हाय विषयकषायों के परिणाम में ही पड़कर जगत के सब जीव बरबाद हो गए हैं। मेरा भगवान तो अनन्त आनन्दमय है। इन सब परपदार्थों से मेरा कुछ सम्बंध नहीं, कुछ लेना देना नहीं, सब अपने अपने सत् में हैं, सब कुछ न्यारा न्यारा है, फिर भी बाह्य पदार्थों के बारे में ये कल्पनाएं उठ जाती हैं कि यह मेरी है, यह उसकी है। यह एक बहुत बड़ी विपत्ति छायी है। इन बाह्य पदार्थों में मेरा कुछ नहीं है। अपने ज्ञानरस का परिचय यदि नहीं है तो कुछ नहीं है। यदि बाह्य पदार्थों में दृष्टि होगी, बाह्य की आशा होगी तो अनन्त दुःख होंगे। सुख का उपाय अपनी स्वतन्त्रता का विश्वास है। जगत के सभी पदार्थों को अपनी स्वतंत्रता का विश्वास हो तो क्लेश नहीं है और यदि अपने स्वरूप से हट गए तो क्लेश ही क्लेश रहेंगे। यदि दूसरे पदार्थों में ही लगे रहे तो आकुलताएं आयेंगी। सो यह सुख और दुःख किसका फल है ? अरे दुःख सुख तो मोह का ही फल है। जगत के जीवों को देखो बाह्य में मोह करके दुखी और सुखी होते हैं। देखो इस जगत के जीवों को जो दुःख होते हैं वे उनके मोह और मिथ्यात्व के ही परिणाम हैं। मैं अपने आपको यह अनुभव करुं कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं, मेरे में ममता का परिणाम नहीं है। यदि अपने आपमें ऐसी भावना बने तो वही कल्याण का मार्ग है।

भैया ! कोई एक शराबी था। तो वह एक शराब की दूकानपर गया। बोला कि हमें अच्छी शराब दो। उसने बताया कि यह बहुत बढ़िया है इसे ले लो। कहा नहीं नहीं हमें बढ़िया शराब चाहिए। कहा देखो हमारी दूकानपर जो पांच-सात पड़े हुए हैं उनसे तुम अन्दाज लगा सकते हो कि शराब बढ़िया है या नहीं। मोह में क्या हुआ करता है ? तो मोह में आकुलताएं होती हैं। मगर देखते हैं कि ये जगत के सब जीव बाह्य पदार्थों में ही चिंताएं किया करते हैं, मोह किया करते हैं, दुःखी होते जाते हैं। यही सब तो मोह मदिरा का परिणाम है। फिर भी मोह के नशे के दुष्परिणाम का

विश्वास यह मोही नही करता ।

देखो अपने मोह की बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरे लोगों को देख लो कि यह उसका लड़का है, वह भी कहता है कि यह हमारा लड़का है । अरे यह बताओ कि उससे तुम्हारा क्या सम्बंध है ? वे तो सब जुदा-जुदा हैं । उनसे तुम्हारा कोई सम्बंध नहीं है । जो तुम्हारे घर में दूसरा कोई पैदा होता तो उससे तुम मोह करने लगते । अरे जो पैदा हुआ उसका तुम कुछ कर लेते हो क्या ? यह मेरा है—यह आशय आना ही दुःख का कारण है, दूसरा कोई दुःख का कारण नहीं है । अपने बारे में यह विश्वास करो कि मैं अपने आपमें हूं, स्वतंत्र हूं, मैं ही अपना कारण हूं, मैं ही अपना कार्य हूं । मैं जो कुछ कर सकता हूं, अपने को ही कर सकता हूं । मैं अपने आपको ही भोग सकता हूं । जो कर सकता है वह अपने आपको ही कर सकता है । अपने स्वरूप से बाहर दूसरे का कुछ नहीं कर सकता है । और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नहीं कर सकते हैं । सब वस्तु अपने-अपने स्वरूप में हैं । ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो वह अमृत का पान करता है ।

जिसने इसे अमृत का पान किया उसको आनन्द है । उसका ज्ञान दूसरे पदार्थों से नहीं आता । शिष्य को गुरु ज्ञान देता है तो गुरु केवल शिष्य का निमित्त होता है । ज्ञान तो उस शिष्य का आत्मा से ही प्रकट होता है, गुरु से ज्ञान नहीं प्रकट होता है । अगर गुरु दुसरों को ज्ञान देने लगे तो २०-२५ शिष्यों को ज्ञान देने के बाद में गुरु तो खुद कोरा रह जावेगा । गुरु यदि दूसरों को ज्ञान दे दे तो गुरु मूर्ख बन जावेगा । शिष्य में खुद ही ज्ञान भरा हुआ है, सो गुरु का निमित्त पाकर वह ज्ञाता बन गया । देखो कोई बालक बुद्धिमान होता, कोई मूर्ख होता । किसी को एक बार में ही याद हो जाता, किसी को मुश्किल से याद होता । क्या हो गया कि वह स्वयं ज्ञानमय तो है सो पूर्व जन्म की तपस्या के तारतम्य के अनुसार उसके ज्ञान प्रकट होता है । इसी तरह मेरा स्वरूप आनन्दमय है, मेरे में मेरे ज्ञान का ही विकास हो रहा है और मेरे में स्वयं आनन्द बर्त रहा है । दूसरे पदार्थों से मुझे आनन्द नहीं प्रकट हो रहा है । यदि बाह्य पदार्थों से आनन्द प्रकट होता हो तो बतलावो । इन बाह्य अजीव पदार्थों में ज्ञान और आनन्द तो है ही नहीं, फिर वहां से ज्ञान और आनन्द कैसे आयगा ? किसी दूसरे चेतन पदार्थसे आनंद कैसे आ सकता है ? उनका ज्ञान व आनंद उनमें ही परिसमाप्त है । मैं स्वयं आनंदमय हूं, मेरा आनंद मेरेसे ही होता है, दूसरोंसे मुझे आनंद नहीं होता है ।

हे प्रियतम ! बाह्य पदार्थों के विकल्प छोड़ दो और अपने ज्ञानरस का स्वाद लो । यदि अपनी सहज इस स्वतन्त्रता का विश्वास हो जाय तो यही अनुपम काम है । बाहरी पदार्थों के विकल्प से दुःख होते हैं, बाहरी पदार्थों से नहीं । कोई लड़का २० हाथ की दूरी पर खड़ा हो ओर दूसरा भी इतनी दूरी पर खड़ा है । यदि एक लड़का दूसरे को अंगुली दिखाकर चिढ़ाए । जिस लड़केको चिढ़ाया जा रहा है वह यदि विकल्प बना ले कि अरे यह तो हमें चिढ़ा रहा है, ऐसी कल्पना बनाने से, ऐसा ख्याल करने से उसे दुःख होता है, दूसरे लड़के की अंगुली से दुःख नहीं होता । बड़े-बड़े लोगों को किस कारण से क्लेश हो रहे हैं तो क्या विरोधी के कारण से क्लेश हो रहे हैं । अरे उन्होंने स्वयं कल्पना बना ली है कि यह मेरा विरोधी है, यह मेरे खिलाफ है, यदि यह कल्पना बना ली है तो क्लेश होते हैं, दुःख होते हैं । देखो इन दुश्मनों से दुःख नहीं होता है । केवल कल्पनाएं कर लेने से दुःख होता है ।

एक राजा था । वह किसी राजापर चढ़ाई करने के लिए जा रहा था, सो वह सेना सहित जा रहा था । रास्ते में जंगल से निकला । उसी जंगल में एक साधु था । जिस राजापर चढ़ाई करने जा रहा था वह साधु के पास बैठा था । साधु उसको कुछ उपदेश दे रहा था । अब राजा के कान में शत्रुवों के शब्द सुनाई पड़े । राजा ने समझ लिया कि शत्रु आ रहे हैं । कहां तो वह उपदेश सुनने के लिए विनयासन से बैठा हुआ था और कहां वीरासनी होकर बैठ गया । अब राजा ने शत्रुवों को देख लिया तो उठ खड़ा हुआ और उस राजा ने अपनी तलवार निकाल लिया । साधु बोला कि राजन् यह क्या कर रहे हो ? राजा बोला कि महाराज ज्यों ज्यों दुश्मन आ रहे हैं त्यों-त्यों मेरा दिल भड़क रहा है । मैं शत्रुवों को गर्क कर दूंगा । साधु बोला, राजन् तुम ठीक कर रहे हो कि अपने दुश्मनों को गर्क करने जा रहे हो, परन्तु एक शत्रु तो तुम्हारे अन्दर ही पड़ा हुआ है उसका भी तो दलन करो । राजा बोला, अरे मेरे अन्दर भी कोई दुश्मन है ? बताओ तो वह कौनसा दुश्मन है ? साधु बोला-महाराज तुम्हारा दुश्मन दूसरे को दुश्मन मानने का विकल्प है । तुम्हारा शत्रु तुम्हारा मोह है, विकल्प है । यह विकल्प ही तुम्हें चैन नहीं लेने देता । दूसरे शत्रु हैं, ऐसा ख्याल छोड़ दो तो कोई शत्रु नहीं है । दूसरा कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता है । ऐसा ख्याल छोड़ दो कि फलाना मेरा दुश्मन है । साधु की बात समझ में आ गयी । अब राजा शांत होकर, मुनि दीक्षा लेकर मूर्ति की भांति बैठ जाता है । दुश्मन आते हैं और देखते हैं कि राजा

तो शांत, मूर्ति स्वरूप बैठा हुआ है। सब उसको प्रणाम करते हैं। दुश्मन राजा को शांत मुद्रा में देखकर प्रणाम करके चले जाते हैं।

बतलाओ कि यदि वे राज्य हड़प लेते तो विजयी थे या हों ही शांत मुद्रा में रहकर सत्य विजयी बने तो विजयी है। अरे राज्य हड़प करने से मोह हो जाता और उन्हें दुःख होता। आकुलताएं व्याकुलताएं सदा बनी रहतीं।

इस कारण अपने आपमें विश्वास करो कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, आनन्दमय हूं, सबसे निराला हूं। बाह्य पदार्थ मेरे हों, ऐसी कोई गुंजाइश नहीं है। मैं मैं हूं, जो हैं वे अपने आपमें हैं, किसी का दूसरे से सम्बन्ध नहीं है ऐसे स्वतंत्र की दृष्टि हो जाय तो सुख और शांति का मार्ग मिल सकता है और कितना ही धन संचय हो जाय, कितनी ही इज्जत मिल जाय, पर अन्य की दृष्टि में शांति नहीं मिल सकती। हम रात-दिन दूसरों का ख्याल रखकर, दूसरों का विकल्प बनाकर परेशान रहा करते हैं। हम सबमें केवल एक यह ही बात नहीं आ रही है। किन्हीं भी परपदार्थों का ख्याल करना, अट-पटी कल्पनाएं करना और परेशान होना इतना ही काम प्राणियों का अब तक चला आ रहा है। कोई किसी का ख्याल करता, कोई किसी का ख्याल करता, मगर दुःखी होने की एक यह ही पद्धति सबके अन्दर पायी जा रही है। दूसरों का ख्याल करते, इष्ट अनिष्ट का ख्याल करते और परेशान होते हैं। योगियों में और प्राणियो में इन ही बातों का तो अन्तर है। योगी सम्यग्ज्ञान की ही पद्धति से चीजों को जानते हैं, इष्ट अनिष्टों को नहीं जानते हैं और अपने ही स्वरूप में मग्न रहते हैं। इस तरह के वे योगी सदा प्रसन्न रहते हैं और हम जगत के जीव परवस्तुवों के विकल्पों को लिए रात दिन पररेशान रहते हैं। वस्तुवों का स्वरूप देखो—प्रत्येक पदार्थ केवल अपने स्वरूप में उत्पाद और व्यय करते हैं। अंगुली चाहे अपने आप टेढ़ी हो, चाहे दूसरे मनुष्य अंगुली को दाब दें, पर अंगुली में जो टेढ़ापन बना है वह अंगुली की ही परिणति से बना है, वह इन ही स्कन्धों की परिणति से बना है, उस अवस्था का करने वाला कोई दूसरा नहीं है। परपदार्थों में जो कुछ भी हो जाता है वह उनके स्वयं अपने आपमें होता है, कोई दूसरा उसको नहीं करता है। एक निमित्त की बात को देख कर यह प्राणी गर्व करता है कि मैंने यह काम किया। जैसे अभी हारमोनियम बज रही थी तो वह कैसे बज रही थी ? ये इन भाई कि आत्मा की बात देखो तो यह आत्मा तो इच्छा, ज्ञान कर रहा था जिससे योग भी कर रहा था। उससे आगे इस आत्मा का काम नहीं।

इस शरीर को देखो सो अंगों में अंग हिल रहे थे, इससे आगे शरीर का काम नहीं। हारमोनियम में पीतल के तार हैं, उसमें हवा दी जाती है तब वह स्वर देती है, इतने पर भी वह स्वर शब्द तार से नहीं प्रकट हुआ, भाषावर्गणा के स्कन्धों से प्रकट हुआ है। जगत के इन प्राणियों को देखो इच्छा और योग अपने आपमें कर रहे हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहे हैं। इच्छा हो रही है, ज्ञान हो रहा है, अभिलाषा हो रही है। उनका निमित्त पाकर उनके आत्मप्रदेश में कम्पन हो जाता है। इच्छा जिसके होती है उसकी आत्मा में कंपन हो जाता है। जैसी अनुकूल इच्छा इस आत्मा में है उसी के अनुकूल हलन इस शरीर में है। उस योग का निमित्त पाकर शरीर में जो बात है सो वायु चली, वात में कम्पन हुआ, फिर वात का निमित्त पाकर इस शरीर के अंग चले, अंगुलियां चलीं। ऐसा स्वयं हो गया। इस ही तरह शरीरमें वायु चली और फिर अंग भी चल पड़े। उसके निमित्त से स्वर का दबाव हुआ, सो हवा निकलने का अवकाश मिला। देखो ये सब काम सबके अपने आपमें हो रहे हैं। यहां हवा पास होना हुआ और यहां आवाज का निकलना हुआ। इस पर भी पीतल से शब्द प्रकट नहीं हुआ, किन्तु भाषावर्गणा से शब्द प्रकट हुआ। कोई किसी अन्य को कुछ नहीं करता सब पदार्थों के जुदा जुदा काम हो रहे हैं पर निमित्त उनका एक दूसरों में है जिससे यह भ्रम हो जाता है कि अमुक ने यह काम किया, अमुक ने यह काम किया। वस्तुवों के स्वरूप को देखो तो परपदार्थों में स्वतंत्रता से उनका अपने आपके परिणमन से खुद काम हो रहा है। ऐसी स्वतन्त्रता की दृष्टि जब आती है तब ज्ञानी जीव जगत के पदार्थों के परिणमन को देखकर न हर्ष करते हैं और न विषाद करते हैं। अब यह देखिए कि हम परेशान हो रहे हैं तो किसलिए परेशान हो रहे हैं? अरे उनमें परेशान होने से क्या कुछ लाभ बना दोगे?

प्रथम तो ऐसा ही सोचें व यत्न करें कि मेरी दृष्टि बाह्य से हट जानी चाहिए। इसमें असफलता हो तो फिर आगे सोचें कि मैं किसके पीछे बरबाद हो रहा हूं, दुःखी हो रहा हूं? देखो पदार्थ दो तरह के हैं—(१) जीव और (२) अजीव। जीव वह कहलाते हैं जिनमें देखन हो, जानन हो और अजीव वह कहलाते हैं जिनमें जानन तत्त्व न हो। दो ही प्रकार के तो पदार्थ हैं। इनमें से जीव तो दिखता ही नहीं, जो दिखा करते हैं ये दिखने वाले पुद्गल हैं अथवा ये जो दिखते हैं भौतिक हैं। एक तो भौतिक हैं और दूसरे चेतन पदार्थ या देखने जानने वाले पदार्थ। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में

किस प्रकार के पदार्थों के पीछे परेशान हो रहे हो ? विचार करो कि जीव जिन जीवों के पीछे परेशान हैं वे दिखते ही नहीं हैं। और जीवी के स्वरूप में दृष्टि दो तो उनमें देखन है, जानन है, ज्ञानानन्दमय चेतन पदार्थ हैं। वे तो जैसे हैं तैसे ही हैं और वैसे ही सब हैं किसी से कोई विलक्षण नहीं है सब एक रस वाले हैं। जब कोई विलक्षणता नहीं है तो उनमें मेरे तेरे का भेद ही नहीं हो सकता। यदि विलक्षणता हो तो मेरे तेरे का भेद हो। परन्तु जीवों के स्वरूप को देखो कोई विलक्षणता नहीं है। ये स्वयं ज्ञानमात्र हैं, ज्ञायकस्वरूप हैं, कोई विलक्षणता नहीं है। भारत के, विदेश के, गांव के ये सब ही जीव शुद्ध ज्ञानमात्र हैं, आत्मा के मर्म में दृष्टि डालकर देखो तो शुद्ध ज्ञानमात्र हैं, एक स्वरूप में हैं। तो यह मेरा तेरा पन कैसे मिल गया कि यह मेरा है, यह उसका है, यह दूसरे का है अथवा यह इष्ट है, यह अनिष्ट है। स्वरूप में दृष्टि दो सो वहां कुछ नहीं मिलेगा। प्रथम तो इस जीव को पहिचानने वाले भी कोई नहीं हैं। और कोई पहिचाननहार मिल जाय तो इसका ज्ञाता दृष्टा हो जायगा तो उसकी दृष्टि भली बुरी नहीं होती है। सब प्रभु नजर आते हैं, एक चेतत पदार्थ नजर आते हैं। फिर वह कैसे व्यवहार करें, कैसे मेरा तेरा माने ? अपनी बरबादी दूसरों के कारण नहीं होती है। जो जीव हैं वे दिखने में आते नहीं हैं। जीव के पीछे तो हम बरबाद नहीं हो रहे हैं, परेशान नहीं हो रहे हैं, क्योंकि जीव तो दिखते ही नहीं। यदि वह दिखेगा तो ज्ञानी को दिखेगा। सो ज्ञानी की वृत्ति ही अलौकिक है वह परेशान होता नहीं।

परमार्थकी बात तो यह है कि जो कुछ भी दिखेगा वह अपने स्वरूप में दिखेगा। सब जीव हैं, एक रस हैं, इस दृष्टि में व्यक्तिपन ही खत्म हो जाता है। जीव के देखने वाले ज्ञानयोगी पुरुष व्यक्तियों को नहीं देखते हैं। वहां उसे केवल एक चित्प्रतिभास ही नजर आता है। तो वहां परेशानी कैसी ? जहां व्यक्ति नजर नहीं आते हैं वहां मेरी तेरी नजर कैसे बने ? वहां परेशानी कैसे हो ? सो जीव के विषय में तो यह बात है कि प्रथम तो जीव दिखते ही नहीं हैं, जो समझ में आते ही नहीं हैं उनमें परेशानी कैसे हो सकती है और नजर आ जाय तो यह जीव एक रस है, चैतन्यस्वरूप है, जीव के स्वरूप के समझनेपर व्यक्तियां नजर नहीं आतीं। व्यक्तियां हैं, भिन्न-भिन्न हैं, परिपूर्ण हैं, आनन्दमय हैं। आनन्द का अनुभव सबके जुदा-जुदा है, स्वरूपचतुष्टय सबका भिन्न-भिन्न है। ये जगत के जीव सुखी दुखी होते हैं। सब सच है, परन्तु जीव के स्वरूप को देखने वाले लोग, ब्रह्म के स्वरूप को समझने वाले लोग व्यक्तियों को अपने मन में नहीं रख

सकते हैं तो उन्हें एक चित्स्वरूप ही नजर आता है। सो मात्र जीवों के पीछे लोग परेशान नहीं हो रहे हैं। अब इन पुद्गलों की बात देखो, ये दृश्य तो हैं, मगर ये जड़ बुद्धिहीन, कुछ कार्य न कर सकने वाले, कुछ ज्ञान की कला को न समझने वाले ऐसे तो ये जड़ पुद्गल हैं, इनसे मुझे कुछ मिलता भी नहीं है। इनसे न तो कुछ सुख है और न ज्ञान ही आता है, उनके पीछे हम क्यों बरबाद होते हैं ?

मानो ये ज्ञानी मनुष्य इस कमरे में न बैठे हों। चौकी, १०, २० और टेबुल दो-चार तथा बहुत से अजीव पदार्थ हैं, पुद्गल रखे हुए हैं। वहां कौन बोलेगा, व्याख्यान देगा और कौन सुनेगा ? अरे उन अजीवों से लेना-देना कुछ नहीं है। वे जड़ हैं, वे अपने आपमें हैं, उनसे क्या होगा ? उनसे भी बरबादी नहीं है। हां उनके विषय में विकल्पचक्र में पड़ने से बरबादी होती रहती है। मैं बरबाद होता रहता हूं तो अपने आप होता रहता हूं। दूसरों के द्वारा मैं बरबाद नहीं होता हूं। दूसरों के पीछे विकल्प में पड़ने में परेशानी होती है और अपना ज्ञान बनाने में सुख होता है। जैसे पताका अथवा झंडा वायु से भर जाता है तो फड़फड़ाने लगता है, वायु से उलझ जाता है तथा सुयोग से यदि हवा बंद हो जाय या अनुकूल वायु हो तो सुधर जाता है अथवा फड़फड़ाना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान का निमित्त पाकर याने अज्ञान का निमित्त पाकर स्वयं में उलझ जाता है और ज्ञान का सुयोग से निमित्त बना लिया तो ज्ञान सुलझ जाता है। आपको परेशान करने वाला इस दुनिया में है कौन ? ये खुद बाह्य पदार्थों को निमित्त बनाकर परेशान होते हैं। यह परेशान एक उर्दू का शब्द है। इसे संस्कृत के शब्द में ले लो तो इसमें २ शब्द हैं—पर और ईशान। पर जिसका ईशान बन जाय। ईशान कहते हैं स्वामी को अथवा दूसरा मालिक बन जाय। यदि दूसरे को हम अपना मालिक समझ बैठे। यही परेशान शब्द का अर्थ है और इसे परेशानी कुछ नहीं है। दूसरे को अपना मालिक समझ लेना, खुद को परका मालिक समझ लेना, बस यही परेशानी की जड़ है।

धन्य है वह परिस्थिति, धन्य है वह अनुभूति जिसको केवल सहज ज्ञानरस का अनुभव आ रहा है। पर में विकल्प न हों तो वह परिस्थिति धन्य है। उस ही अनुभूति का नाम दुर्गा है 'दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा।' जो बड़ी कठिनाइयों से पूर्ण होता है उसे दुर्गा कहते हैं। यह स्वानुभव बड़ी कठिनाइयों से प्राप्त होता है। अपने आपमें ऐसा अनुभव बन जाय कि कोई बाह्य पदार्थ उपयोग में नहीं है। केवल शुद्ध ज्ञानरसका

अनुभव होता रहता है, ज्ञानदृष्टि होती रहती है, इसलिए ज्ञानदृष्टि से भी परिपूर्ण है। तब तो जीवन सफल है। अन्यथा क्या दुष्परिणाम हैं। उसका प्रमाण यह है कि जो अभी तक इस संसार में यह डोल रहा है। यदि शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो जाय तो यह शुद्ध आत्मतत्त्व इस शरीर के बंधन से मुक्त हो जाय। यह शरीर जड़ है, हड्डी और मांस से बना है। इसमें कोई सार नहीं नजर आना है। इस शरीर में फोड़ा फुंसी हो जावें, अनेक परेशानियां आवें, इसमें कोई सार नहीं नजर आता है। जो सुन्दर चुपड़े चापड़े बैठा है उसको छेद करके देख लो, इसमें कोई सार नहीं नजर आता है। इसमें कुछ भी नहीं है। इस शरीर को असार झौंपड़ी समझो और अपने आपको समझो कि मुझमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय तत्त्व मौजूद हैं। जैसे किसी गाड़ी में गधा और ऊंट जोत दो या हाथी और गधा जोत दो तो जैसी स्थिति होगी ऐसी ही स्थिति मेरी भी बनाई जा रही है। कहां तो ऐसा शुद्ध परमात्मतत्त्व मैं हूं और कहां इस असार शरीर का बंधन। बंधा हूं फिर भी अलग रहता हूं। एक का अनुभव करते हो तो कितने उत्कृष्ट भाव बनते हैं ? मैं तो पवित्र ज्ञानमात्र शुद्ध चैतन्य पदार्थ केवल ज्ञानमय, केवल ज्ञानानन्दमय हूं और ये पुद्गल असार हैं, अहित हैं, उनसे सम्बंध हो रहा है, फिर भी सम्बंध है नहीं। यह भीतर के अपने आप के स्वरूप को ताकता नहीं और बाहर में असार को देखकर सर्वस्व मान रहा है। ऐसी दृष्टि हो रही है। हे नाथ ! धन्य वह क्षण होगा जब सबको छोड़कर अपने आप पर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्यमें फंसे रहे तो बरबादी होगी। बाह्य में ही पड़कर नष्ट हो रहे हो। इन जीवो में जिसके पीछे पड़ रहे हो वे अशुद्ध जीव पदार्थ हैं। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगतके पीछे मोह में पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं अर्थात अपना ख्याल बनाकर, अपनी कल्पनाएं बनाकर ही दुःखी हो रहे हैं। तो जगत का स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है ? जो जैसा है वैसा जानते जायें तो स्वरूप रमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप को रुचि करके अपने में ही रमकर अपने आप विश्राम पाकर सुखी होऊं।

मेरा मात्र मैं ही हूं। मेरा अन्य कोई कुछ नहीं है। किसी के पीछे दुःख होना क्या है ? हठ हो रहा है। जगत में कौनसे विषय ऐसे हैं जो मेरी इस आत्मा को पूरा पार देंगे ? ज्ञान करके देख लो। संसार के लटोरे सटोरो में चिंताएं करना, हठ करना, यह मेरा है, यह उसका है, यह सब क्या है पुण्य के उदय का ऊधम है। बड़ा सोच

करते हैं कि यदि हठ नहीं करें तो संसार के लोग क्या कहेंगे ? भैया, माया की हठ से इज्जत नहीं बढ़ती । हिंसा करे, मान करे, अन्याय करे, द्वेष करे परिग्रही बने तो क्या जीव महान हो गया ? क्या जीव की इज्जत हो गयी ? अरे पाप किया और मर गए, मरकर कीड़े मकौड़े हो गये तो फिर क्या इज्जत रह गयी ? अपने धर्म से न चिगना यह सबसे बड़ी कमायी है । अपने नीति से, स्वभाव से, आत्मदृष्टि से न चिगना यह सबसे बड़ी कमायी है । इससे इस लोक में सुख है और परलोक में भी सुख रहेगा अन्यथा बाह्य में दृष्टि दो तो तुच्छ तुच्छ बातों में भी यह प्रभु फंस जाता है ।

एक सुना हुआ कथानक है । एक मास्टर और एक मास्टरनी थे । दोनों ही भिन्न भिन्न स्कूलों में पढ़ाने जाते थे । समझ लो इतवार का दिन हो, मास्टर ने मंगोड़ी बनाने का प्रोग्राम बनाया । बहुत अच्छा सामान बाजार से खरीदकर मास्टर ने घर में रख दिया । अब मास्टरनी मंगोड़ी बनाने लगी । बनाते बनाते २१ मंगोड़ियां बन गयीं । अब मास्टर भोजन करने बैठे, १० मंगोड़ियां मास्टर को परोस दिया और ग्यारह मंगोड़ियां अपने को रख लिया । कभी मजाक भी हो जाती है । जरा जरासी बातों में जिद हो जाती है । मास्टर ने कहा कि हमें दस मंगोड़ियां परोसीं और अपने लिए ग्यारह रख लिया । मास्टरनी बोली, मैंने तौ परिश्रम किया है इसलिए मैं ग्यारह खाऊंगी और आप दस खावोगे । दोनों का निर्णय हो गया कि दोनों चुप हो जावें । जो पहले बोल देगा उसे दस मिलेंगी और जो बाद में बोलेगा उसे ग्यारह मिलेंगी । अब दोनों चुप हो गए । अब दोनों चुप हो गए । एक दिन हो गया, २ दिन हो गये, भूखों मरे जा रहे हैं । भूखों मरते, तीन दिन हो गए मगर जिद नहीं छोड़ी । स्कूल के बालकों ने देखा कि मास्टर ३ दिन से स्कूल नहीं आते । वे मास्टर के घर आए । देखा दोनों मरे पड़े हैं । मरे नहीं थे मरे से हो गये थे । सब लोग जुड़ गए । सब लोगों ने देखा कि दोनों एक साथ मर गए । चलो इनकी अर्थी बनाकर लिटा लें और ले चलें । यद्यपि अभी मरे नहीं थे । पर वे मरे से हो चुके थे चुप रहने की जिद में । लोगों ने अर्थी बना ली और दोनों को लिटा लिया । अर्थी ले गए । आग लगाने ही वाले थे कि स्त्री ने देखा कि अब हम दोनों नहीं बचेंगे । तो भाग्यकी बात देखो कि अर्थी ले जाने वाले भी इक्कीस लोग थे । स्त्री झट बोली कि आप ग्यारह खा लेना हम दस खा लेंगी । लड़कों ने समझा कि ये मरकर भूत हो गए हैं । जब लोगों ने स्त्री के शब्दों को सुना तो डर गए । बोले कि अरे हम सबको ये खा जावेंगे । हम इक्कीसों ही खत्म हो जावेंगे । इसलिए छोड़कर

सब भाग गए। दोनों ही घर गए, बोले कि जो पहले बोला वह दस खावे और हम ग्यारह खावेंगे।

ऐसी कोई घटना अपनी जिन्दगी में धटित हो जाती है। बहुतसी ऐसी बातें हो जाती हैं जिनमें कुछ जान नहीं होती है और जिद पूरी हो जाती है। यह अज्ञान ही तो है। मोह की ही तो बात है। ज्ञान की शरण लो भैया, यदि ऐसा होगा तो क्या, न होगा तो क्या ? यों परिणम गया तो क्या, न परिणम गया तो क्या है ?

आपने देखा होगा कि उनमें क्षमा कर देने का माद्दा, दूसरों को माफ कर देने की बात बहुत अधिक होती है जो बड़े घराने के लोग होते हैं। उपद्रव और ऊधम इत्यादि ज्यादा भी होते हैं तो भी वे धीर रहते हैं। यह ज्ञानकी ही बात तो है। खराब प्रवृत्ति के लोग जो होते हैं वे छोटी-छोटी बातों में अड़ जाया करते हैं। जैसे कहते हैं सूत न कपास कोली से लट्ठमलट्ठा। दो आदमी चले जा रहे थे। एक किसान था और एक जुलाहा। एक मैदान मार्ग में मिला। किसान बोला कि अगर यह मैदान मिल जाय तो हम कपास बोवेंगे और कपासके कपड़े बनवाएंगे, व्यापार करेंगे, बेचेंगे। जुलाहा बोला कि अगर यह मैदान मुझे मिल जाय तो मैं भैंसे चराऊंगा। किसान बोला कि अरे तू भैंसें कैसे चरावेगा, मैं कपास बोऊंगा। जुलाहा बोला कि अच्छा देखो मेरी भैंसें चरती हैं या नहीं। रास्ते में चले जा रहे हैं। हाथ चलाकर किसान बोला तो मैंने मैदान हल से जुता लिया, बीज बो दिया। कपास पैदा हो गयी। जुलाहा, दस कंकड़ उठा लेता है और कहता है कि लो हमारी एक भैंस आ गयी, २ भैंसें आ गयी। दोनों में तेज लड़ाई हो गई।

ये जगत के प्राणी व्यर्थ की बातों में ही विवाद खड़ा कर देते हैं। घर की ही बात देख लो, घर में तो गुजारा करना ही पड़ता है। कई बातों के लिए लड़ाई लड़नी पड़ती, फिर भी एक लक्ष्य होने से शान्ति हो जाती। धर्म से ही काम हो तो धर्म के प्रसंग में भी विवाद समाप्त हो। धर्म के कामों में लगें और विवाद रहे यह सब तो आश्चर्य की बात है।

अरे ये सब क्या है ? अपने धर्म को छोड़कर कहां दृष्टि डाल रहे हो ? धर्म अपने आपकी आत्मा में है। अपने आपके स्वरूप में दृष्टि हो तो धर्म है। धर्म बाह्य दृष्टि से बाह्य में मोह करने से नहीं मिलेगा। शुद्ध परिणाम से ताल्लुक रक्खो तो धर्म होगा। अगर क्रोध आदि कषाय का बंधन होगा तो धर्म नहीं होगा। अरे मैं यह चेतन

पदार्थों के पीछे बरबाद हो गया, जिनमें कोई सार नहीं है। इस जगतमें जो जीव हैं वे दिखते नहीं हैं और जो अजीव हैं वे दिखते हैं, किन्तु जड़ हैं और जो जानने वाले हैं वे दीखते नहीं और जो समझते नहीं वे दीखते हैं। भाई जो रफ्तार चल रही है उसमें फर्क करना चाहिए। अपने को अपने आपमें झुका लो तो शांति का मार्ग मिलेगा अन्यथा संसार में रुलना ही बना रहेगा। जब तक हम अपने आपसे मुड़कर विमुख रहेंगे तब तक शांति नहीं आयगी। अपने को शांत रखने के लिए समर्थ स्वाध्याय है, आत्मचिंतन है। यदि अपने ज्ञान में सही ध्यान बने तो अपने आपको शांति प्राप्त होगी और यदि अपने आपमें सही ज्ञान न बना तो अशांति ही रहेगी। आत्म-कल्याण के बाहर दृष्टि करने से भी अपने को दुःख ही है। अतः ज्ञानबल से अपने आपको समेटकर, मैं अपने आपको देखकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं। सुखी होने का उपाय अन्य नहीं है आत्मदर्शन ही सुख का उपाय है।

अब तक भी जिन जीवों से सम्बन्ध हुआ उस प्रसंग को याद कर लो। क्या उनसे कुछ भला हुआ ? उनसे कोई हित है क्या ? अब से १० वर्ष पहले, २० वर्ष पहले जो संग था, परिचय था उस प्रसंग में कितना लाभ पाया था ? इस बात का भी ध्यान कर लो। जो भी सम्बन्ध हुआ उनमें यह जीव पछताता ही रहा है व पछताया करता है। इसे लाभ कुछ नहीं मिलता है। परिस्थितियां सब अलग-अलग हैं लेकिन तरीका एक ही सबका है। सम्बन्ध हुआ, राग किया, द्वेष किया, घटनाएं बनायीं कार्य किए। जिन-जिनसे परिचय हुआ उनसे क्लेश ही मिला, पछतावा ही मिला, अशांति ही मिली और वहां भी देखा तो जो जीव मोही है वह तो भूल भूलकर पछताता है। राग में पड़कर यह जीव तड़पकर व्याकुल होता और परेशान होता। मगर जो ज्ञानी जीव हैं वे राग में नहीं पड़ते। समय के अनुकूल ही अपनी अवस्था गुजार देते हैं, उन्हें कोई परेशानी नहीं होती और न दुःख ही सहने पड़ते। अज्ञानी जीव अपने आत्मतत्त्व को नहीं समझ पाता है, वह अपना जीवन यों ही गुजार देता है। अज्ञानी दूसरों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध का फल पछतावा होता है और इसका कोई निर्णय नहीं। जिनका सम्बन्ध अन्य जीवों से है वे भले ही मानें कि हम सुखी हैं, मौज में हैं, परन्तु अन्त में उसका फल अत्यन्त पछतावा ही रहता है। इस कारण कोई भी परपदार्थ मेरा हितरूप नहीं है। जो मेरा हितरूप है वह मैं ही हूं अर्थात् मैं अपने में यथार्थ हूं, मैं स्वतंत्र हूं, सत् हूं, चित् प्रतिभासमात्र चैतन्यस्वभावमात्र, जिसका काम

केवल जानन और देखन है ऐसा मैं हूं। हूं, अपने आपमें हूं। यह मैं आत्मस्वरूप हित-रूप हूं। यदि इसी तरह मैं अपनी आत्मा में देखूं तो यह मैं हितरूप आत्मा हूं, सो ऐसा हितरूप मैं मूर्त पदार्थ नहीं हूं जो आत्मा को देखा जाय, पकड़ने से जो पकड़ा जाय। नाक से जो सूंघा जाय, ऐसा मैं मूर्त पदार्थ नहीं हूं। जो हितरूप हैं वे किसी को दिखते नहीं और जो दिखते हैं वे हितरूप नही। फिर मैं किसके चिंतन में, किसके विचार में अपने आपको नष्ट कर रहा हूं? ये सारे विकल्प अनर्थ हैं। ये मेरे प्रयोजन को सिद्ध न करेंगे। प्रथम तो जितने विकल्प उठते हैं वे सब अनर्थ हैं। मेरे बाहर के सोचने से बाहर से कुछ आता नहीं। जितने भी लोग काम करते हैं, दूकान का, दफ्तर का, घर का, समाज का वे सब अपने आप होते रहते हैं। आप तो केवल अपना ज्ञान और योग करते रहते हैं। इच्छा कर लें और जानकारी कर लें, इसके अलावा कोई काम नहीं करते। जो कुछ काम होते हैं वे अपने आप होते हैं। यदि मैं करता होता तो जो मैं करूं सो होवे। पर ५ प्रतिशत तो इच्छा माफिक होते नजर आते हैं और ९५ प्रतिशत नहीं होते या प्रतिकूल होते नजर आते हैं। यदि सोचा तो ५ प्रतिशत भी मेरी इच्छा से नहीं होते हैं, करने से नहीं होते, वहां केवल विकल्प करना है। जो अनर्थ है। कार्य-कारी नहीं है। ऐसा संयोग सुयोग जिनका होगा वह होगा। मेरे करने से कुछ नहीं हुआ करता। मेरा करने से मेरा मैं ही होता हूं। दुःख, सुख होते, कषाय होते, अशांति होती। जो कुछ होते हैं वे मेरे में मेरे ही किए से होते हैं, मेरे से बाहर कुछ नहीं होते। परपदार्थ भी मेरे कुछ नहीं हैं और न होंगे। कितनी ही बातें ऐसी हो जाती हैं जिनको आप बहुत दिनों से सोचते आते हैं पर पूरी नहीं होती हैं। किसी काम को १० वर्ष से सोचते आते हैं पर काम नहीं होता है। ये तो सब पुण्य पाप के उदय के निमित्त की बाते हैं। जैसा पुण्य-पाप का निमित्त है तैसा बाहर में संयोग होता है।

ये जगतके जीव अपने आप कर्मोदयवश सर्वत्र विचरते रहते हैं। इनके जन्ममरण होते रहते हैं। जन्म होगा फिर मरण होगा। फिर जन्म होगा फिर मरण होगा। एक पंचेन्द्रिय का शरीर भी प्राप्त हो गया। आंखें देखने के लिए प्राप्त हो गयीं, कान सुनने के लिए प्राप्त हो गए। यह कुछ देखने लगा—यह शहर है, यह मोहल्ला है, यह फलां है इत्यादि। अरे यह सब मोह का आनन्द है। यहां पर पैदा हो गए। यहां कुछ समा-गम हो गया। उस समागम में इतना लीन हो गए कि अपने स्वरूप को भी खो बैठे। यदि अपने स्वरूप की चर्चा करे, अपने ही स्वरूप के निकट पहुंचें तो वहां आकुलताओं

का नाम नहीं रहता । अपना स्वरूप है केवलज्ञान । आत्मा सर्वपदार्थों से विलक्षण एक सत् है कि यह ज्ञान ज्ञाता ही बना रहता है । इसका और कोई काम ही नहीं है । सब अपनी-अपनी धुन में हैं । सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में परिणमते हैं । जैसे घड़ी में चाबी भर देने से चला करती है । तुम चाहे जो कर रहे हो घड़ी अपना काम कर रही है । वह खुद अपना काम कर रही है । दूसरा कोई उसके लिए नहीं है । जब काम कर चुकते देखा अरे २ बज गए, १ बज गया अरे ३ घंटा हो गया, इत्यादि । घड़ी अपने ही काममें व्यस्त है हम चाहे कुछ भी करें । इस मोटे दृष्टान्त के आधारपर देखो जगत के प्राणी अपने अपने काम में व्यस्त हैं, अपना-अपना काम करते हैं । ये प्राणी यदि दूसरे पदार्थों के बारे में सोचते हैं तो मानो वे पागलपन की बातें सोचते हैं ।

एक आदमी सड़क के पास एक कुवे की जगह पर बैठ गया । सामने से एक मोटर आयी । कुछ लोग मोटर से उतरकर कुवेपर पानी पीने गए । पानी पीकर मोटर में बैठकर लोग चले गए । अब वह व्यक्ति जो कुवें की जगह पर बैठा था, मोटर चली जाने से दुःखी हो गया । हाय मेरी मोटर चली गयी । इस तरह इस जगत के जीव इस सड़क के बीच कैसे पड़े हुए हैं ? चारों तरफ से इस लोक में जीव आ रहे हैं, कोई कहीं से आ रहा है । यह पागल प्राणी मान लेता है कि यह मेरा है, यह उसका है इत्यादि । तो ऐसा सोचने से क्या उसका हो गया ? अरे जो आए हैं वे मिट जावेंगे । उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, पर इस मोही जीव ने मान लिया कि ये मेरे हैं । सो वे अपने परिणमन से आये हैं और अपने परिणमन से ही जावेंगे । जब जाने का टाइम होगा तब चले जावेंगे और यह व्यर्थ सोचकर दुखी बनेगा । पर यह मोही प्राणी उनके ही पीछे पागल हो रहा है, दुःखी हो रहा है । यह मेरा था और चला गया । इस तरह से व्यर्थ के विकल्प से ही मोही दुखी होते हैं । जरा अन्तरदृष्टि तो दो । हमारा इस जगत में है क्या ? अरे यह मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, सब से जुदा हूं । ऐसी दृष्टि यदि बने तो आत्मज्ञान मैं पा सकता हूं, नही तो आत्मा का ज्ञान पा सकना मुश्किल है । इस आत्मा को स्व-लक्षण की दृष्टि से देखो कि मैं आत्मा ज्ञानमय हूं, यह आत्मा ही मेरा धन है । यही मेरा निजी घर है । यह आत्मा ही मेरा निजी परिवार है । इस मेरी आत्मा में जानन की ही व्यवस्था है । जानन के अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं है । ऐसा मात्र जाननस्वरूप अपने को निरखें तो वहां न तो भोग का पता रहता है और न जगत का पता रहता है । किन्तु ज्ञानमात्र का अनुभव करना व भोगना रहता

है यही सिद्ध योगियों की स्थिति रहती है। जिनके विवेक है, ज्ञान है, समझदारी है तो वे संसार के दुःखों से दूर रहते हैं और जिनके भ्रम है, अज्ञानता है वे इस संसार में ही पड़े रहते हैं, दुःख उठाया करते हैं, उनकी उन्नति नहीं हो सकती है। हे आत्मन्! इन बाह्यों में कौनसा सार है, कौन शरण है, उनमें पड़ने से तुम्हें क्या लाभ मिलता है? अरे इन बाह्य से कुछ नहीं मिलेगा। यदि अपने में ऐसा ज्ञान बनाओ, ऐसी हिम्मत बनाओ जिससे तुम स्वयं स्वयं में स्थिर हो सको तो मुक्ति का मार्ग मिल जायगा, नहीं तो मुक्ति का मार्ग न मिलेगा। हे प्रभो! मुझे मुक्ति मिले या न मिले किन्तु इतना बल होवे कि राग में पड़कर अंधा न बनूं, द्वेष की ज्वाला में न जलूं। राग द्वेष करना ठीक नहीं। केवल इतनी बात हो जावे तो मुक्ति का मार्ग तो मिलेगा ही, रागद्वेष में पड़ने से कुछ लाभ न हो सकेगा। राग जिनसे करते हो उनको सामने लेकर प्राइवेट बात कर लो। उनके पीछे पड़कर क्यों रात-दिन चिंतन किया करते हो?

इतना ही ध्यान रक्खो कि वे क्या मेरे किसी हित में काम आ सकते हैं? मेरे कल्याण में कैसे साधक हो सकते हैं? जब तक हम जानते हैं कि उनसे हमारा कल्याण होता है तब तक हम भूले हुए हैं। अरे उनसे हमारा भला नहीं होगा। उनके सम्पर्क से तो हम जहां के तहां ही हैं और वहां से भी कुछ नीचे हैं। कौन से पदार्थ हितरूप है—निर्णय करो और निर्णय आ जाय तो परपदार्थों से उपेक्षा भाव कर लो। कोई मेरा हितरूप नहीं, इसलिए किसकी चिंता करके, किसका विचार करके अपने अपको बर्बाद करें? सब ओर से हटकर केवल ज्ञानमात्र, प्रतिभासमात्र मैं हूं—ऐसा दृढ़ सत्य का आग्रह करके मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं। सुखी होने का दूसरा उपाय अन्य नहीं है। मैं ही मान जाऊं कि मैं सब कुछ हूं, परिपूर्ण हूं, अधूरापन मेरे में नहीं है। मेरा बाहर में करने का कोई काम नहीं है। मैं हूं, ज्ञानमय हूं, ज्ञान में ही बर्तता रहता हूं, इसके आगे मेरा काम नहीं है। अन्य को मान लूं कि मेरा काम है। इसमें गल्ती है। दुःख होना प्राकृतिक बात है। जिसमें मैं हूं मान लूं तो दुःख होने की कोई बात ही नहीं है। हम तो भगवानस्वरूप हैं। जैसा जानन भगवान का है तैसा ही मेरा है। मगर हम तो बहुत सी बातें बनाकर जानते हैं, जैसा है वैसा नहीं जानते हैं। सो देखो उन से भी बढ़कर बन गए हैं। कोई छोटा आदमी किसी बड़े आदमी से स्पर्धा करे, हिम्मत करे कि मैं इससे बड़ा बन जाऊं तो इसका फल पतन है। हम भगवान से बढ़कर बनाना चाहते हैं। भगवान नही जानता है कि यह मेरा घर है, यह फलाने

लाल का घर है, यह मेरी चीज है, यह फलाने की चीज है। मगर हम कहते हैं कि यह मेरा घर है, यह फलाने लाल का घर है, यह चीज मेरी है इत्यादि। वह भगवान तो शुद्ध है, सीधा साधा सही जानता है, अक्लमंद नहीं बन रहा है। जैसे वह इस मकान को ऐसा जान रहा है जैसा कि यह परिणमता है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है पुद्गलों का स्कन्ध है, जैसा है तैसा इसे जानता है प्रभु। यही जानन है। और यह मैं जो नहीं उसे भी जानने का विकल्प करता हूं। मोही यह जानता है कि यह अमुक लाल का घर है, अमुक की चीज है, अमुक लाल की चीज है। परन्तु वह प्रभु तो जो है उसे ही जानता है और जो नहीं है उसे नहीं जानता है। यह जगत का प्राणी जो है वह नहीं जानता है और जो नहीं है वह जानता है।

हे आत्मन्! २४ घंटे के समय में कुछ ही समय में यथार्थ जानकारी कर लो, सम्यग्ज्ञान कर लो। हे आत्मन्! अपने से अलग चीज में लगने में कोई फायदा नहीं है। अगर स्वच्छ उपयोग को जान जावो तो रोज-रोज लाभ ही मिलता रहेगा और जो मोह में ही रहेगा तो उसे अंत में मिलेगा कुछ नहीं। जाना पड़ेगा अंत में अकेला ही। मुट्ठी बाँधे आया है और हाथ पसारे जावेगा, यह कवियों की एक कल्पना है। जब बच्चा पैदा होता है तब मुट्ठी बंधी ही रहती है। कवियों की ऐसी कल्पना है कि जो पूर्वजन्म में पुण्य किया है उस पुण्य को ही वह मुट्ठी में लिए हुए है। जन्मते समय उस बच्चे के पास सब पुण्य होता है- परन्तु ज्यों ज्यों आयु बढ़ती है, विषय कषाय के भाव बढ़ते हैं पुण्य खुलता है त्यों-त्यों हाथ खुलता जाता है। वह मरते समय तक सब पुण्य खत्म कर चुकेगा विषय कषायों में रत होकर। जिन्होंने बचपन में ज्ञान नहीं किया, जवानी में विषयों से उपेक्षा नहीं की और चाहे जो कुछ भी जीवन में धर्मक्रिया की हो, व्यवहार किया वह कुछ नहीं रहता है, केवल विषयकषायों की आकुलताएं ही रहती हैं। जन्मते समय बच्चा केहां-केहाँ बोलता है। कवियों की कल्पना है कि बच्चा सोचता है कि 'मैं कहां था और कहां आ गया ? कैसा सुख से था और अब कहां दुःखों में आ गया ?' बचपन में मां-बाप ने खूब लाड़-प्यार किया, खूब मौज किया। विवाह हो गया, स्त्री प्रसंग किया और एक क्षण को भी अपने आत्मस्वरूप पर ध्यान न दिया तब, जब वृद्धावस्था आयी, दुःखों से घिरे तब पछतावा करते हैं। विषयकषायों की भावनाएं रखने का ही कुफल इस वृद्धावस्था में मिलता रहता है।

अगर बचपन से ही अपने आपके स्वरूप के अध्ययनपर ध्यान लगता, धर्म के

काम करता तो ऐसी परेशानी वृद्धावस्था में नहीं आती। ये जगत के प्राणी जन्मते समय से ही विषय कषायों में मोह में रहे, आरम्भ परिग्रह में रहे और धर्म के कार्यों में न लगे। निज के स्वरूप को न देख सके तो तब अंतिम अवस्था में बरबाद होते हैं, दुखी होते रहते हैं। मरने के समय उनकी वैसी गति हो जाती है जैसी कि मति रहती है। वे जन्ममरण के चक्र में ही पड़े रहते हैं, ८४ लाख योनियों में ही वे पड़े रहते हैं। अनेक प्रकार के शरीरों में जन्म ले करके जो इस मनुष्य शरीर के जन्म में आते हैं और अपनी जिम्मेदारी नहीं रखते हैं, अपनी जिम्मेदारी न रखने से ही वे खराब होते रहते हैं और अपने भविष्य को खराब किया करते हैं। जिन्होंने अपने को उत्तम बनाकर अपने भविष्य को बनाया, अपने को अपने आपके उपयोग में लगाया तो उनकी सद्गति होती है और भविष्य उज्ज्वल होता है। अगर अपने भविष्य को खराब किया, आत्म-तत्त्व को न समझ पाया तो उनका पतन होता है। हमें अपनी जिम्मेदारी अनुभव में लेनी चाहिए और वह जिम्मेदारी यह है कि भाई हजार-पांच सौ कम आते हैं तो कम आने दो। नष्ट होते हैं तो नष्ट होने दो, उनसे तुम्हारा कोई सम्बंध नहीं है। मेरा सम्बंध तो मेरे परिणाम से है। यदि मेरा परिणाम मेरे स्वभाव के अनुकूल है तो उत्तम है और यदि प्रतिकूल है तो दुःख होंगे। भाई अपने पर्याय के गर्व में आकर अपने को महान् समझना और दूसरों को तुच्छ समझना, इससे तो कोई लाभ नहीं है। यदि ऐसे ही विचार बने रहेंगे तो अपने सही स्वरूप का पता नहीं हो पायगा और यदि यथार्थ विचार बनेंगे तो कोई उपद्रव नहीं होगा और न दुःख ही होंगे।

सब ज्ञानीं हैं, ऐसी दृष्टि रहे और जिस दृष्टि के प्रताप से बड़ा न्यायपूर्ण व्यव-हार बनता है वह व्यवहार भी रहे तो लाभ में रहे और अगर न रहे तो मोह का स्वप्न है। जो चाहो विकल्प कर लो, मगर फल खराब ही रहेगा, कोई हित नहीं रहेगा। यह उपयोग सिंहासन ऐसा स्वच्छ स्वभाव का है कि जिसपर प्रभु विराजमान रहते ही हैं, चाहे प्रभु का ज्ञान हो, चाहे अलौकिक ज्ञान हो, ऐसे आसनपर मोही जीव मोही जीवों को बैठाकर, जगत में रुलने वाले अज्ञानी जीवों को बैठाकर गंदा कर रहा है ना। मैं अपने आपको गंदा न करूं तो स्वच्छ ही बना रहूं। अपने आपको शुद्ध एवं स्वच्छ बनाओ। यही तेरा सर्वस्व है और यही तेरा सिंहासन है।

अपने आपको यह समझो कि मैं सबसे निराला, ज्ञानानन्दघन, भावात्मक, चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूं, इस प्रकार की दृष्टि अपने निज प्रभुपर रहे तो यही यथार्थ ज्ञान

है। राग, द्वेष विकार इत्यादि की तरंगें मेरे में न हों। ऐसा यह तेरा प्रभु ही याने तेरा स्वरूप ही उत्कृष्ट है। ऐसा यदि उपयोग अपने प्रभु के प्रति लगाए रहें तो हमारा उपयोग स्वच्छ होता है और सारे उपयोग पाप, अज्ञान और मोह इत्यादि से संसार में रुलना ही बना रहता है। अगर इस संसार में ही भटकते रहे तो सदैव अपवित्र ही बने रहेंगे। इस जगत के प्राणी को अपवित्र रहना ही सुहावना लग रहा है। इसमें ही विपत्तियां हैं, दुःख हैं। यदि यह प्राणी अपने उपयोग से परलगाव को टाल दे तो प्रकाश मिलेगा, ज्योति मिलेगी और मुक्ति का मार्ग मिल जायगा।

अरे अपने को बरबाद किये जा रहे हैं। अपने आपके अन्तरङ्ग में दृष्टि नहीं लगाते हैं। यह एक बड़ा भारी जीव को संकट है। अरे इनको क्या संकट मानें? १० हजार रुपये का नुक्सान हो गया, अमुक गुजर गया। इनमें तू संकट मानता है। मेरी आत्मा जाननस्वरूप है, जानन को ही लिए हुए है, स्वच्छ है। जिनका संयोग है, होगा उनका कोई रोकने वाला नहीं है। अपने स्वरूप को देख, तू सर्वदा पूर्ण है। ज्ञानी होगा तो वह सदैव ही आनन्दमय होगा और प्रसन्न चित्त रहेगा, परन्तु यदि अज्ञानी है तो निरन्तर दुःख ही रहेंगे। इस तरह अगर बाह्य पदार्थों में ज्ञान आता है कि यह मेरा है, यह उसका हैं तो यह एक बड़ा भारी संकट है। इन संकटों का करने वाला मैं ही हूं। मेरे में संकट इन बाह्य पदार्थों के उपयोग से ही आता है। जो साधु जन हैं, योगी जन हैं, प्रभु के भक्त हैं वे बाह्य में अपने को नहीं फसाते हैं। यही कारण है कि उनके पास संकट नहीं आते हैं। जिन बाह्य को अपने उपयोग में लाकर संकट सहते हो, मौज मानते हो वे संकटों को बढ़ाने वाले हैं, संकटों के हटाने वाले नहीं हैं। अरे संकटों के बढ़ाने वालों से इतना मोह और हटाने वालों से इतनी विमुखता। जो संकटों को देते हैं उनसे इतनी प्रीति है। ये चेतन अचेतन वैभव जो मिलते हैं उनसे मोह अंधकार मिलता है, राग मिलता है जिसका फल क्लेश ही है सो क्लेश सहते जाते और उसी में मौज मानते जाते हैं। जैसे मिर्च खाने की आदत हो जाती है। खाते जाते हैं, सी-सी करते जाते हैं, आंखों से आंसू गिरते जाते हैं, दुःखी होते रहते हैं, फिर भी खाना नहीं छोड़ते हैं। ये सब बाहरी पदार्थ हैं। इनमें जो बुद्धि करेगा उसे उपद्रव प्राप्त होंगे, दुःख होंगे। संकट होंगे। संकट सहते जाते हैं और प्रीति करते जाते हैं। उनसे बच्चोंसे, स्त्रीसे, घरके लोगों से, राग के झगड़े चलते रहते है, रिसा जाते हैं रुठ जाते हैं और शामको फिर लो अपना लिया। इस तरह से इन मोहियों का काम चलता रहता है। गृहस्थी में रहें, और परि-

वार के लोगों को छोड़कर रहें, यह तो नहीं हो सकता है। रहो, पर भीतर से ज्ञान साफ होना चाहिए।

मेरा मात्र मैं ही हूं, मेरा सर्वस्व हितकर मैं ही हूं इसलिए अपने आपमें साफ बना रहता हूं। अगर मैं अपने आपमें मजबूत हूं तो किसी की ताकत नहीं कि दुखी करदे। ऐसी ताकत अपने आपमें बना लेने से दुःख नहीं बन सकते हैं। ये जगतके पदार्थ परमाणुमात्र भी मेरे नहीं हैं। ऐसे भिन्न अगर बन जावें तो दुःख नहीं हो सकते हैं। महिमा तो ज्ञानकी है और तो सब फिजूल है। महिमा तो एक ज्ञानमें ही है। शुद्ध ज्ञान है तो विजय है और नहीं है तो मलीन है, और मलीन होने से सर्वत्र संकट ही संकट हैं। ये संकट कोई दूसरा थोड़े ही लाता है, खुद अज्ञानी है तो संकट में फसे। अपने को संकटों से बचाना है तो उपाय सही बने और आत्मस्वरूप ही ज्ञानमात्र है आनन्दघन है, अपने आप ही परिणमता रहता है, इसके बाहर मैं कुछ नहीं हूं—ऐसा उपयोग बने।

अरे सेवा करता कौन है ? भीतर से कषाय की प्रवृत्ति होती है, उससे प्रेरित होकर सेवा करते हैं, अपने भीतर से ऐसा ज्ञान जगे कि मैं ज्ञानमय हूं, ज्ञानानन्दघन हूं, मैं अपने परिणमने के अतिरिक्त कुछ नही करता हूं तो वह सदा सुखी रहेगा।

एक आदमी था। वह अच्छे घराने का था। किसी कारण से उसको कैद हो गयी। कैद में चक्की पिसाई जाती थी। चक्की पीसता रहता था। कभी-कभी यह ख्याल आ जाता कि अरे मैं अच्छे घराने का हूं और चक्की पीसना पड़ता है। वह यह नहीं सोचता कि यह जेलखाना है चक्की पीसना ही पड़ेगा। वह यह सोचकर कि मैं अच्छे घराने का हूं, चक्की पीसना पड़ रहा है, दुखी हो जाता है और कषाय भी आ जाती है। यह सोच सोच कर दुःख बढ़ते ही जाते हैं। उसे यदि यह मालूम हो जाय कि यह जेलखाना है। चक्की पीसना ही पड़ता है तो उसका दुःख चौथाई रह जायगा और यदि रईसी के ख्याल के परिणाम रहे तो दुःख चौगुने हो जाते हैं।

अगर यह परिणाम बने कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरा भावात्मक ज्ञान स्वरूप है तो ऐसा ज्ञान करने पर प्रसन्नता ही रहेगी, आकुलताओंका नाम भी नहीं रहेगा। जैसा मैं हूं वैसा न सोचकर औपाधिक नाना माया रूपों रूप सोचता हूं तो दुःख व संकटों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। ये दुःख संकट के पहाड़ भी मायारूप हैं केवल काल्पनिक हैं। मैं अपने ज्ञान से ही यथार्थ ज्ञानको समझूं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

लोक में जितनी भी प्रवृत्ति है वह सब अज्ञान का फल है अर्थात् जितने काम

किए जाते हैं, जितनी चेष्टाएं की जाती हैं, जितने व्यवहार किए जाते हैं सब अज्ञान से होते हैं। ज्ञान का फल नहीं है। यह बोल, सम्बन्ध, रिश्ता मानना है, देश का काम, जाति का काम, धर्म का काम, व्यवहार का काम, चलना, उठना, बोलना, चर्चा करना, गृहस्थ धर्मपालन, साधु धर्मपालन, यावन्मात्र जितनी भी प्रवृत्ति हैं सब अज्ञान का फल है। ज्ञान का फल तो निवृत्ति है। जितना हट गए उतना तो ज्ञान है और जितना लग गए उतना अज्ञान है। जो कुछ हम कर रहे हैं वह अज्ञान का गंध है, अज्ञान का फल है। ज्ञान का फल तो निवृत्ति है। प्रवृत्ति अज्ञान का फल है। यहां शक हो सकता है तो धार्मिक प्रवृत्ति में भी क्या मूल अज्ञात हो सकता है।

हम मित्रों को जानते हैं तो यह ज्ञान का फल है या अज्ञान का फल है। तत्त्व-दृष्टि करके देखो तो अज्ञान का फल है। तब सोचो कि हम ज्ञान का फल उत्पन्न करते हैं कि अज्ञान का। यदि मात्र जानना हो तो ज्ञान का फल है किन्तु इष्टपने का भाव होना तो अज्ञान है। बहुत भीतर के सूक्ष्म की बात कह रहा हूं। हमारी वह हिंसा न हटे तो ज्ञान का फल है कि अज्ञान का फल है? अज्ञान का फल है। अच्छा धर्म के कितने काम बताए जाते हैं, कितने व्यवहार धर्म के करते हैं? आसन लगाते हैं, पंच-परमेश्वर की उपासना करते हैं, मालाएं जपते हैं, यह सब लोकदृष्टि में भले ही ज्ञान है, पर है अज्ञान का फल। ज्ञान कहते किसे हैं? ज्ञान का उगना क्या है? यह हम सूक्ष्म बात बतला रहे हैं। ज्ञान एक प्रतिभास सही जाननहार है, उसके होने से आत्मा में कुछ भी तरंग कहां रहेगी? यह तो ज्ञान का फल और जान करके किसी भी काम को करना क्या चाहिए कि स्वाध्याय होना चाहिए। जानन होना चाहिए, साधु सेवा होनी चाहिए, देश सेवा, समाज सेवा के अन्य कार्य होने चाहियें आदि कुछ भी जिनका लगाव है वह है अज्ञान का फल और सर्व परभाव से जो निवृत्ति है वह ज्ञान का फल है।

एक उदाहरण लो। एक रस्सी सामने पड़ी हुयी है, कुछ उजेला अंधेरा हैं। रस्सी को देखकर यह भ्रम हो जाय कि यह सांप है। इस भ्रम के होने का फल अज्ञान है। वह भ्रममें पड़कर घबड़ा जाता है, डर जाता है और अगर सोचे कि आखिर चल-कर देखें तो कि कौनसा सांप है। वहां गया तो गौर से देखा। गौर से देखने पर यह पता चला कि यह तो कोरी रस्सी है। इतना ही जानने से उसने घबड़ाहट छोड़ी, कुछ चैन मिली। यह चैन भी मानना उसके अज्ञान का फल है। तो ज्ञान का फल क्या है? अन्यरूप जानना मिट गया, भ्रम व घबड़ाहट गई यह तो ज्ञान का फल है और जितना

लगाव है उसका फल अज्ञाम है। अज्ञानको छोड़ो तो अपना स्वरूप समझमें आ जायगा। हम सत्संग में बैठे हैं वो राग में बैठे हैं, अज्ञान में बैठे हैं। ज्ञान में नहीं बैठे हैं क्योंक ज्ञान का फल तो ज्ञान है। ज्ञान का फल कहीं बाहर से नहीं आता है। अपने आत्म-स्वरूप से ही आता है। भगवान की पूजा करु, साधुजनों की सेवा करु तो यह सब राग है, अज्ञान का फल है। राग का होना यह अज्ञान का फल है अज्ञान से राग पैदा है। ज्ञान कितने भीतर की मर्म की चीज है? हम इस ज्ञान को जानते हैं या नहीं इसकी परख कर लो। केवल बाहरी दैहिक प्रवृत्ति को ही धर्म जान कर संतुष्ट हो जाते हैं लोग या इतना ज्ञान हो चुकने के बाद संतोष कर लेते हैं, मगर ज्ञान तो और इससे बढ़ कर अन्तर में रहता है। ज्ञान में केवल ज्ञानानन्द का दर्शन रहता है। ज्ञानदृष्टिका फल निवृत्ति होना चाहिये, यह शुद्ध केवलज्ञान की चर्चा है। यदि ऐसा ज्ञान आ गया तो भगवान् का यह स्वरूप है विदित हो जायगा। यदि ऐसा ज्ञान आ गया तो उसके कारण हमपर क्या गुजरेगा? केवलज्ञान। जानना मात्र ही ज्ञान का फल है। ज्ञान का उपासक प्रभु के इस स्वरूप में झुकेगा। यदि बाह्य भक्ति में लगेगा, पूजन में लगेगा, नाचने लगेगा तो यह ज्ञान का फल है कि राग का? अरे यह राग का फल है। आज देखो दुनिया में राग से लोग कितना नाच रहे हैं। ज्ञान कहीं मिल नही पाता है। सत्र देखो, परपदार्थों में अज्ञानता से पड़कर नाच रहे हैं।

इसका यह ज्ञानस्वरूप हम और आपके भीतर तो है उसको यह मोही जीव नहीं देखता है। परपदार्थों में ही पड़कर मुसीबतें सह रहा है। यह भी अज्ञान का फल है। इसी तरह उन सबकी प्रवृत्ति में व्यवहार में भी अज्ञानता ही है। जैसे गति, इन्द्रिय, कषाय, योग विषय इत्यादि को उपेक्षित करके मात्र ज्ञान किया जाय तो वह प्रकाशमय है। ऐसा यदि नहीं है तो कर्म संचित हो जाते हैं। उस ज्ञान के होने से हो ये कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। तब तो बतलाओ, कोई पुरुष साधु होकर भी, मुनि होकर भी यह ख्याल करता रहे कि मैं मुनि हूं, मैं साधु हूं, मैं ऐसा हूं, मैं वैसा हूं, यह तो मिथ्यात्व होगा ना। कोई गृहस्थ यह विचार करे कि मैं गृहस्थ हूं, मैं बाल-बच्चों वाला हूं, मैं दूकानदार हूं इत्यादि ये सब मिथ्यात्व है, अज्ञानता है। लो उस साधु ने भी अपने आप यह सोच लिया कि मैं साधु हूं। जैसे कि गृहस्थ ने अपने आपमें यह सोच लिया कि मैं गृहस्थ हूं। पर्याय की पकड़ दोनों में है, सो दोनों आशय परसमय के हैं। पर वे न तो साधु हैं और न गृहस्थी हैं। वे तो ज्ञानानन्दघन, चैतन्यस्वरूप एक पदार्थ हैं। वे सब

अपने आपमें हैं। अपने आप ही परिणमते रहते हैं। यह कैसे मान लिया कि मैं आफीसर हूं, मैं दूकानदार हूं, मैं फलां हूं। अरे ये सब तू कुछ नहीं है। तू तो ज्ञानानंदघन, चैतन्य स्वरूप एक पदार्थ है। प्रतीति की बात चल रही है। विश्वास की बात बोल रहा हूं कि तुमको यह विश्वास है कि मैं गृहस्थ हूं। इसमें तो मोह होगा। गृहस्थ का यह विश्वास कि मैं गृहस्थ हूं, साधु का यह विश्वास कि मैं साधु हूं तो मोह में दोनों दब गए। अरे मैं तो एक चेतन पदार्थ हूं। अगर गृहस्थ, साधु बन गया तो यह आफत है। अरे अज्ञान और मोह से कुछ फायदा नहीं हो सकेगा। जो कुछ कह रहे हैं वे सब उल्टी बातें मालूम होंगी, मगर ये सब विश्वास की बातें हैं। इस लोकमें बहुतसी कलाएं लोगों ने सीख ली हैं—कोई संगीत की कला, नृत्य की कला, बोलने की कला, भाषण करने की कला इत्यादि सीख लेते हैं। ऐसी कलाकारी को जानने वाले अपने मन में संतोष रखते हैं कि मैं बहुत बुद्धिमानी का काम कर रहा हूं। मैं देश की, समाज की सेवा कर रहा हूं। भाषण देने वाले जानते हैं कि मैं ढंग से बोल रहा हूं। मेरे में यह ज्ञान आना चाहिए कि मैं ज्ञानमय एक तत्त्व हूं। मेरा तो ज्ञानदृष्टि में ही रहने का काम है। गृहस्थ का जैसे गृहस्थी धर्म का कार्य आफत है वैसे ही मेरे को सर्व प्रवर्तन आफत हैं। उसे यह विश्वास होना चाहिए कि मैं गृहस्थ नहीं हूं, मैं तो ज्ञानानन्दमय एक तत्त्व हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। यदि ऐसा विश्वास हो जाय तो वह ज्ञान का मार्ग है।

जितनी लोक में प्रवृत्ति है, झुकाव है वह सब अज्ञान का फल है। हममें अगर यह बुद्धि आ जाय कि हमने यह कर लिया तो वह अज्ञान है। हमारा यह विश्वास होना चाहिए कि मैं चैतन्यमात्र हूं, केवल जानन ही जानन हूं।

जैसे कोई आदमी अपराध में पकड़ा गया या व्यापार के विरुद्ध में पकड़ा गया। उस पर १००० रु० का जुर्माना कर दिया गया। अब उसने गिड़गिड़ाना शुरु किया। कोशिश करने पर ५० रु. जुर्मानाके रह गए और ९५० रु. छोड़ दिए गए। ५० रु. वह हंसी खुशी से दे रहा है। १००० रु० देने थे और ५० रु० ही रह गए। हाथों से दे रहा है, मगर संकल्प में यह लग रहा है कि ये भी न देने पड़ते तो ठीक था। ५० रु० खुश हो करके तो दे रहा है, मगर भीतर से यह प्रवृत्ति बन गई है कि ये भी न देने पड़ते तो अच्छा था। इसी तरह ये सब जुर्माना है। अटपट प्रवृत्तियां मानो एक हजार का जुर्माना है, गृहस्थ धर्म में केवल मानो ५०० रु० का जुर्माना है। साधुमें धर्म केवल

५० रु० का जुर्माना है। तो वह गृहस्थी यह सोचेगा कि यह जुर्माना रागप्रवृत्ति से हुआ। अगर ज्ञाता दृष्टामात्र मैं रहता तो ठीक था। यह ज्ञान का फल है। ज्ञान का फल है निवृत्ति। यावन्मात्र प्रवृत्ति है वह राग का फल है। साधु पुरुष भी आहार करने जाते, चर्चा करने जाते, उसमें राग है या नहीं। वे राग के काम हैं। ये राग से होते हैं। ज्ञान से आनन्द और राग से दुर्गंध आती है। गृहस्थ अपने को गृहस्थ अनुभव करता है और साधु अपने को साधु पर्यायरूप अनुभव करता है तो मोह तो दोनों में हुआ। इस ज्ञानमात्र मुझ आत्मतत्त्व का तो जाननका काम है वह मोक्षमार्ग है। मोक्ष-मार्ग इस आत्मस्वरूप के भीतर भरा हुआ है, पुरुष के हाथ और पैरों में नहीं भरा हुआ है। रहा हूं, समाज को देश को रास्ते में लगा रहा हूं। इतने काम से उसे संतोष होता है। ऐसी दृष्टि द्रव्यलिङ्गी साधु पुरुषकी भी हो रही है। देखो भाई उन साधुवोंमें और मोह में कितना अन्तर होता है? जैसे कहते हैं कि साधु मुनि शत्रु से भी विरोध नहीं करते हैं, उनमें क्षमा रहती है, दया रहती है। इसी क्षमा और दया की वजह से ही वे मोक्षमार्ग को कहते हैं। वे संसार के सुखों को नहीं चाहते हैं। वे रहते हैं, तपस्या करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, धर्म करते हैं, आराधना करते हैं और मोक्षमार्ग में लगूं—ऐसी चाह लिये हुए होते हैं कुछ याने द्रव्यलिङ्गी साधु ऐसे भी होते हैं जो यह समझते हैं कि मैं तो साधु हूं, मेरा यही काम है। अरे यह मिथ्यात्व है।

एक दृष्टान्त है कि एक सेठ था। वह चावल बेचने का काम करता था! वह ठेलों धान खरीदता था और उन धानों से चावल निकालकर दो चार ठेला चावल बेचता था। एक आदमी उसके पीछे लग गया। सोचा कि जैसा सेठ करता है जिससे कि यह धनी हो गया है वैसा मैं भी करुंगा। वैसा करने से मैं भी सेठजी जैसा धनी बन जाऊंगा। देखा कि सेठ ने कुछ सामान खरीदा। चावल के ऊपर के छिलके तो मटमैले ही थे। सो पिछलगे व्यक्ति ने देखा और उसने भी मटमैले ही खरीदना चाहा, वैसी मटमैली चीज का मोटर भर लिया। वह लेकर बेचने गया। ठीक जैसे सेठ करता था वैसे ही वह व्यक्ति भी करता गया।

उस सेठ को नफा हुआ, मगर उस व्यक्ति को टोटा आ गया। अरे धान के अन्दर जो चावल होता है उसकी महिमा होती है, धान के छिलके की महिमा नहीं होती है। इस बात का उस पिछलगे व्यक्ति को पता ही नहीं था।

इस ही प्रकार शुद्ध धर्म की जानन परिणति है। इस धर्म के संग से धर्मक्रियावों

की महत्ता है। उसकी महिमा ज्ञानदृष्टि के कारण है और इस ज्ञानदृष्टिकी ऐसी प्रवृत्ति न हो तो उसकी महिमा कुछ नहीं रहा करती। ज्ञानदृष्टि के कारण ही इस धर्मप्रवृत्ति की महिमा हो जाती है। वह ज्ञान ज्ञान है, उसका फल निवृत्ति है। ज्ञान का साम्राज्य निवृत्ति है। यह सब ज्ञान का फल है।

अब हम इतने बड़े महिमा-निधान के बीच में रहते हैं, बाहर से देखो तो नाना प्रकार की विपयों की बातें चारों तरफ घूम रही हैं। जब ज्ञान जगता है और बाहरी फैली हुई दृष्टि का संकोच करता है तो स्थूल पापों का त्याग करता है, जिस प्रवृत्ति के बीच इतना गृहस्थधर्म बन गया है। सो उसमें जो राग के अंश रहा करते हैं वे तो पाप ही कहलाए। इसका जितना निवृत्ति का अंश है वह धर्म है। जितना वहां प्रवृत्ति का अंश है वह अधर्म है वही अज्ञान कहलाया। जैसे विवाह कर लिया। एक स्त्रीसे संतोष हुआ तो हजार स्त्री से छूटे। क्या आपका धर्म है कि एक स्त्री में लगे रहें। नहीं अनेक स्त्रियों के विकल्प से छूटने के लिये वह उपक्रम है। जितना हटाव है वह ज्ञान है। उस एक की ही ओर झुकाव और लगाव तो अधर्म का काम है। अनेक स्त्रियों के विकल्प से छूटे वह हटाव धर्म का काम है, व्यवहारधर्म का काम राग का काम, कहीं जुटने का काम, जितने भी हैं, जितनी भी प्रवृत्तियां हैं वे सब अज्ञान से हैं।

अच्छा अब गृहस्थ धर्म भी छोड़ा, आरम्भ छोड़े, परिग्रह छोड़े शुद्ध मार्ग की दीक्षा ले ली, शुद्ध चर्या में रहने लगे। इस साधुप्रवृत्ति में भी गृहस्थ का परिग्रह हट गया, इतना धर्म का काम है, शुद्ध चलने लगे शुद्ध उठने लगे, शुद्ध खाने लगे तो ये सब राग के काम हैं। जितनी निवृत्ति का अंश है वह ज्ञान है और जितनी प्रवृत्ति का अंश है वह अज्ञान है। और भी देखिये भैया! जैसे गृहस्थ के योग्य शुद्ध व्यवहार, शुद्ध चर्या में रहते हुए भी वह गृहस्थ उस व्यवहार से विरक्त रहा करता है, इसी तरह साधु भी शुद्ध सम्यग्ज्ञान के अनुकूल व्यवहार करते हुए भी व्यवहार से विरक्त रहा करता है।

एक ज्ञानी गृहस्थ अपने कुटुम्ब, परिवार में रहते हुए भी अपने को भिन्न समझता है, न्यारा समझता है। अहितरूप है, ऐसा जानकर परिवार से विरक्त है। तब साधु भी अपने शुद्ध काम करते हुए साधु रहते हुए भी उस प्रसंग से विरक्त है। शुद्ध ज्ञान के काम की यह बात चल गयी और लम्बी खिंच गयी। प्रयोजन यह है कि जितना हटे उतना धर्म है और जितना लगे उतना अधर्म है। ज्ञान का काम मात्र निवृत्ति है। इतना ही ध्यान में लाना है। तो यह निवृत्ति ज्ञान का साम्राज्य है। यदि मैं अपने

साम्राज्य की ओर अर्थात् निवृत्ति का उपयोग कर मैं प्रवृत्ति से हट जाऊं तो मैं सुखी होऊं ।

देखो जितने भी सुख मिलते हैं वे हटने से मिलते हैं, लगने से नहीं मिलते हैं। गृहस्थी में रहते हुए भी उससे हटकर रहने में जो आनन्द मिलता है वह आनन्द उसमें लगने से नहीं मिलता है। गृहस्थीमें लगने से रंचमात्र भी आनन्द नहीं मिलेगा। आनन्द इच्छा के अभाव से मिलता। इच्छा की पूर्ति व इच्छा का अभाव कहो बात एक ही है। हटना ज्ञान का काम है और लगना अज्ञान का काम है। आनन्द भी जितना होता है वह हटने से होता है, लगने से नहीं होता है। जैसे एक मित्र का पत्र आए कि १० बजे हम गाड़ी से आ रहे हैं। बस पत्र पाते ही सब तैयारी में लग गए। वह इसलिए कि मेरा मित्र आ रहा है, मैं अपने मित्र से मिलूंगा। वह मिलने के कारण ही जल्दी-जल्दी काम करता है। रसोई जल्दी-जल्दी बनवा ली और भी जितने काम हैं जल्दी-जल्दी कर लिये। देखो ये सब व्याकुलतायें क्यों की जा रही हैं, इसलिये कि मात्र मिलने के कामों में अपना लगाव रक्खा। १० बजे स्टेशन पहुंचे, पूछते हैं कि गाड़ी लेट तो नहीं है। यदि कोई कह दे कि अभी १० मिनट लेट है तो दुखी हो गए। गाड़ी आते ही झट इस डिब्बे में देखा उस डिब्बे में देखा। मित्र मिल जाता है तो वह आनन्दमय हो जाता है। अच्छा अब यह बताओ कि उसे आनन्द मित्र के मिलने से आया है कि मित्र के मिलने का काम हट गया इससे आया है, इसका उत्तर दो। अरे उसे मित्र के मिलने से आनन्द नहीं। उसके मिलने का विकल्प हट गया उसका आनन्द। क्योंकि अगर मित्र से मिलने का आनन्द है तो मित्र से डिब्बे के अन्दर मिलता ही रहे। इधर-उधर डिब्बे से बाहर न झांके। गाड़ी चलने वाली है तो वह बाहर को झांकता है। बाहर क्यों झांके ? यदि मिलता है तो मिलता ही रहे। मित्र से मिलनेका काम समाप्त हो गया, इससे तो आनन्द आया, किन्तु अब उसे घर जाने का लगाव हो गया लो दुखी हो गया, उसे लगाव से दुःख होगा। उसका जितना भी दुःख है, लगाव का है।

मित्र से मिलने की इच्छा हो गयी। इच्छा से ही दुःख मिला है। इस दुःख से दूर होने के लिये ही वह मित्रसे मिलने जाता है, क्योंकि उसको विकल्प सता रहा था। अरे यह विकल्प स्वयं ही पहिले से न रहे तो क्या आनन्द न आवे ? आनन्द अवश्य आयगा। यदि ऐसी भावना हो कि भाई विकल्प न करो, वहां क्या रक्खा है ? उनसे इच्छा न करो। इस तरह मिलन की इच्छा ही न हो तो वहां ही अनाकुलता है। जो

इच्छाएं हों उन्हें समाप्त कर दो, इन्द्रियों के विषयों में बरबादी है। यह एक अन्तर के मर्म को देखकर कह रहा हूं। अरे विषयों में अगर लग गए तो समझो विषयों में ही जल गए और मिट गए तो इच्छाओं का अभाव कैसे हो जायगा ? विषयबुद्धि के होने से इच्छाओं का अभाव नहीं हो सकता है। विषय प्रवृत्ति अधर्म है। अगर विषय प्रवृत्ति नहीं हटेगी तो लगाव भी नहीं हटेगा और आनन्द भी नहीं आयगा। अपने ज्ञान को अन्य के लगाव में लगाना ही अज्ञान का फल है। निवृत्ति तो ज्ञान का फल है और प्रवृत्ति फल अज्ञान का है।

अपने आपके भीतर में निवृत्ति स्वरूप शब्द निरपेक्ष केवलज्ञान जिसका काम है, ऐसा ज्ञानमय मेरा स्वरूप है। मेरा काम क्या है ? देखना नहीं, बोलना चालना नहीं, हाथ जोड़ना नहीं और और करके अपनी बातों में लपेट लेना नहीं। जितने काम लगाव के हैं, व्यवहार के हैं वे सब अज्ञान से होते हैं। ज्ञान से केवल एक प्रवृत्ति का अभाव होता है, नथिङ्ग, कुछ नहीं करता है, कुछ नहीं सोचता है, कुछ नहीं बोलता है, कुछ काम नहीं करता है। ऐसी जो निवृत्ति है, जिसमें काम तो बराबर स्वभावविकास का लगा रहता है। जानन, जानन, जानन, केवल जानन ज्ञान का काम है। ऐसा साम्राज्य हो और स्वयं की पहिचान हो तो उसे मोक्ष का मार्ग प्राप्त होगा, नहीं तो नहीं प्राप्त हो सकेगा।

मैं आत्मा जो हूं वह हूं, जैसा स्वरूप है उस ही स्वरूप में हूं। मैं अन्य सब पदार्थों से विलक्षण, जानने, देखने की स्वभावकला में तन्मय हूं। यह एक भावात्मक पदार्थ है, जिसमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं। केवल चिदानन्दघन, चैतन्य स्वरूप मात्र एक ऐसा विलक्षण सत् हूं। इस ही को ब्रह्म कहते हैं क्योंकि ब्रह्म नाम उसका है जो ज्ञान से बढ़ता हुआ रहे, वही ब्रह्म है। अपने ज्ञान को बढ़ाने की कला इस आत्मा में है। पुद्गल तो रूप है, पुद्गल बाह्य है। पुद्गल के गुण का ऊंचे से ऊंचा विकास हो तो क्या होगा, रूप का क्या होगा ? परन्तु आत्मा के ज्ञानगुण का विकास ऊंचा क्या होता वह कहा जा सकता। आत्मा के ज्ञान का विकास हो तो सभी कुछ ज्ञान में आयगा। इसका स्वभाव बढ़ने का है। जैसे कोई स्प्रिंग होती है उसे दबाएं तो दबी रह जायगी और छोड़ दें तो स्वतः उठी रहेगी। इसी प्रकार यदि ज्ञान को विषय कषाय परिणामों के द्वारा दबावें तो दब जायगी और यदि दबाएं नहीं तो ज्ञान फैलता ही जायगा। ज्ञान के फैलने का तो स्वभाव ही है। ये विषय कषायों के परिणाम, राग-

द्वेषादिक भाव ज्ञान को दबाने के कारण हैं। जब तक ये विकार रहेंगे तब तक ज्ञान दबता ही रहता है। विरोधीपन हटे, आत्मतत्त्व का विकार मिटे तो यह विकसित हो जाता है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने ज्ञान से वह वर्धनशील रहे, बढ़ता हुआ हो रहे। इसलिए आत्मा का नाम ब्रह्म है। इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को कहा जा रहा है। यह आत्मा विष्णु कहलाता है, क्योंकि विष्णु उसे कहते हैं जो व्यापक है। जिसका स्वभाव ही ऐसा है कि सर्वत्र व्यापक ही होता रहे वही विष्णु है। ज्ञान वह कहलाता है जिसमें बीच का कोई हिस्सा न छूटे। जैसे किसी टंकी में पानी भर दिया जाय तो पानी लबालब भरा हुआ है। उस पानी में ऐसा नहीं है कि कहीं एक इंच पानी न रहे। जो पानी भरा हुआ है वह पानी पूर्णरूप से भरा हुआ रहता है। उसका कोई भी स्थान खाली नहीं रह सकता है। इसी तरह इस ज्ञान का फैलावा है कि यह ज्ञान सर्वत्र फैल जाता है। किसी जगह खाली नहीं रह सकता है कि लो मैं अमुक को नहीं जानता। जैसे टंकी के बीच कोई चीज उठी हुई आ जाय या कोई चीज पानी में ऐसी पड़ जाय जिसमें कुछ टीला सा होजाय तो वहां पानी नहीं पहुंच सकेगा। पर पानी अपने स्वभाव के कारण न पहुंच सका, ऐसी बात नहीं है, किन्तु वहां कोई चीज एसी आ गयी है जिससे रुकावट आ जाती है। इसी प्रकार से ज्ञान में विषयकषायों की भीड़ आ जाती है जिससे ज्ञान के विकसित होने में रुकावट पैदा हो जाती है।

यदि कहीं ज्ञान न पहुंचा तो वहांपर ज्ञान अपने स्वभाव के कारण नहीं पहुंच सका ऐसी बात नहीं है। ज्ञान के विकसित होने में जो रागादि भाव रुकावट पैदा करते हैं उसी से ज्ञान वहां नहीं पहुंच पाता है। ज्ञान का स्वभाव सर्वत्र फैल जाने का है, सब जगह व्याप जाने का है। ऐसे ज्ञान का स्वभाव व्याप्त होना ही है इसलिए ज्ञान ही विष्णु है। यह ज्ञान ही जिन है अथवा जितेन्द्र है। जिन कहते उसे हैं जो समस्त बाह्य पदार्थों को जीत ले, खत्म कर दे और स्वयं शुद्ध स्वच्छ बना रहे। उसे ही जिन कहते हैं। जिन ज्ञान ही है, सो यह भावात्मक तत्त्व है कि ज्ञान ज्ञान ही है, जानन जानन ही है, जानन ही काम है, यह मेरा ज्ञान स्वच्छ है, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है। यह अपने ऐसे ही स्वच्छ ज्ञान की बात कर रहा हूं। ज्ञान का काम सुन्दर शुद्ध प्रतिभास को बार-बार पैदा करते चले जाना है। कब तक ? अनन्तकाल तक। इसलिए इस ज्ञान की शुद्ध, स्वच्छ, सुन्दर एक सृष्टि करता रहे वह ज्ञान है। जो ज्ञान अपनी सृष्टि करता हो, चाहे वह बिगड़ जाय, रूठ जाय, गुस्सा हो जाय, मलीन हो जाय, आपे से

बाहर हो जाय तो भी यह पूर्ण ही रहता है, पूर्ण ही परिणमता है। यह जगत जितना दिखता है उस रूप में रचना हो जाय यह भी ज्ञानमय आत्मदेव की सृष्टि है। ऐसा यह ज्ञान तत्त्व भीतर का है। यह ज्ञानतत्त्व मलीन हो जाय, काबू में न रहे, संयत न रहे तो बिगड़ा हुआ प्रभु ऐसी सृष्टियों को कर डाले, ऐसी ज्ञान की महिमा है। यही ज्ञान पदार्थ, जीव तथा वृक्ष के रूप में आ जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, जीव जन्तु जितने भी हैं उन सबके रूप में यह ज्ञान आता है। यह ज्ञान ही ब्रह्म है। इसका ऐश्वर्य स्व-लक्षण है। शुद्ध सृष्टि करे, अशुद्ध सृष्टि करे सब ज्ञान की महिमा है। उसके ऐश्वर्य का पता लगा लेना बिरले ही सूक्ष्मदृष्टि ज्ञानी यों का काम है। कैसा है यह ? कुछ नहीं है और सब कुछ है। ज्ञान तत्त्व है। जिसके अन्तरंग में कुछ नहीं है और सब कुछ है, कुछ बचा नहीं है और है कुछ पिण्ड ऐसा नहीं है। ऐसा जाननहार यह आत्मतत्त्व विलक्षण ऐश्वर्य वाला है। इसका काम जानन है सो अपनी ही कला से, अपनी ही लीला से अपना काम कर रहा है। इसका काम केवल जानन है, जान लेना। इस ज्ञान में सुख दुःख नहीं, जानन का काम केवल जानन ही है। जान लो फिर उसके बाद महान् आनन्द आता रहता है। जैसे प्रयोजन अशुद्ध है तो वहां संकट है और जहां प्रयोजन अशुद्ध नही वहां संकटों को तो जान लिया। किसलिए जान लिया ? जानन के लिए जान लिया। मिला हुआ दूध और पानी एक क्षेत्र में है पर दूध अलग है और पानी अलग हैं। दूध के कण दूध में हैं और पानी के कण पानी में हैं। दूध में पानी मिला होने पर भी दूध में दूध है और पानी में पानी है। यह सारा विश्व ज्ञान में आवे फिर भी विश्व व ज्ञान अलग-अलग है। और हम और आप लोगों को तो इतनी चीजें जानने में आ ही रही हैं इनमें ही देख लो हम अलग हैं और ये सब अलग हैं। देखने में यह सारा लोक, सारा जगत आ रहा है फिर भी जो यह है वह मैं नहीं हूं। जानन में जानन है, पदार्थों में जानन नहीं। जानन की ओर ही जानन है और जानन में ही जानन बना रहता है। किन्हीं बाह्य पदार्थों में जानन नहीं रहता है।

जानन में ही जानन बना रहता है। ऐसी विचित्रताओं और ऐसे ऐश्वर्य का पता योगी और ज्ञानी पुरुषों को ही हुआ करता है। विलक्षण ऐश्वर्य को जानकर ही उन योगियों और ज्ञानियों का मन प्रसन्नचित्त रहता है। जंगल में योगी जन एकान्त में रहते हैं। गृहस्थों को ऐसा लगता है कि जंगल में रहने वाले लोग कैसे रहते हैं ? उनको कोई पूछने वाला भी नहीं है, उनके पास कोई नौकर नहीं है, कोई साधन नहीं हैं, खाने

पीने का कैसे इनका काम चलता होगा, परन्तु उनका काम अद्भुत रूप से चलता रहता है। वे अपने ज्ञानरस का स्वाद लेकर ही आनन्दमग्न हो जाया करते हैं। यही उनका ऐश्वर्य है। वे अपने ज्ञानअमृत में ही छके हुए रहते हैं, इसलिए वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। अतः इस ज्ञान का नाम ही ईश्वर है। आनन्दमय, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट सार की चीज़ दुनिया के अन्दर क्या है ? मोही जीव अपने सार से अलग होकर बाहरको निरखा करते हैं। सारभूत चीज क्या है ? मकान हो गया, बालबच्चे हो गए, मित्र लोग हो गए, लोक के और जन ही सारभूत हो गए। ऐसी कल्पना में इस तरह से वे मोही बाहर ही घूमा करते हैं। सार को ढूंढ़ने के लिए और जगह-जगह मारे मारे फिरा करते हैं। योगियों को अपने ज्ञान का पता है, ज्ञानी गृहस्थियों को भी अपने ज्ञान का पता होता है। उन ज्ञानियों को पता है कि दुनिया में सार की चीज कोई मिलती नहीं है। सार वह खुद ही है। इसका जो सहजस्वरूप है, अपना अस्तित्व है, वह ज्ञानमय है, प्रकाशमय है, कल्याणमय है। सार को, कल्याण को, उत्कृष्ट को शिव कहा करते हैं। यह ज्ञान तत्त्व ही शिव है।

राम किसे कहते हैं ? राम उसे कहते हैं, जिसमें योगी पुरुष रमण किया करते हैं। जिसमें योगी जन, ज्ञानी जन, रमण किया करते हैं उसे राम कहते हैं। वह राम मेरा कौन है मैं जिसमें रमण किया करता हूं ? वह मेरा राम है। मैं अनादिसे अनन्त-काल तक सदा अपने आपमें रमण किया करता हूं। यह तो लोगों को भ्रम है कि मैं घर में रमता हूं, इन्द्रिय विषयों में रमता हूं, दुनियावी कार्यों में रमता हूं। अरे कोई किसी बाहरी चीजों में नहीं रमता है। यह खुद ज्ञानमय है, चरित्रमय है। स्वयं ही स्वय के स्वरूप में रमा करता हूं, खुद में ही रमा करता हूं। कोई अपनी दुकान में ही रमा करता है, कोई विकल्पों में रमा करता है तो कोई जानकार विद्वान विकल्प करता है, कल्पनाएं करता है वह उनमें रमता है और ज्ञानी योगी साधु पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप में रमते हैं और प्रसन्न होते हैं। मैं अपने ज्ञान में रमा करता हूं। तात्पर्य यह है कि सभी जीव अपने आपके जानन में रमा करते हैं। विशेषता यह है कि कोई कैसे रमा करता है, कोई कैसे, मगर सभी अपने आपमें रमते हैं। बाह्यपदार्थों में कोई रम नहीं सकता है, कोई बाह्य में लग नहीं सकता है, परन्तु कोई मान ले कि मैं बाह्य में रमता हूं तो वह परेशान हो जायगा। पर न कोई बाह्य में रम सकता है और न बाह्य में लग सकता है। तो मैं रमता हूं और अपने में ही रमता हूं। तो ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही

राम है, ज्ञानतत्त्व की आत्माराम है। यह प्राणी अपनी शरण बाह्य में ढूंढ़ता है, बाह्यमें ही हित और अहित ढूंढ़ने का प्रयास कर रहा है, परन्तु बाहर कहीं शरण नहीं है। यह प्राणी इधर उधर भटकता है परन्तु यह शरीर देवता इसकी रक्षा नहीं करता है। यह ज्ञानस्वरूप ही हमारा सच्चा देव है, रक्षक है, अपने आपके लिए सर्वस्व है। जिस प्रकार हम सर्वस्व हैं उस ही प्रकार की बातें करें तब तो ठीक है। परन्तु हे आत्मन् ! यह प्राणी शुद्ध प्रगति नहीं करता है। यह तो उल्टी अटपटी बातें करता है। यह जैसा शुद्ध है, स्वच्छ है, चैतन्यस्वरूप है वैसी बातें नहीं करता है।

हे आत्मन् ! अपने आपपर दृष्टि दो तो अपना प्रभु अपने में ही मिल जायगा। यह प्रभु ही तेरे पापों को हर सकता है। पाप क्या है ? विकल्प और कल्पनाएं ही पाप हैं। ये बाहरके जो पाप हैं। झूठ बोल दिया, जान ले लिया, परिग्रह किया, यही बाहरी बातें पाप हैं। ये पाप होते भी कैसे हैं ? यों ही कल्पनाएं उठती हैं तब यह इन पापों को करता है। इन पापों के कारण ही उसे दुःख मिला करते हैं। तो इन पापों को हरेगा कौन ? इन पापों को मेरा प्रभु ही हरेगा, इन पापों से उत्पन्न दुःखों को मेरा प्रभु ही मिटायेगा। जो पापों को हरे वही हरि कहलाता है। हम अपना प्रभु कैसे ढूंढ़ें ? हमारी शरण, हमारा रक्षक, हमारा हितू यह प्रभु ही है।

इस एक अपने स्वरूप पर ही ध्यान हो तो सर्व सफलता है। मैं तो यथार्थ हूं, कृत-कृत्य हूं, स्वभावमात्र हूं। यह लोक का धन कुछ महत्व नहीं रखता है। यह धन पिंडरूप है धन पुद्गल है, इन पुद्गलों में कोई सार नहीं दिखता है। ऊंचे-ऊंचे महल, बड़े-बड़े धन वैभव आदि इनमें कोई महत्व की चीज नहीं दिखती है। यह ज्ञानी जब ज्ञानदृष्टि से देखता है कि मैं सबसे निराला हूं, ज्ञानमय वस्तु हूं तो अनुभवरसका स्वाद मिलता है। अन्यथा जिसके बारे में जैसे विचार किये वैसा ही उसको समझ लिया और वैसा ही उसका वर्णन कर दिया। सो इसी अदर्शन के फल में बौद्ध, भट्ट, नैयायिक, मीमाँसक, साँख्य इत्यादि नाना प्रकार के दर्शन बन गए। पर जिसपर समस्याएं खड़ी हुई हैं वह दर्शन का मूल आधार यह स्वयं ज्ञानतत्त्व है।

ऐसा यह मैं ज्ञानतत्त्व हूं, मेरा काम केवल जानन ही जानन है। बाह्य पदार्थों को करने का इस ज्ञानमात्र भावात्मक आत्मा पदार्थ का काम नहीं है। किन्तु अज्ञानी मानता है कि हम करने वाले हैं, मैं अमुक काम करने वाला हूं, मैं दुकान करने वाला हूं, इत्यादि यह मिथ्यात्व है। ये विचार धर्म में ले जाने वाले नहीं हैं। ये सब मिथ्यात्व

हैं। तू है और परिणमता रहता है। इतना ही तेरा काम है। तू पूरा का पूरा है। पाप बनें तो पूरा है चाहे न बनें तो पूरा है। तू तो परिपूर्ण है। जैसे लोग कहते हैं कि तू तो अधूरा है, तेरी आत्मा अधूरी है, अरे तेरी आत्मा अधूरी नहीं है। तू तो एक सत् है, सत् अधूरा नहीं होता है। अधूरापन तो दुनिया में होता ही नहीं है। यह ऐसी मानी हुयी चीज है कि जैसे अनेक चीजें मिली होती हैं। कुछ यहां हटा दिया, कुछ वहां हटा दिया तो लोग कहते हैं कि आधा आधा कर दिया। अरे कुछ नही कर दिया। जो चीज है वह पूरी की पूरी है।

ये स्कन्ध हैं, ये दिखते हैं, ये सब चौकी, पुस्तक, कमंडल इत्यादि एक एक चीजें नहीं हैं। ये अनेक पुद्गल परमाणुवोंसे मिलकर बने हैं। लकड़ी फाड़ी गई, धातु आदि हथोड़ेसे पीटे गए, पुस्तक मशीन से छापी गई इत्यादि अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर बने हैं। इनमें आधी-आधी चीजें कुछ नहीं है, उनमें जो एक-एक चीज हैं वे सब पूरे के पूरे हैं इसी तरह जगत के जितने जीव हैं सब पूरे के पूरे हैं। अगर बिगड़ गए तो पूरे के पूरे बिगड़ गए और अगर बन गए तो पूरे के पूरे बन गए। आधा न तो बिगड़ेगा और न बनेगा। प्रत्येक जीव परिणमता है। अगर कोई परिणमता है तो अपने ही परिणमन से परिणमता है, दूसरे के परिणमन से नहीं परिणमता है। अगर मैं विकल्प कर रहा हूं तो अपना ही विकल्प कर रहा हूं, दूसरे का विकल्प मैं नहीं कर रहा हूं। अपनी परिणति के अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कर रहा हूं। मैं परिणमता हूं, अपने आपमें ही परिणमता हूं—ऐसा अगर ज्ञान हो तो यही अमृत का पान है। जिसने अपने स्वरूप को लक्ष में न लिया, अपने को ही कर्ता धर्ता माना तो समझो कि वह दूसरी दुनिया में चला गया, अपने स्वरूप से हट गया। यदि वह अपने से हट गया तो समझो दुःखों की परम्परा उसके ऊपर आ गयी। क्योंकि अपने स्वरूप को भूलकर कहीं भी लगो सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है।

हे आत्मन्! अपने स्वरूप से विमुख होना विकल्प की परम्परा बढ़ाना है। मैं इसको करता हूं—ऐसा सोचना रागों का बढ़ाना है और यह अज्ञान का काम है। मैं इसको नहीं करता हूं, मेरा यह करने का काम नहीं है—ऐसा विचारना ज्ञान का काम है। इसका न तो करने का स्वभाव है और न मना करने का स्वभाव है। करने में क्लेश हैं और मना करने में क्लेश है। क्लेश दोनों में ही है। अहंकार को देख लो उससे ही दुःख आते हैं। अहंकार करना या न करना, बल्कि उसके प्रति विकल्प करना

ही दुःख है । इससे अपने को पूरा नहीं पड़ेगा । मैं तो केवल अपने ज्ञानस्वरूप को देखूं जिसका काम केवल जानन है, ज्ञानमात्र है । जान लो तो भाई फायदा उठाओ । अरे इतना ही फायदा है, इसके आगे किया तो नुक्सान है । भगवान सारे विश्व को जान गया, पर अब फायदा तो उठाओ । सब का सार तो जान गए, पर अब फायदा तो देखो । अरे जानन ही बना रहे तब तो भगवान फायदे में है । अगर जानने से आगे आ जांय तो लटोरों सटोरों की तरह दुःख होंगे । भगवान अपने स्वरूप को भूलकर अन्य कुछ नहीं करते । इस जो जानन के आगे कुछ फायदा सोचता है तो उसी को संसार में रुलना पड़ता है । केवल जाननमात्र का फायदा रह जाय और कर्मचेतना व कर्मफल चेतना से जुदा रहें, ऐसी दृष्टि से आनन्द होता है । वह सब सहज पारमार्थिक आनन्द है । भक्ति वाले कहते हैं कि ऐसे ही क्षण मेरे व्यतीत हों । सो हे आत्मन् । तुम बाह्य में कुछ न करो, तुम हो और परिणमते रहते हो, इतना ही तेरा काम है । इसके आगे तेरा कोई काम नहीं है । अपने आपको देखो तो तेरे से दुःख दूर हटेंगे और फिर समाधि का अनुभव करोगे । यह आत्मा आनन्द व ज्ञानविकास में जब बढ़ता जायगा, बढ़ चुकेगा तो प्रभु हो जायगा । अपने स्वभाव से हटकर, बाह्य को कुछ निरखकर, बाह्य से लाभ देखकर बाह्य में जो पड़े रहते हैं तो उनका टोटा पड़ता है, नुक्सान होता है । ये भोग पुण्य उदय से प्राप्त है, निकट हैं, जरा मुड़े और भोग लिये ऐसे सुगम हैं, सो ये भोग बड़े सस्ते लग रहे हैं, किन्तु ये बड़े महंगे पड़ेंगे । जैसे खेतों से कोई चला जा रहा है । खेत में एक बेर का पेड़ मिले । किसी तरह से बेर तोड़ लिया । इतना काम तो बड़ा सस्ता लगा, पर यदि उस खेत का मालिक आ जावे और उसे मारे तब कितना महंगा पड़ेगा ? इसी तरह ये मोह रागादि भाव सस्ते लगते हैं, पर यह नहीं जानते हैं कि वे कितने महंगे पड़ते हैं ? जरा सी देर में जो कुछ कर लो । सस्ते हैं, मगर स्वभावदृष्टि से हटा हुआ रहता है ना । कर्मों के तीक्ष्ण बन्धन होते रहते हैं, जिनके उदय में महा क्लेश हो जाता है । यह ज्ञान की बात, संयम की बात, साधना की बात, स्वरूप निरखने की बात इत्यादि महंगी पड़ रही है । अरे जरासा दिमाग लगाना पड़ेगा कि वह सस्ता ही पड़ेगा । जब चाहे अपने स्वरूप को देखा । ऐसा ज्ञानस्वरूप देखो तो सुखी होंगे । मेरी शरण यह मैं स्वयं ही हूं । जैसा मैं हूं उसी रूप में अपने को देखूं तो मेरा कल्याण हो जायगा । यह आत्मा तो जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु आदि रूप है । सब ज्ञान इसी के अन्दर हैं । ऐसा महिमानिधान, आनन्दनिधान यह मैं स्वयं हूं,

अपने आपको समझता हूं और जाननभाव लिए हुए हूं। मेरे में विपदाएं नही हैं। विपदाएं तो मात्र भ्रम में हैं विकल्प में हैं। हम और आप सभी आत्मा परिपूर्ण हैं, सब प्रकार से ज्ञान और आनन्दमय हैं। सब बातें इस आत्मा में ठीक है केवल एक गड़बड़ी इस आत्मा के अन्दर है जिससे सारा बिगाड़ हो गया। वह गड़बड़ी क्या है ? वह गड़बड़ी यह है कि इस आत्मा में इच्छाएं भरी हुई हैं। सारी बातें करते रहो हम किसी का मान नहीं करते। क्रोध आता हो करो, मान आता हो करो, लोभ आता हो करो, मगर एक इच्छाओं को ही निकाल दो तो सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। इच्छाओं के समाप्त होने पर कषाय भी किसपर नखरे करेंगे ? इच्छाएं ही एक बन्धन हैं जो जीवों को बांधे हुए है। इन पुरुषों को कौन बांधे हुए है ? इनमें कैसे गांठ लगी हुई है ? अरे ये सब न्यारे-न्यारे हैं, मगर अपनी-अपनी इच्छाएं बनाए हैं और बन्धन में पड़े हुए हैं। कोई किसी से बंधा हुआ नहीं पड़ा है, इच्छाओं ने ही बांध रक्खा है।

कौशलकुमार विरक्त हुए। लोगों ने बहुत समझाया। अरे राजकुमार अभी तुम्हारी कुमार अवस्था है, अभी कुछ वर्ष हुए तुम्हारी शादी हुई हैं, तुम्हारी स्त्रीके गर्भ है। उत्पन्न होने वाले पुत्र के लिए राजतिलक कर जावो, फिर चाहे घर द्वार छोड़ देना। कौशल कहते हैं पिंड बचाने के लिए कि अच्छा जो गर्भ में है उसे मैं राज्यतिलक दिए देता हूं। कौशल को बंधन में बंधने की इच्छा नहीं थी तो उनके कोई बंधन न था। इच्छाएं हैं तो बंधन हैं। गृहस्थी में क्या बन्धन हैं ? अरे नहीं, गृहस्थी में बन्धन कहां है, केवल इच्छाओं के कारण ही वे फंसे हुए हैं। हमें तो बाल-बच्चों की फिक्र है, घर द्वार कुटुम्ब परिवार की फिक्र है, इसी से हम फंसे हुए हैं। हम तो स्वतंत्र हैं परन्तु बाल-बच्चों में मोह होने से अपने मोह से ही फंस गए हैं। क्या उम्मीद है कि हम इन बंधनों से निकल पायेंगे ? जो-जो व्यवस्था हम सोचे हुए हैं क्या इनको पूरा करके विश्राम कर लेंगे ? देखो मेंढ़कों को कोई तोल सकता है ? नहीं। अरे वे तो उछल जावेंगे। कोई इधर उछलेगा, कोई उधर उछलेगा। वे तोले नहीं जा सकते हैं। इसी तरह क्या अपने परिग्रह में रहकर अपनी व्यवस्था बना सकते हो ? कितनी ही व्यवस्था बन जायगी तो फिर कोई नई बात खड़ी हो जायगी। क्योंकि बात बाहर में खड़ी नहीं होती, अन्दर में खड़ी होती है। सो अन्तर उपादान अयोग्य है ही। जब तक इच्छाएं समाप्त नहीं होतीं तब तक बन्धन नहीं मिटता अर्थात् जब तक इच्छाएं रहेंगी तब तक बंधन रहेंगे। बगीचे में एक चिड़ीमार जाल फैलाए है। जाल के नीचे थोड़े से चावल

या गेहूं के दाने डाल दिए हैं। अब चिड़िया आती है, उस जाल में फंस जाती है। देखने वाले दो-चार लोग आपस में चर्चा करते हैं कि देखो चिड़ीमार ने चिड़िया को फांस लिया। दूसरा बोला—नहीं, चिड़ीमार ने चिड़िया को नहीं फांसा, जाल ने चिड़िया को फांसा है। तीसरा बोला—नहीं-नहीं, जाल ने चिड़िया को नहीं फांसा है, चावल और गेहूं के दानों ने चिड़िया को फांस लिया है। चौथा बोला—नहीं, नहीं, चिड़िया ने स्वयं दाने चुगने की इच्छा की, इसलिए स्वयं ही वह बंधन में बंध गयी है। प्रभु में और आत्मा में भेद कहां ? सब लोग चिल्लाते हैं कि प्रभु और आत्मा में भेद नहीं है। कहते हैं ना कि "आत्मा सो परमात्मा" भेद कुछ नहीं है। आत्मा हैं हम और आप और परमात्मा है कोई निर्दोष सर्वज्ञ, शुद्ध, ज्ञानी आत्मा। उसमें और हममें कोई भेद नहीं है। सारा मामला तैयार है, केवल इच्छाओं को निकाल दो। यह एक इच्छाएं जो कि उत्पन्न होती हैं जिनका बाह्य पदार्थोंसे कोई मतलब नहीं है, जो जैसा है वैसा ही है। किसी के करने से कुछ होता नहीं है। मेरा सोचने से बाहर कुछ नहीं होता है, सब अपने-अपने स्वरूप के धनी हैं, अपने-अपने सत् के स्वामी हैं, केवल ये व्यर्थ की इच्छाएं उत्पन्न करते हैं और दुखी होते हैं। रात दिन के कार्यों के अन्दर अपने को देखते जाओ कि मेरे लिए लोग बन्धन हैं या काम बन्धन है या इच्छाएं बन्धन हैं। अरे अपने लिए तो केवल इच्छाएं ही बन्धन हैं। इच्छाएं न करो तो सुखी हो। अच्छा देखो शुद्ध किसे कहते हैं ? शुद्ध कहते उसे हैं जो इच्छाओं का संयम लिए हैं अथवा इच्छाएं रंचमात्र भी नहीं है। इच्छाओं के होने न होने पर ही सुख दुःख निर्भर है। अन्य पदार्थों के संयोग में सुख नहीं हैं, दुःख ही हैं। संसार में दृष्टि पसारकर देखो तो सब दुःखी ही नजर आ रहे हैं, सबको कष्ट है। और किसी को यहां कितना ही आराम मिले फिर भी कष्ट है। जितने एक दीन को कष्ट हैं, उतने एक धनीको भी कष्ट हैं। यद्यपि जितनी असुविधाएं दीन को हैं धनी को नहीं हैं, फिर भी धनी को भी उतने ही कष्ट होते हैं।

अरे सुविधाओंसे सुख नहीं होते हैं और न सम्पदाओंसे ही सुख होते हैं। इज्जत से भी सुख नहीं होता। इच्छाएं यदि न रहें तो सुख होता है। तो कैसी भी परिस्थिति आ जाय, इच्छाएं अगर कर लीं तो दुःख हो गया। इच्छाएं ही एक बंधन है। इन शिशु, बालकों को देखो, कैसे आजाद से फिरते हैं, कोई फिक्र नहीं है। कैसा सुखी रहते हैं ? पर भाई जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इच्छाएं भी बढ़ती जाती हैं और इच्छाओं के नाते से ही दुःख भी बढ़ते जाते हैं। तो भाई दुःखों का कारण इच्छाएं ही

हैं। पर बड़ा कठिन प्रश्न है कि इन इच्छाओं को कैसे दूर किया जाय ? अरे जिसका तुम्हारा प्रसंग है तथा कुटुम्ब, परिवार इत्यादि से सम्बन्ध होने की जो इच्छाएं हैं वह न हों तो तुम्हारा काम न बने, यह नहीं हो सकता है। इच्छाएं न हों यह नहीं हो सकता है, इच्छाएं तो होंगी ही। पर गृहस्थी में भी इस बारे में दो काम तो किए जा सकते हैं। एक तो यह कि मैं आत्मा इच्छारहित हूं, ज्ञान स्वभाव वाला हूं, मेरा स्वभाव इच्छारहित रहने का है, मैं आत्मा ज्ञानमय हूं, आनन्द को लिए हुए हूं, मैं इच्छाएं नहीं करता। इच्छाएं न रखने से मेरा कुछ मिट नहीं जायगा, कुछ नष्ट नहीं हो जायगा, मेरा तो ज्ञानस्वभाव है, जानन ही मेरा काम है, मेरा जाननहार मैं हूं। एक तो यह काम गृहस्थी में भी किया जा सकता है। पर इसे ज्ञानी गृहस्थ ही कर सकता है। यह केवल कहने की बात नहीं है, सत्य बात कही जा रही है, पर ऐसा किया जाने में कुछ अभ्यास चाहिए, कुछ ज्ञानभावना चाहिए, ज्ञानदृष्टि चाहिए, संसार से मुक्ति की भावना चाहिए, आत्मकल्याण की भीतर में भावना होनी चाहिए। यदि ये बातें हो सकती हैं तो गृहस्थ यह काम कर सकता है कि मेरा इच्छारहित स्वभाव है, जानन ही मेरा स्वभाव है। जानन अगर मिट गया तो मैं मिट जाऊंगा। इच्छाएं अगर हो गयी ता मैं मिट जाऊंगा। इच्छाओं के मिट जाने से मैं मिट जाऊंगा, ऐसी बात नहीं है। इच्छाओं के मिटने से मैं नहीं मिटता, बल्कि इच्छाओं के मिट जाने से मुझे आनन्द है। ये इच्छाएं मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभाव हूं, भीतर में एक ऐसा विश्वास बना लेवो। एक ती गृहस्थी यह कर सकता है। दूसरे यह कर सकता है कि इच्छा माफिक यदि काम नहीं है तो इससे नष्ट हो जाऊंगा, ऐसी बात नहीं है। इच्छाएं होती हैं और इच्छाओं के अनुसार ही काम किया जाता है, फिर भी इच्छाओं के अनुसार कांम नहीं होता है। यदि इच्छाओं के अनुसार काम नहीं होता है तो मैं नष्ट नहीं हो जाऊंगा। अरे मैं तो वही सत् का सत् हूं। यदि ऐसा होगा तो क्या, न होगा तो क्या ? ऐसी भावना बनावें बाहरी तत्त्वों से उपेक्षा करें। यह दूसरी बात भी गृहस्थ कर सकता है। बाह्य की यदि इच्छा बन गयी तो क्लेश ही क्लेश हैं। ये इच्छाएं ही बन्धन हैं। यदि मैं इच्छाएं न रक्खूं, ज्ञाताद्रष्टा रहूं, ज्ञानमात्र रहूं तो मेरी हानि नहीं है। इच्छाओं से ही हानि है। मेरा पूरा इच्छाओं से नहीं पड़ेगा। इच्छाओं से तो मुझे दुःख ही मिलेंगे। मेरा पूरा तो ज्ञानमात्र भावों से ही पड़ेगा। मैं जितना हूं, स्वयं हूं, इससे ही मेरी ठीक व्यवस्था बनेगी। इसलिए इच्छाओं को दूर करके ज्ञानमात्र रहकर मैं अपने में अपने

लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं ।

देखो हाथी, मछली, भंवरा, ये प्रत्येक जीव बंधन में पड़ जाते हैं, जाल में बंध जाते हैं, शिकारियों के चंगुल में फंस जाते हैं। उनकी इच्छा नहीं होती तो वे बंधन में नहीं पड़ते। अभी मनुष्य भी रंग-ढंग से चलते हैं दूसरों में मनमानी अन्याय की प्रवृत्ति नहीं कर पाते, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बंधन में पड़ जाते हैं। तो एक दूसरेके बंधनों में पड़ना भी इच्छाओके ही कारण है। पुत्र की इच्छा है कि मैं ठीक रहूं। मेरा बढ़िया गुजारा बने, मेरी उन्नति बने। ऐसे इच्छाओं के कारण ही वह पिता के साथ में रहना स्वीकार कर लेता है। यह मेरा बच्चा बुढ़ापे में काम आयगा, मेरी सहायता करेगा, इन इच्छाओं के कारण ही वह पुत्र से मिला हुआ चलता है। इसी प्रकार स्त्री की इच्छाएं अपने पति के प्रति, पति की इच्छाएं अपनी स्त्री के प्रति होती हैं, इस तरह से वे एक दूसरे के बन्धन में बंध जाते हैं। नौकर अपने मालिकके बन्धन में है। मालिक अपने नौकर के बन्धन में है, बड़ा अपने छोटे के बन्धन में है और छोटा बड़े के बन्धन में है। यह सब इच्छा के कारण ही तो होता है, इसलिए इच्छाएं ही बन्धन हैं।

सीता जी अग्नि परीक्षा में सफल हो गयी तो रामचन्द्र जी हाथ जोड़कर खड़े हुए। बोले—देवी क्षमा करो। आपको बहुत कष्ट पहुंचा, चलो अब महल चलो। लक्ष्मण ने भी हाथ जोड़े और भी सब लोगों ने हाथ जोड़े। भला सोचो कि सीता जी ने मृत्यु से भेंट कराने वाली अग्निपरीक्षाके बाद क्या अपने मन में इच्छा के भाव बनाये होंगे ? क्या सीता जी के मोह की प्रवृत्ति हो सकेगी ? नहीं ऐसा नही है। इसी से तो सीता जी के वैराग्य उमड़ा, सीता जी के लिए कुछ बन्धन नहीं हुआ, विरक्त हो गयीं। तपस्या में लग गयीं। जब तक इच्छाएं थीं तब तक बन्धन था। जब इच्छाएं खत्म हो गयीं तब उनका बन्धन भी खत्म हो गया।

अब घर में ही देखो लोगों की इच्छा नहीं रहती है, इसलिए जुदा हो जाते हैं, अलग हो जाते हैं, वे तलाक दे देते हैं। जब इच्छाएं नहीं हैं तब मोह के बन्धन भी हट जाते हैं। मोह बन्धन खत्म हो जाता है। हमको बांधने वाले कोई पदार्थ नहीं हैं। जब हम बाह्य पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको ही बेड़ियों में जकड़ते हैं, दुःखी होते हैं। बड़े-बड़े रईस लोग आजकल भी अपने स्त्री, धन वैभव इत्यादि को छोड़कर अलग हो जाते हैं, विरक्त हो जाते हैं। यह क्यों, यों कि इच्छा का बन्धन उनके नहीं रहा। इच्छा तक ही साम्राज्योंसे लगाव था। इच्छावोंके समाप्त होते

ही वे बड़े-बड़े साम्राज्य छोड़ देते हैं। कहते हैं ना कि फलां आदमी मोहप्रसंग से अलग हो गया। अरे अलग हो गया तो अपने को बंधन में बांधने की इच्छा नहीं की, इसलिए अलग हो गया। बन्धन तो इच्छा को कहते हैं। किसी को अपना मानना कि यह मेरा है, यह अमुक का है, यह फलाने का है इत्यादि से विपदाएं हैं। भीतर में अगर जरा भी ज्ञान आ गया है कि यह मेरा है तो बस दुःख उत्पन्न हो गए। देखो दूसरे से लात घूंसे मिला करते हैं, पर कहते हैं कि यह मेरा है। परको अंगीकार करने से ही सुख दुःख हो जाते हैं। परको अङ्गीकार करना ही इच्छा है, मोह है। यह मोह इस जीव के ऐसा फैला हुआ है कि उसे चैन नहीं आती है। यह जीव किसी-किसी बात से मौज मनाता है और किसी-किसी बात से दुःखी होता है। जिन चीजों में मौज मनाता है उन चीजों में मौज के साथ-साथ दुःख ज्यादा आते हैं। रात-दिन में २४ घंटे के अन्दर यह बताओ कि बहुत बढ़िया मौज आपको कितने मिनट रहती है ? रात-दिनमें २-३ मिनट के लिए शायद मौज आ जाती होगी, बाकी समय में कष्ट ही रहते हैं। कभी कोई बच्चा आ गया, उसकी प्रवृत्ति को देखकर दो-एक मिनट के लिए मौज हो गयी, बाकी समय में दुःख ही रहते हैं। दूकानदार बैठे हैं, कोई ग्राहक आ गया तो सौदा पटनेपर दो-एक मिनट के लिए मौज आ गया। सौदा न पटा ग्राहक चला गया तो फिर दुःखी हो गये। ओर ग्राहक की अपेक्षा में तो पहिले से भी दुःखी बैठे थे। मौज और दुःख में अन्तर देखो कि मौज तो राई के समान है और दुःख पहाड़ के बराबर है। मौज और दुःखों को फिर देख लो। दुःख तो सारे सांचे हैं, मगर मौज जो दो मिनट को आता है वह भी झूठ है। मौज झूटा हो गया और दुःख सांचे हो गए। अरे भाई कोई बात हो तो बताओ। इन सबका क्या कारण है ? देखो भाई क्षणिक मौज मानने की कारण इच्छाएं ही हैं। इन इच्छाओं से ही दुःख हो जाते हैं, दुःखों से दब जाता है। इस मौज मानने का कारण इच्छायें ही ही हैं इन इच्छाओं से ही दुःख हो जाते हैं।

जैसे कोई कहे कि साहब अपनी कहानी सुनाओ। अच्छा, सुनो। ५ मिनट तक सुनाया। तो उसमें यही पावोगे कि इसकी इन विषयों में इच्छा है, इसकी इन विषयों में इच्छा है। निर्णय कर लो कि इसमें अमुक की इच्छा है, इन सबसे दुःख होते हैं। इन सब इच्छाओं से ही दुःख होते हैं, क्लेश होते हैं। सारी बातें ठीक हैं ना। सारी बातें समझ में आयी हैं ना। सारी बात समझ में क्या, सिरपर ही तो आ रही हैं। अब समझते यह हैं कि ऐसा कोई उपाय बन जाय कि सारी समस्याएं समाप्त हो जावें। हम

कहते हैं कि जिनमें मोह है, जिनमें इच्छाएं हैं उनको कभी सुख नहीं हो सकता है। इतना तो निश्चय कर ही लो। जिनके क्रोध हो, मान हो, चाहे कुछ भी हो पर एक ये इच्छा न हो तो आनन्द ही आनन्द है। इच्छा मिटी फिर क्या पड़ा है? तो ये इच्छाएं मिटें कैसे? अरे इन इच्छाओं के मिटने की तरकीब तो हो। जो शास्त्र पूजे जा रहे हैं उनमें इच्छाएं मिटाने की तरकीब लिखी होती। इसीसे हम पन्ने-पन्ने शास्त्र के आदर से पलटते हैं, पूजते हैं, उनका मनन करते हैं और यह भगवान की मूर्ति मंदिर में विराजमान हैं, परमात्मा अरहंत, जिनेन्द्र की मूर्ति विराजमान है, उसकी उपासना उन्हें आदर्श मानकर ही तो करते हैं। इच्छा प्रभु के समाप्त है। सो निरीह को पूज करके हम अपनी इच्छाओं को नष्ट करें। हम गुरुवों के सत्संग करते हैं, गुरुवों की उपासना करते हैं, क्योंकि इच्छाओं के मिटाने की तरकीब उनके सत्संग से मिलती है। जैसी इनकी वृत्ति है ऐसी बनाकर मैं प्रसन्न रहूं। जिसके पास इच्छायें होती हैं और बाह्य से ही मौज किया करते हैं, उन्हें क्लेश ही रहते हैं। देखो भाई जिसके पास आनंद है उसके पास हम नहीं जाते हैं और जिसके पास जाने से अपने को क्लेश है उनके पास जाते है। जिसके पास जो है उसके पास जाकर उसे पाना चाहिये। दरिद्रता में दु:ख है—यह सोचकर जिनके दरिद्रता नहीं ऐसे धनी के पास जाते हैं। लोग जिससे उन्हें कुछ मौज मिलता है उनके पास जाते हैं। इसी तरह इच्छाओं से दु:ख है। जिसके यह दु:ख न हो उनके पास ही ज्ञानी जाते हैं और परन्तु मोही दुखियों से चिपटते हैं और जिनके पास दु:ख नहीं हैं उनके पास हम नहीं जाते हैं। देखो मिल चल रहे। खटपट, खटपट। यह चीज वहां बन रही है, वह चीज यहां बन रही है, खूब काम चल रहा है। वैसे ही हमारी भावनाओं की मिल चल रहे हैं। एक इच्छा यह हुई, दूसरी इच्छा यह हुई, इस तरह से इच्छाओं की मशीन चला करती है। जितने दु:ख आते हैं वे सब इन इच्छाओं के द्वारा ही आते हैं। अरे इन अटपट इच्छाओं में पड़ने से क्लेश ही क्लेश रहेंगे। अरे इन इच्छाओं को हटा दो, इनसे कोई मतलब नहीं निकलता। कोई इच्छा करो, पर उससे लाभ नहीं मिलने का है। जैसे ऊंट का पता ही नहीं रहता है कि किस करवट बैठ जाय? बैठते में भी यह भी नहीं पता रहता है कि किस तरफ को बैठ रहा है? पहले तो वह जरा सा झुकेगा, फिर पैर लचाकर बैठ जाता है। जब वह बैठ जाता है किसी तरफ से तो फिर पता लगता है कि ऊंट इस करवट से बैठा है। पुद्गलों के चाहे लट्ठ चले, चाहे तलवार, अटपट वहां कुछ नहीं होगा। और इस मनुष्य की तरफ

जरा देखो। इस मनुष्य का पता नहीं कि एक मिनट में ही क्या दिमाग बदल जाय या कुछ समय बाद क्या उसका बदले, उसका कोई पता नहीं चलता है। वह अपनी भूल में आकर ही गल्तियां कर डालता है। इन गल्तियों के कारण ही इच्छाएं हो जाती हैं। इन गल्तियों को अगर अपने से निकाल दें तो दुःख के बंधन छूट जावेंगे। दुःख तो इच्छाओं से ही होते हैं। इच्छाएं न हों, केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र मैं होऊं तो उस ज्ञान से ही मेरा पूरा पड़ेगा। इच्छाओं से मेरा पूरा नहीं पड़ेगा। देख लो केवल एक इच्छा हो गयी तो बैठे-बैठे ही इच्छाओं से दब गए।

अब बच्चे थे तब भी इच्छा इज्जत की थी, नीचे नहीं बैठते थे, गोद में ही बैठते थे। जब थोड़ा बड़े हुए तो यह खा लें, वह खा लें, और तनिक बड़े हुए तो अनेक इच्छाएं आ गयीं। स्कूल जावेंगे, परीक्षा देंगे, यह करेंगे, वह करेंगे और अगर मूर्खराज हो गये तो, हाय मैं तो स्कूल नहीं जाऊंगा, यह सोचकर इधर खेल रहे उधर खेल रहे। तनिक और बड़े हुए, खादी किया विवाह किया, पुत्र हुए, देखो अन्य-अन्य ढंग की बातें हो रही हैं। तो इच्छाओ ने आराम नहीं लिया। इच्छाएं मेरे मन में बहुत सवार हुयीं। इन इच्छाओं ने हमें बहुत सताया, फिर भी हम इनका आदर करते जा रहे हैं। अरे ये इच्छाएं बेकार की हैं, व्यर्थ की हैं, इनसे कुछ मतलब नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं। भला सोचो तो सही, इस शरीरका तो मरण होगा ही। इस शरीर की क्या दशा होगी, खाक कर दिया जायगा, भस्म कर दिया जायगा। वह जाननस्वरूप ज्ञानस्वरूप कहां जायगा? ३४३ घनराजू प्रमाण लोक में पता नहीं कि वह किस जगह जायगा? फिर उनके लिए कानपुर नहीं होगा। उनका हिन्दुस्तान नहीं होगा। उनका घर द्वार इत्यादि भी नहीं होगा। वह तो ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप में अगर विश्वास कर ले तो सुखी हो जावें। तो ऐसा ही अब जान लो कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो कुछ भी हो धर्म कर लो तो उसका फल है। शरण कोई नहीं होगा। अपना आत्मबल ही शरण होगा, दूसरा कोई शरण नहीं होगा। इस लिए मैं इस अपने ज्ञानमय आत्मा को देखूं और अपने में अपने लिए अपने आप रमकर आनन्द पाऊं।

कुछ भी चेष्टायें करनेपर भी फिर जैसे के तैसे ही खाली हाथ रहते हो। किसी भी प्रकार की चेष्टायें करो—दूकान की, घर की, सत्संग की, रहने की, पढ़ने की, सोसाइटी की समाज की सेवा की, देशकी सेवा की तो वैसे के वैसे ही खाली हाथ रहते हो। इस आत्मा में कुछ भर जाता है, बन जाती है, बड़ा हो जाता है तो यह भी कुछ

नहीं होता, बल्कि उन चेष्टाओं से कुछ खाली हो जाता है। नाना प्रकार की चेष्टायें करो, मगर कुछ लाभ नहीं मिलेगा।

अगर मैं कोई चेष्टायें न करूं तो स्वच्छ बना रहूं! चेष्टायें न करने से कोई हानि नहीं। मेरी तो वास्तविक चेष्टा ज्ञानमय ही है। भीतर के स्वरूप को देखो तो यह केवल जाननहार एक आत्मा है अपने आपके स्वरूप में घुला-मिला है। मुझ आत्मा का काम केवल जाननस्वरूप है, केवल जानन का काम है, इसके आगे और कोई काम नहीं है। इसके अतिरिक्त और कुछ करने का अगर स्वभाव माना है तो धोखा है। यह तो जाननहार है, जानन ही इसका काम है। ऐसा ज्ञानमात्र मैं अपने को देखूं। भीतर में यह प्रवृत्ति बन जाय कि मैं तो सबसे निराला, भिन्न तत्त्व हूं। इसका किसीसे सम्बंध नहीं है। कहीं से कुछ होता हो या कुछ हो जाय, ऐसी बात नहीं है। सब हैं, पूरे के पूरे हैं, परिणमनशील हैं, अपने आपमें परिणमते रहते हैं। परिणमना ही तो इसका काम है। इसको कहते हैं कि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् जो बन जाय, बिगड़ जाय और बना रहे वही तो सत् है। यह प्रत्येक पदार्थों का स्वभाव है। मैं किसी को बना दूं सो बात नहीं है। मैं किसी से बन जाऊं, यह भी बात नहीं है। सो न तो मेरा स्वभाव है परका बनाना और न स्वभाव है परका बिगड़ना। यह कला पदार्थों में अपने आप भरी होती है। प्रत्येक पदार्थों में यह उत्पादव्ययध्रौव्य की कला स्वयं है। दुनिया के लोग यह नहीं समझते हैं सो उनकी यह बुद्धि बन जाती है कि ये चीजें बन जाती हैं तो कोई बनाने वाला अवश्य है। उस बनाने वाले का नाम ब्रह्मा है। देखो कोई चीज बिगड़ी, खतम हो गयी, गुजर गयी तो ऐसा करने वाले महेश हैं। ऐसा उत्पाद व्यय हो जाने पर भी कुछ रहा करता है उसका नाम विष्णु है। भैया! प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। पदार्थ के स्वभाव को तो देखता नहीं, अपने रूपको तो समझता नहीं, केवल बाहर में ही देख-कर कल्पनायें बनाकर यह कहता है कि मैं अमुक को बना दूं, अमुकको बिगाड़ दूं, अमुक को कुछ कर दूं। कोई दूसरा हमें बिगाड़ दे—इस शंका में भी सदैव दुःख रहता है। अरे मैं तो स्वच्छ हूं, मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता। उत्पादव्ययध्रौव्य मेरे में पड़ा होता है सो मैं स्वयं अपने स्वरूप को जानता देखता हूं। मेरी जाननमात्र ही चेष्टा है, बाकी काम नहीं है। सो मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें रहकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं।

यह अन्तर की बात, तत्त्व की बात, इसको जो जानता है वह मूक हो जाता है,

बोल नहीं सकता, मौन हो जाता है। जैसे कोई किसी को कोई चीज समझावे और समझाता है, समझने वाले की समझ में नहीं आता है। अब समझाने वाला भी यद्यपि जानता है सब पर यह ऐसा नहीं समझता है तो समझाने वाला बार-बार समझाता है, पर एक्सप्लेनेशन नहीं कर पाता है। जब सुनने वाला समझ नहीं पाता है तो बोलने वाला टेबुल में हाथ मारकर यों ही रह जाता है। क्या समझाया जाय बताया नहीं जा सकता है। अच्छा मिश्री तो सबने खायी होगी। कोई भाई खड़े होकर मिश्री के स्वाद का एक्सप्लेनेशन कर देवें। अरे भाई आप जान रहे हैं मिश्री के स्वभावको, पर बताता कोई नहीं है। जानते सब हैं, पर बता कोई नहीं सकता। जानते सब हैं, पर वर्णन कोई नहीं कर सकता है। ज्ञानस्वरूप कैसा है ? कोई बतावेगा। जो तत्त्व का जानने वाला है वह मूक हो जाता है। सो मूक जीव ने एक छल पकड़ लिया कि जिसके जानने में गूंगा हो जाता है। उस तत्त्व से हमें क्या प्रयोजन ? २०-२५ वर्ष पहिले धर्म पढ़ने का रिवाज था। संस्कृत पढ़ने का रिवाज था। लड़के विद्यालय संस्कृत पढ़ने के लिए जाते थे। घर के मां-बाप कहते कि अरे देखो संस्कृत पढ़ने से कोई पंडित हो गया, तो कोई-कोई तो घर छोड़कर चल दिया। तो ऐसे पढ़ाने से कोई फायदा नहीं है। ऐसा मां-बाप लड़कों के प्रति सोचते थे। अरे मर्म के तत्त्व को जिसने समझ लिया, जिसको ज्ञान हो गया वह अगर घर से चला जाय तो उसे आसानी से चला जाने दो। उसका उत्सव मनावो। ऐसा जो ज्ञानी ध्यानी निर्णय कर रहा है कि यह तो अपने आपका कल्याण करता है और दूसरों का भी कल्याण करता है तो उसको गौरव होना चाहिए। मान लिया आपने दूकान कर ली, बहुतसा साम्राज्य कर लिया तो उससे क्या होगा ? बतलाओ। अरे ये तो सर्वसाधारण के हैं ही। अगर जीवों का उद्धार हो जाय तो खुशी होनी चाहिए। यह मूर्ख पुरुष छल करता है कि मेरे को उस तत्त्व से क्या लाभ होगा ? अरे भाई ऐसे तत्त्व में, उपयोग में ही शांति है बाहर में शांति नहीं है। बाहरी कामों में तो अशांति ही अशांति है। अपने उपयोग में लगने से शांति ही रहेगी, अशांति का कोई काम नहीं है। क्या आप बतला सकते हैं कि किसमें शांति है ? शांति क्या सर्विस में है, क्या दूकान में है, क्या दुनिया के कोई कामों में है ? अरे शांति कहीं नही है। केवल अपने आपके स्वरूप को देखो तो वहां पर शांति ही शांति मिलेगी। वहां अशांति का नाम नहीं है। अशांति कितने प्रकार की होती है ? एक-एक आदमी में कम से कम एक-एक हजार अशांति होगी। फिर एक आदमी में इतनी प्रकार की अशांतियां हैं तो

दूसरों में भी ऐसी ही नाना अशान्तियां हैं। ये अशांतियां भी एक दूसरेसे मिलती नहीं। इसको और तरह की अशांति, इनको और तरह की अशांति। कितनी तरह की अशांतियां हैं, कोई हद नहीं है। मगर शांति का जो रूप होता है वह केवल एक है और अशांति के रूप करोड़ों हैं। शांति अगर मिली तो उसका केवल एक ढंग है। अगर मान लिया इन लौकिक मौजों में कि हमें शान्ति मिले तो वह शांति नहीं हुई। शांति तो केवल एक प्रकार की है। तो यह तत्त्व जो अपने आपमें विराजमान है उस ओर दृष्टि दो तो उसे शान्ति है। तो ऐसे तत्त्व को जानकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

ओह एक मनुष्य बोल रहा है कि उस तत्त्व के जानने से क्या फायदा? जिस तत्त्व के जानने से ज्ञानी आलसी हो जाता है। तत्त्व को जानने वाला आलसी होता है। ऐसा आलसी होता है कि आंखें खोलता है तो पलक गिराने में आलस्य आता है। आंखों के पलक अगर गिरे तो उठाने में आलस्य आता है। और की बात तो दूर रही, जिनको योगी कहते हैं उनको भी, पलक अगर गिर गयी है तो पलकें उठाने में आलस्य है और अगर नजर उठी तो पलकें बन्द करने में आलस्य है (याने बाह्य में दृष्टि नहीं करता) ऐसे तत्त्व को जानने का हमें क्या प्रयोजन है? और ज्यादा पढ़े तो ऐसे प्रश्न हो जाते हैं कि हम भी मुक्त हो गये तो दुनिया कैसे चलेगी? दुनियाके क्या हाल होंगे? अरे ऐसे सब कहां बन जायेंगे? सब तो नहीं बनेंगे, मगर अनन्ते बन जावेंगे। अनन्ते बनने पर भी अनन्तानन्त ही रहेंगे। अगर इस ही प्रकार से रहे तो खुद को शांति कैसे मिल जावेगी? अगर बाहर में ही दृष्टि गयी तो वहां शांति नहीं मिलेगी। शांति तो वहां है जहां बाहर में दृष्टि न हो। कुछ मत सोचो, कुछ मत बोलो, कुछ मत करो। देखिए, कल्पना, जल्पना, चलना क्या है? कल्पनाओं का सम्बन्ध मन से होता है। जल्पना का सम्बन्ध वचनों से होता है। जिससे जल्प व गल्प गप्प बने और चलपना उठकर चल दे, उठाकर धर दे वह चलपना हुई। न कोई कल्पना हो, न कोई जल्पना हो और न कोई चलपना हो, केवल स्वरूप का ही परिग्रह हो तो तत्त्वज्ञान की प्रवृत्ति बढ़े। शान्ति तो वहां है। लोग कहते हैं कि उस तत्त्व के जाननेसे क्या फायदा जिसको जानकर आलसी हो जाते हैं। भैया! शान्ति तो उस निर्विकल्प तत्त्व में है। मैं अपने ही तत्त्व को निरखकर, उसमें ही उपयोग देकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

मन मेरा स्वभाव नहीं जो दौड़ा करता है। मनका कार्य मेरा कोई कार्य नहीं। मन मेरी वस्तु नहीं। मैं तो मैं ही हूं। मेरे स्वरूप का पता मुझे न हो—यह कैसी अनहोनी बात है ? एक राजा था। घोड़े पर चढ़े हुए जा रहा था। दीवान के घर पर से निकला। दीवान बुद्धिमान था। राजा बोला, दीवान ! मुझे यह समझा दो कि आत्मा क्या चीज है और परमात्मा क्या चीज है ? जो प्रसन्न होता है वह बड़ी बातें करता है। राजा भी प्रसन्न थे। घोड़े पर बैठे हुए दीवान से बाते कर रहे थे। बड़े आदमी प्रायः जब प्रसन्न होते हैं तो बहुत बोलते हैं। राजा बोला, जल्दी समझा दो कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है ? दीवान बोला, अच्छा समझा दूंगा। राजा बोला—समझा दूंगा नहीं, ५ मिनट में ही समझा दो। दीवान बोला—राजा माफ करो, मैं ५ मिनट में नहीं आधा मिनट में समझा दूंगा कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है ? राजा का घोड़ा छुड़ाया और चार छः कोड़े राजा के जमा दिये। राजा बोला—अरे भगवान, अरे भगवान। दीवान बोला—जिसको तुम अरे अरे कहते हो वह है आत्मा और जिसको भगवान कहते हो वह है परमात्मा। हे आत्मन् अपने से बाहर न जानो, अपने से बाहर दुःख हैं। खुद के जानने से ही सुख है। सबको मानो कि भगवान सबमें है। अत्यन्त यथार्थ रूप में आत्मा है। यदि उस अपने यथार्थरूप को देखो तो तुम्हारा परमात्मा तुम्हारे सामने है। जहां यह रागादिक प्रतिभासित हो वह तो मैं हूं किन्तु रागादिक मैं नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। इस ज्ञानमय आत्मतत्व का जब नयों से हल न हो सका तो एक एक एकान्त दर्शन बन गया। सब प्रकार से देखने पर आत्मतत्त्व का सही ज्ञान हो सकता है कि मैं आत्मतत्त्व यह हूं, मैं आत्मा सुखी हूं, निज उपादान वाला हूं, किन्तु माने यह कि मैं अमुक के कारण सुखी हूं तो इसी को कहते हैं निमित्तदृष्टि। और जो दृष्टि अपने आपके लिये अपनी जुम्मेदार होती है इसी को कहते हैं उपादान की दृष्टि। एक पुस्तक है, उसमें एक गधे की कहानी लिखी है। मैंने बचपन में भी उसे पढ़ा था। अब चाहे दूसरा एडीसन तैयार हुआ हो या नहीं, उस कहानी की पुस्तक में बहुत सी शिक्षाएं थीं। एक उपकहानी यह है कि एक धोबी के पास गधा और एक कुतिया थी। कुतिया के बच्चे २०-२५ दिन के हो गए। धोबी कुतिया के बच्चों को उठा भी लेता था। प्यार भी करता था। कुतिया अपने पंजे मारकर धोबी को प्रसन्न करती थी। कुतिया पंजों से ही तो मारती है। कभी मुंह में धोबी के हाथ पैरों में भरकर काटती। इसी तरह से तो कुतिया खेलती ही है। इसी

तरह से धोबी उस कुतिया के बच्चों से प्रेम करता था। गधे ने यह देखा कि धोबी कुतिया से तो प्यार करता है जो बिल्कुल काम नहीं करती है और हम तो बहुत काम करते हैं फिर भी हमसे प्यार नहीं करता है।

उसने इस बात को सोचा कि आखिर हमसे प्यार क्यों नहीं करता है। सोचा तो समझ में आ गया। गधे ने समझ लिया कि कुतिया धोबी को लातों से मारती है और दांतों से काटती है इस वजह से वह प्यार करता है। चलो ऐसा ही हम करे तो हमसे भी यह मालिक प्यार करेगा। गधा अपने स्थान से चला और धोबी के पास पहुंच गया। सोचा कि लाते मारें तो शायद खुश हो जायगा। खूब लातें मारने लगा, काटने लगा। अब धोबी ने डंडा उठाया और उसे पीटनें लगा। उस गधे ने सोचा कि अरे कुतिया से तो वह प्यार करता है और हमें मारता है। तो भाई बातें सबकी न्यारी न्यारी हैं, उपादान न्यारे न्यारे हैं। कोई जोव किसी तरह पीड़ाओं में रहकर शाँत रह सकते हैं, कोई किसी भी स्थिति में धर्मात्मा रह सकते हैं। इसकी परख बाहरी बातों में नहीं होती, भीतर तत्व में होती है।

ऐसा उपादान तत्त्व अगर समझमें आ गया तो सब कुछ ठीक होगा और जिसकी समझ में न आया तो यह ठीक नहीं होगा। जैसे कोई नाव से नदी में जावे, कभी इस दिशा में, कभी उस दिशा में तो लक्ष्य बिना भटकता ही रहता है उसी तरह से इस जगत में वे जीव जिनका कोई शुद्ध लक्ष्य नहीं वे भटकते ही रहेंगे। इतना धन चाहिए, इतनी इज्जत चाहिए, बाल-बच्चे चाहिये। अरे ये सब क्या हैं? वे भी बूढ़े होंगे और मरेंगे। क्या ज्ञानस्वरूप यह आत्मा यहाँ से निकलकर नहीं जायगा? यहां कौनसी चीज सारभूत हैं जिनमें हम पड़े हुए हैं? सारी चीजें छोड़कर जाना पड़ेगा। यहां कुछ रहता नहीं है।

एक सेठ था। उसके चार लड़के थे। अपनी चाबी किसी को भी वह सेठ नही देता था। अपनी फेंट में वह बांधकर रखता था, किसी बच्चे पर वह विश्वास नहीं करता था। सेठ जब खतम होने लगा, गुजरने लगा तो बच्चों से बोला, बच्चों लो, चाबी ले लो। बच्चे कहते हैं कि नहीं पिताजी, चाभी हमें नहीं चाहिए, आप अपने साथ में लेते जाइए। शांति का मार्ग प्राप्त कर लें, ऐसी कोई चीज दुनिया में है क्या? बाहरी बात कुछ भी हो उसमें तो असंतोष न करो। अरे भोजन करते हैं तो देहातों में पूछते हैं कि किस चीज की दाल बना दें, क्या बना दें तब पुरुष उत्तर देता है कि कुछ

भी बना दो। उड़द की दाल बनाओ, चाहे मसूर की बनाओ, चाहे चने की बनाओ, चाहे मूंग की बनाओ, चाहे अरहर की बनाओ, जो होगा सो खा लेंगे। तो भाई जैसे खाने में संतोष है उसी तरह यदि बाहरी व्यवस्थाओं से संतोष हो तब तो ठीक होगा। संतोष तो अंत में करते ही हैं। कोई गुजर जाता है तो कहते हैं कि इतनी ही अवस्था थी, यदि भेदज्ञान से संतोष करें तो लाभ है। ४-६ हजार का टोटा पड़ जाय तो वहां यों संतोष करते हैं कि वह तो किसी से कर्ज लिया था सो चुक गया। अरे धन आए तो क्या, न आए तो क्या? वह सब तो सर्वथा भिन्न है। इस भेदज्ञान से ही संतोष करें तो ठीक है। उसमें भेद तो रहता ही है, जबरदस्ती में क्या है? भैया बात तो भेद-विज्ञान की ही एक पक्की है और यही रोज-रोज चल रही है। अब कुछ भाइयों की मर्जी है कि भक्तामर स्तोत्र का अर्थ हफ्ताभर चले। ठीक है चलेगा, किन्तु भैया! बात पक्की भेदज्ञान की ही है। एक कथा याद आ गयी। एक रंगरेज था, वह आसमानी नीले रंग की पगड़ी रंगना बहुत बढ़िया जानता था। कोई उससे आकर बोलता कि हमारी पगड़ी हरी रंग दो, कोई बोलता सुनहरी रंग दो आदि। रंगरेज सब पगड़ी रख लेता था, वह कहता था कि अच्छा रंग तो देंगे। किन्तु रंग आसमानी ही ठीक खिलेगा। सो भाई कुछ पढ़ा लो, आनन्द तो भेदविज्ञान से ही मिलेगा। चमत्कार तो तभी बनेगा जब ज्ञानस्वभाव के विकास की पूंजी हो। सो मैं अपने आपमें स्वयं निधि रूप, ज्ञानानंदघन हूं अथवा शरण हूं। अगर यह समझ में आ जाए तो मेरा भविष्य सफल है।

एक ऐसी दृष्टि बनाकर कि कोई समय ऐसा आयगा जबकि यह मैं आत्मा इस जड़ शरीर से न्यारा होकर चला जाऊंगा। और उस समय शरीर की क्या स्थिति होगी? मिल-जुलकर यह मित्रमंडल इसे खाक कर देगा। इस शरीर से जब जीव निकलेगा उस समय क्या स्थिति होगी? ज्ञानज्योतिमात्र यह आत्मा होगा, यह शरीर छूट गया, दूसरा शरीर मिला नहीं तो जो बीच के क्षण हैं वे क्षण किस प्रकार के होवेंगे एक। ज्ञानानन्दघन का पिंड जैसा है उस समय मैं परिणमता हूं वैसा ही परिणमता हुआ होऊंगा। एक भावस्वरूप पदार्थ होऊंगा। ऐसा भावस्वरूप पदार्थ मैं शरीर में हूं, अब भी हूं। दूसरे शरीरमें जब जाऊंगा तब भी मैं भावस्वरूप पदार्थ ही रहूंगा। शरीर में रहकर भी मैं शरीर से न्यारा हूं। मुझ में जो परिणमन तत्त्व है वह भी चित्स्वभावमात्र मुझ से न्यारा ही रहेगा। और उन परिणमन तत्त्वों के मायने रागद्वेष की छाया न हो, शुद्ध ज्ञानमात्र सबसे न्यारा मैं होऊं। ये रागादिक ऐसे कैसे हो गए हैं? मुझमें

स्वभाव से तो ये रागादिक नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो रागादिक करने का नहीं, केवल जानन का है। जैसे पानी का स्वभाव बहने का है याने द्रवता का है। पर ठंडा होने व गर्म होने का नहीं है। ठंडा करने से पानी ठंडा हो जाता है और गर्म करने से गर्म हो जाता है, पर पानी सर्वत्र द्रव ही है, गीला ही है, बहने वाला ही है। पानी अपने स्वभाव से न तो गर्म ही होगा और न ठंडा ही होगा। पानी तो कूलर या ठंडा करने वाली मशीन से ठंडा होगा और अग्नि के द्वारा गर्म होगा। ऐसी स्थिति में भी पानी द्रव है, बहने वाला है। इसी तरह यह आत्मा का चाहे क्रोधरूप परिणमन रहे, चाहे लोभरूप परिणमन रहे, चाहे विषयकषायरूप परिणमन रहे, पर अपने ज्ञानस्वभावको नहीं छोड़ता, केवल जानन के स्वभाव में रहता है। इसी कारण विषयकषाय यद्यपि आ जाते हैं तो भी जानन रहता है। जो जानने वाला नहीं है उसमें विषयकषाय के परिणमन नहीं आते। ये विषयकषाय मेरे स्वभाव से नहीं आ रहे हैं, बल्कि उपाधि पाकर आ रहे हैं। जो क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि हो जाते हैं उनका करने वाला मैं नहीं हूं।

जैसे एक दर्पण सामने है। दर्पण के स्वभाव का काम केवल स्वच्छता है, केवल झलक है, झिलमिलाते रहने का स्वभाव है। अपनी चमक बनी रहे यही उसका काम है। जो चीज सामने लेकर रक्खो तो उसकी छाया दर्पण में सही-सही पड़ती है, दर्पण में ही प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। अगर मुक्का बनाओ तो मुक्का दर्पण में दिखाई देगा। इसी प्रकार ओंठ अगर बनाओ तो ओंठों का प्रतिबिम्ब सामने आ जायगा, आंखें अगर तिरछी बनाओ तो आंखोंका तिरछा प्रतिबिम्ब आयगा। दर्पण क्या करे? इसीतरह तेरी आधीनताकी बात है कि क्रोध करले, मद करले, मैं अपनी आधीनतासे यह कुछ नहीं कर पाता हूं किन्तु जैसी उपाधि सामने आती है वैसा कर डालते हैं। इसी तरह दर्पण का परिणमन केवल शुद्ध, स्वच्छ है। आत्माके परिणमन में रागद्वेष नहीं, विषयकषाय नहीं, वह केवल शुद्ध, स्वच्छ एवं ज्ञायकस्वरूप है। ऐ आत्मा! मलीन बनने का तेरा काम है क्या? आत्मा का उत्तर यह है कि मेरा काम नहीं। मेरा काम तो प्रभु की तरह शुद्ध ज्ञान में परिणमते रहने का है। पर क्या करुं? जब यह उपाधि का उदय होता है तब खुद की अशुद्ध योग्यता में यह परिणमन आता है, अशुद्ध, विकारमय, रागादिक, क्रोधादिक, तो मैं इनको करता नहीं हूं इनके करने वाले तो कोई दूसरे ही हैं। इस बुद्धि से अपने को ज्ञानस्वरूप की ओर ले जाया जाता है। इसका कर्ता तो कर्म है। मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही हूं मैं तो जाननस्वरूप हूं। मेरे में रागात्मक भाव नहीं। विपरीत परि-

णमन में बड़ी विचित्रताएं हैं, उनका कर्ता कर्म है। प्रकृति कहो या कर्म कहो। जैन-सिद्धान्त में प्रकृति भी कहते हैं और कर्म भी कहते हैं अपने को शुद्ध स्वभाव की ओर ले जाने वाली इस दृष्टि में कितना आराम मिलता है? विषयकषाय होते हैं वे कर्म के उदय से होते हैं। यह मेरा काम तो ज्ञानमात्र होने का है, जाननका है। जिनमें मेरा अधिकार नहीं उन्हें मैं अङ्गीकार नहीं करता। ये रागादिक होते हैं, होने दो, होकर मिटने दो। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। उन बाहरी वस्तुओं के विषय में ज्ञान होता है। सो ज्ञान तो मेरा काम है, विकल्प मेरा काम नही। जब अपने को ज्ञानमात्र का अनुभव होगा तो ये रागादिक कर्म नष्ट हो जावेंगे। सो मैं ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को देखुं और अपने में अपने लिए अपने आप सुखो होऊं।

कहते हैं कि मेरा काम तो जानन है, मेरी क्रिया तो जानन है। मैं कितना क्या हूं? अपने को ही देखने से पता पड़ेगा। मेरा काम तो जानन है ये विकल्प की तरंगें उपाधिके कारण आती हैं। मेरा काम विकल्प करना नहीं है। जगत के जीव तो विकल्पों के कारण बिगड़े रहते हैं और वे आजीवन इस जगत में सोचते रहते हैं। ये रागादिक उठते हैं तो उठें, उनसे मेरा क्या ताल्लुक है? मैं तो ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानमात्र ही मेरा काम है, जानन ही मेरा काम है। मुझ आत्मा में न जागरण है, न सोना है, न वचन बोलना है, न खाना है, न पीना है। मेरा काम तो यह है कि मैं जाननमात्र हूं, ज्ञाताद्रष्टा हूं कर्ता भोक्तापन की ख्याति तो दंडके लिये हैं, उसका चाव करना तो विपत्ति है। जैसे कभी स्कूल में बच्चों से कोई काम बिगड़ जाय, या कोई बच्चा किसी काम को बिगाड़ दे तो मास्टर उसकी प्रशंसा करता है मास्टर यदि यह कहे कि वाह यह तो बड़ा ही अच्छा काम किया है, बड़ी बुद्धिमानी का काम किया है। इतना सुनते ही जिस बच्चे ने काम बिगाड़ दिया है वह झट कहेगा कि मास्टर साहब मैंने यह काम किया है। मास्टर केवल यह जानना चहाता था कि किस लड़के ने काम बिगाड़ा, इसलिए प्रशंसा करता था। इसी तरह से ये जगत के जीव मास्टर बने रहते हैं, प्रशंसा दूसरों की विनय करते हैं। वाह यह तो बड़ी बुद्धिमानी का काम है, बड़ा ही सुन्दर काम है आदि। यह पता नहीं कि इस प्रशंसाके फलमें मेरेको विपदा ही आवेगी। बाल बच्चों को पढ़ा दिया। अरे उन बच्चों के जीवन भर दास बने रहे, उनकी सेवा की, उनको खिलाया पिलाया। उनका क्या किया? अरे वे तो स्वयं ज्ञानमात्र आत्मतत्व हैं। केवल जानन ही उनका काम है। जगत के १०-२० हजार आदमियों के बीच

में जरा अच्छा सुन लिया तो क्या इज्जत बढ़ गई। यदि यहां न रहते, अन्यत्र कहीं रहते तो यह समागम मेरे को क्या था ? अगर कहीं कीड़े मकोड़े होते, पेड़ वनस्पति होते, या अन्य किसी पर्यायों में होते तो इस रंग ढंग का ख्याल आता। अरे मनुष्य हो गये तो यह अपने को समझो कि हम यहां की मौज के लिये पैदा ही नहीं हुए हैं। हम ऐसा ही समझें कि अन्य भव में होते तो वहां क्या था ? हम निश्चय करें कि हम अपने ही कार्य के लिए पैदा हैं, हम दूसरों की दिखावट के लिए, बनावट के लिए, तथा सजावट के लिए नहीं। हम कहीं अन्यत्र पैदा हो गए हों यह तो है। यह मैं किसी भी क्षण अपने विकल्पों को छोड़कर अगर काम करुं तो अपने आपमें आनन्दमग्न हो सकता हूं। यदि मैं विकल्परहित होकर कार्य करता हूं तो ठीक है, नही तो सब दुर्दशा हो जायगी। इस जगत में कोई किसी का मोह करता, कोई किसी का मोह करता, पर मोही प्रायः सभी हैं। इसी कारण दुखी भी सभी हैं।

देखो थोड़ा ही ज्ञान हो, पर मेरी आत्मा में विवेक हो तो ठीक है। पर बहुत ज्ञान हो और आत्मा में विवेक न हो तो ठीक नहीं है। उल्टा ज्ञान से तो विकार है। थोड़ा ज्ञान हो पर सही ज्ञान हो तो सबसे न्यारा, ज्ञानमात्र अपने आपमें समझ रहती है। बहुत से शास्त्रों का ज्ञान हो, तीन लोक की रचनाओं का ज्ञान हो, बहुत ज्ञान हो, पर विचार उल्टा हो, विवेक साथ न हो तो सही ज्ञान नहीं है।

एक बुढ़िया के दो लड़के थे। दुर्भाग्य से उन दोनों लड़कोंके आंख का रोग था। एक को कुछ कम दिखता था और एक को ज्यादा दिखता था, पर पीला दिखता था। दोनों बच्चों को बुढ़िया वैद्य के पास ले गयी। वैद्य ने दोनों की एक ही दवा दी। कोई सफेद-सफेद भस्मसी थी। कहा कि चांदी के गिलास में गाय के दूध में इस पुड़िया को इतनी-इतनी खुराक मिलाकर देना, आंखें ठीक हो जावेंगी। बुढ़िया दवा लेकर गयी। दोनों को चांदी के गिलास में गाय के दूध में भस्म डालकर देने लगी। पहले उस लड़के को दिया जिसको पीला दिखता था। लड़के ने कहा—मां, क्या हमीं तुम्हारे दुश्मन मिले ? इस पीतल के गिलास में मूत डालकर हमें दे रही हो, हम तो इसे नहीं पीवेंगे। अब उस लड़के को दिया जिसे कम दिखता था। उसने देखा कि चांदी का गिलास है, दूध है, भस्म पड़ी हुई है। उसने उस दवा को पी लिया। उस दवा के पी लेने से आंखों का रोग दूर हो गया। जो ज्यादा देखता था, ५० हाथ, १०० हाथ दूर तक देखता था, उसकी उल्टी दृष्टि थी, इसलिए दवा नहीं पी और उसका भला नहीं हुआ।

जिसका ज्ञान ज्यादा है, मगर प्रयोग या उपयोग उल्टा है तो भला नहीं होगा मेरा भला तो निजी आत्मा के अनुभव से होता है जो कि सही ज्ञान है। यदि ज्ञान ज्यादा है पर सही नहीं है तो उससे भला नहीं हो सकेगा। जिसकी अपनी दृष्टि होती है, अपने चरित्र की दृष्टि होती है, अपने चरित्ररूप परिणमनकी दृष्टि होती है वह ही दृष्टि सही मानी जाती है। ज्ञानी पुरुष यह सोचता है कि जानन ही मेरा काम है। सोने, उठने, बोल-चाल इत्यादि का मेरा काम नहीं है। ये होते हैं उपाधि का निमित्त पाकर, अपने आप होते हैं। अरे होते हैं तो होने दो। मेरा यह काम नहीं है। मेरा काम सर्वत्र जानन ही इस मुझ आत्मा का काम है। मैं करुंगा क्या ? अरे इस आत्मस्वरूप को उपयोग से खोल लो, इसको देख लो। देखोगे कि यह आत्मा तो केवल जानन का ही काम कर रही है। जानन सब्रमें रहता है। केवल जानन ही मेरा काम करता रहता है। यह काम कठिन हो रहा है। मैं सब ओर से जानता हूं, सर्वत्र ऐसी ही पद्धति जाननस्वरूप की है। ससुराल जाने वाली बहुत-सी लड़कियां हंसी खुशी से जाती हैं, मगर रोना पड़ता है। भीतरसे तो यह होता है कि चूल्हा ठीक करना है, शृंगार करना है, यह करना है वह करना है कुछ हंसी खुशी होती है, मगर यह जानती है कि रोना चाहिए, यही ठीक है। इसी तरह दूकानपर मुनीम ग्राहकों से ये बात करते हैं कि तुम पर मेरा इतना दाम गया है, तुम्हारा मेरे पास इतना आया है। इस तरह मेरा भी कह रहा है, परन्तु श्रद्धा यह है कि मेरा कुछ नहीं, यह तो सेठ का है। अरे मेरा तो यह काम नहीं, मेरी यह ड्यूटी नहीं। यह तो सेठ का काम है। और भी देखो विवाह इत्यादिमें पड़ौस की स्त्रियां बाजा बजाने के लिए आ जाती हैं, गाने गाती हैं— "मेरे बना सरदार, राम जैसी जोड़ी" आदि सो तो ठीक है। अगर कहीं दूल्हाकी घोड़ी से गिरकर टांग टूट जाय तो उनको कोई दर्द नही होता। और अगर दूल्हा की मां को इसका पता लग जाता है तो वह कितना दु:ख करती है ? उसके दु:ख का ठिकाना नहीं रहता है। सो भैया ! अगर परपदार्थों को मान लें कि ये मेरे हैं तो दु:ख होगा और अगर यह समझमें आ जाय कि मेरे नहीं हैं तो दु:ख न होगा। मेरा कोम केवल जानन-मात्र स्वरूप वाले आत्मा का काम ही केवल जानन है। हे प्रभो ! मैं जानन के काम में ही संतोष पाऊं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

अहा हा ! यह सारी दुनिया, यह मेरा सारा संसार केवल मेरे संकल्प में ही उत्पन्न हो गया व कल्पना मिटते ही नष्ट हो गया। यह मेरा है क्या ? संसार केवल

कल्पनाओं रूप ही बना हुआ है। कल्पना से यह उत्पन्न हुआ और यहां से मरकर अकेले ही चला जायगा। जब तक मैं इस शरीर में हूं तब तक यह मेरा है, यह उसका है, इस संकल्प में ही मैं बन गया हूं। केवल संकल्प ही हो गए हैं, यह मेरा काम है, यह मेरा परिवार है आदि। जब ये जुदा हो जावेंगे तो फिर दुनियाभर का पता चल जाय। ज्ञानस्वरूप आत्मा इस देह से निकल जाता है। यह तो सबसे न्यारा है, पर महसूस यह करता है कि यह मेरा ही है। यही तो संकल्प है। यह सारा संसार संकल्पों में ही बैठा हुआ है और सारे संस्कार ज्ञान होने से ही नष्ट हो जावेंगे।

एक बुढ़िया का छोटा बेटा मर गया। उस छोटे बेटे को ही वह सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छोटा पुत्र मर गया तो वह बुढ़िया उसे जलाने नहीं देती। उसको अपनी छाती से लगाए रही। उस बुढ़िया को एक साधु मिला। साधु से बुढ़िया ने बताया कि महाराज मेरा पुत्र मर गया है, जिन्दा कर दीजिए। साधु बोला कि जिन्दा हो जायगा, मगर एक काम यह करो कि जिस घरमें कभी कोई मरा न हो, उस घर से पावभर सरसों के दाने ले आवो। बुढ़िया जल्दी-जल्दी से दूसरे के घर गयी, बोली कि हमें एक पाव सरसों के दाने दे दो। घर वाले बोले—हां, हां एक पाव नहीं, ५ सेर ले लो। बुढ़िया ने पूछा—मगर यह तो बतलाओ कि इस घर में कोई मरा तो नहीं है। घर वाले बोले—मां, इस घरमें तो बहुत लोग मर गए—दादा मर गए, भाई मर गया, बहिन मर गयी आदि। बुढ़िया बोली—तो हमें ये सरसों नहीं चाहिए। अब बुढ़िया तीसरे घर गयी। बोली—पाव सरसों चाहिए, बोले—हां हां १० सेर ले लो। मगर यह तो बताओ कोई घर में मरा तो नही है, वे बोले अरे यहां तो बहुत मर गए हैं। इसी तरह से बुढ़िया ने १०-११-१२ घर ढूंढ़ लिए, सभी जगह यही एक उत्तर मिला। इतना पूछने के बाद उसके ज्ञान जगा कि अरे सारी दुनिया में यही हाल है। इतना ज्ञान जब बुढ़िया के जग गया तो प्रसन्न हो गयी। बोली—अरे ये तो सब न्यारे-न्यारे पदार्थ हैं। अब तो उसके ज्ञान जग गया। बुढ़िया प्रसन्न चित्त साधु के पास गयी, साधु से नमस्कार किया। साधुने पूछा—मां तुम प्रसन्न दिखती हो, क्या तुम्हारा बच्चा जिन्दा हो गया। बुढ़िया ने उत्तर दिया कि हां हमारा बच्चा जिन्दा हो गया। आपने सुनाया था कि सारी बातोंमें ३ प्रकार हुआ करते हैं—(१) शब्द, (२) अर्थ, (३) ज्ञान। शब्द पुत्र, अर्थ पुत्र और ज्ञान पुत्र। अगर शब्द पुत्र हो तो वह यह है जो केवल पुत्र शब्द लिखा हुआ है। अर्थपुत्र वह है जो दो हाथ-पैर वाला है और ज्ञानपुत्र वह है जो

पुत्र के बारे में ज्ञान होता है।

बुढ़िया बोली कि मेरा तो ज्ञानपुत्र था, ज्ञानपुत्र की ही मृत्यु हो गयी थी, वह अब जिन्दा है। वह अपने आपमें है, वह जीवित हो गया है। सो भाई इस सारे विश्व में मेरा कुछ है नहीं। यह बात पक्की मानो, नहीं तो धोखा ही धोखा रहेगा। जगत की व्यवस्था यह है कि कोई किसी की चीज छुड़ाता नहीं, पर सोच लो कि अरे ये कुछ मेरी नहीं हैं। इतना सोच लेने से क्या बिगाड़ हो जायगा ? जैसे बुढ़िया को ज्ञान जग गया कि यह मेरा पुत्र ज्ञानपुत्र है, बोली महाराज मेरा ज्ञानपुत्र जिन्दा हो गया है। अरे मैं तो ठीक हूं। मेरा ठीक करने वाला कोई इस जगत में नहीं है। यह ध्यान अपने आपमें रमना चाहिए कि मेरा मात्र मैं ही हूं, ये जगत के सारे पदार्थ हमसे छूट जावेंगे। यह विश्वास बनना चाहिए कि मेरा कोई इस जगत में नहीं है। यह मैं सदा ज्ञानमात्र स्वतः परिपूर्ण हूं, मैं जैसा हूं तैसा ही हूं।

अपने आपको छोड़कर बाकी जगत के जितने भी पदार्थ हैं वे पदार्थ क्या आपके आधीन हैं ? वे आपके आधीन नहीं हैं। वे तो स्वयं सत् हैं। उनके चतुष्टय में उनका परिणमन होता रहता है। वे तो आपके आधीन हो ही नहीं सकते हैं। यदि कुछ आपकी इच्छा के अनुकूल हो गया तो वह काकतालीय न्याय है। जैसे कोई नारियल का पेड़ है, नारियल लगे हुए हैं, एक कौवा नारियल के पेड़ पर उड़ता है, उसके उड़ते समय ही अगर एक नारियल नीचे गिर पड़े तो ऐसा लोग सोचते हैं कि कौवे ने नारियल को गिराया। अरे वह तो अपने आपसे ही गिर गया है, कौवे के गिराने से नहीं गिरा है। एक बार अगर ऐसा समय आ गया तो आ गया, बार बार नहीं आता है। कोई कभी आपके मन के माफिक काम बन जाय, आपके मित्र जन आपके अनुकूल हो गए, आपके परिवार के लोग आपके अनुकूल हो गए, ऐसी बात तो शायद ही कभी हो जाय, नहीं तो सर्वथा आपके अनुकूल कुछ नहीं होता। देखो भाई उस नारियल के गिर जाने में क्या कौवे की करतूत थी ? नहीं, वह तो स्वयं ही गिरा था। मगर लोग कहते हैं कि कौवे के चले जाने से नारियल गिरा। सो भाई परपदार्थ स्वयं परिणमते हैं, जितने भी परपदार्थ हैं, वे किसी दूसरे के आधीन नहीं हैं, बल्कि स्वयं ही अपने आधीन हैं। बड़ों बड़ों के भी ऐसा नहीं हो पाता कि जैसा वे चाहें वैसा अन्यत्र परिणमन हो जावे।

राम और सीता का कितना बड़ा भारी स्नेह था, कोई प्रमाण दे सकता है ? राम जानते थे कि सीता निर्दोष है। धोबी के द्वारा कही बात फैल गयी थी। जब राम

ने वह बात सुनी तो फिर लोकमर्यादा को बचाने के लिए सीता जी को जंगल में छुड़वा दिया। राम यद्यपि जानते थे कि सीता निर्दोष है फिर भी कहते हैं कि लोकधर्म की मर्यादा रखनी चाहिए। लोग कुछ अनीति न ग्रहण करें—यह सोचकर ही उन्हें जंगल भेज दिया था। तो भाई देखो सीता के आधीन राम भी नहीं हुए। सीता का इतना स्नेह था, फिर भी सीता के मनमाफिक कुछ न हुआ।

जिन लड़कों बच्चोंसे तुम प्रेम करते हो, वे आज्ञाकारी भी हैं, फिर भी वे अपने विषय कषायों को लिए रहते हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए ही आज्ञाकारी बने हुए हैं। वे मेरे आधीन नहीं है। भाई कोई किसी के आधीन नहीं है। वे स्वयं ही परिणमते रहते हैं। वे मेरे अनुकूल नहीं परिणमते, वे मेरे आधीन नहीं हैं। मेरे आधीन तो मेरा ज्ञानस्वरूप है। मैं अपने ज्ञानस्वरूप को जानूं तो मेरी रुकावट करने वाला कोई नहीं है। हम ही स्वयं विषय कषायों में पड़कर अपने ज्ञान में रुकावट पैदा करते हैं, अन्य कोई दूसरे पदार्थ मेरे ज्ञान में रुकावट नहीं पैदा करते। बाहरी पदार्थों में पड़ने से ज्ञान की रुकावट होती है। कभी किसी चीज की इच्छा हो जावे कि अमुक चीज खा लें, अमुक चीज पी लें। न जाने कौनसा विघ्न आ जाय वह चीज कहीं न मिले।

भाई परपदार्थों के संयोग में तथा अपने आपके ज्ञानस्वरूप में नाना विघ्न नहीं होते हैं। अपने आपके स्वरूप का अनुभव करें तो करें और अगर न करें तो न करें। पर बाह्य पदार्थों के ख्याल को भुला देवें, विश्राम से बैठें तो अपने ज्ञान का अनुभव सुगम हो जायगा। मेरे काम में दूसरे पदार्थ कोई बाधा नहीं डाल सकते हैं। हम स्वयं अपने कार्यों में बाधा डाल लेते हैं। जैसे वाय वाला पुरुष खुद ही खटिया से उठकर बाहर को भागता है, इसी तरह विषय कषायों की वेदना से उठकर बाह्य में भागते हैं। बाह्य उपयोग से ही ये विषय कषाय बन गए हैं और दूसरी कोई बात नहीं है।

अरे तू तो अत्यन्त स्वाधीन है। तू अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव तो कर। लोक के व्यवहार की सारी बातें पराधीन हैं। स्वाधीन तो केवल अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव है। लेकिन देखो जो स्वाधीन बात है, सरल बात है, सुगम बात है, निर्विकल्प बात है उसकी ओर तो दृष्टि ही नहीं जाती। जो पराधीन है, दुर्गम है जिनमें विघ्न ही भरे होते हैं, ऐसे बाह्य पदार्थों के संयोग के लिए कमर कसे हैं। भैया अपनेको ज्ञानानन्दमय स्वयं सर्ववैभवसम्पन्न समझकर, बाह्यपदार्थों को अपने उपयोग में न लेकर, अपने आपमें ही विश्राम पाकर, अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होओ।

देखो राज्य में महान क्लेश हैं। राज्यका मतलब केवल राज्य से न लो। राज्य का मतलब दुकान से, व्यापार से, आजीविका इत्यादि से है। ये सब बाहरी बातें हैं, इनमें पड़ने से क्लेश ही क्लेश है। भाई करोड़ों रुपयों का धन एकत्रित कर लें तो उसमें भी क्लेश ही क्लेश हैं। धन कमाने में, रोजगार करने में, राज्य करनेमें, हुकूमत करने में देखो कितने क्लेश हैं ? अनन्ते क्लेश उन्हें हो जाया करते हैं। अब योगी सन्यासियों की भिक्षावृत्ति देखो—कोई पुरुष ज्ञान उत्पन्न करके अंतरंग से विरक्त हो जाय, अपने ध्यान में लीन हो जाय वह योगी सन्यासी है। उसे कभी क्षुधा लगे तो उसे क्लेश नहीं होते। क्योंकि जब भूख लगे तब वह बच्चेकी भांति ऐषणा को निकलता है। वह किसी गांव में निकल जाय। यदि कोई आदर से बुलाये, कुछ खाने को मिल जाए तो खा ले, नहीं तो संतोष करे, यही भिक्षावृत्ति कहलाती है। भिक्षावृत्ति में केवल क्षणमात्र का यत्न है। इन दोनों में अन्तर देखो तो बरबादी दोनों ने की।

बड़े-बड़े महाराजा २४ घंटे क्लेश ही उठाया करते हैं, पर एक सन्यासी मुश्किल से पौन घंटा में ही अपना काम कर लेता है, उसे कोई क्लेश नहीं होते हैं। ऐसा काम तो वे ही कर सकते हैं जिनके पास हिम्मत है। आहार न मिले तो ठीक है और मिले तो ठीक है। दोनों में राजी होवे तो काम चलेगा, नहीं तो नहीं चलेगा। भाई भिक्षा-वृत्ति से तो क्लेश नहीं होंगे, पर बड़े-बड़े धन वैभव के होने में तो क्लेश ही रहेंगे। परन्तु परमार्थ से शान्ति न तो भिक्षावृत्ति में है और न धन वैभव से है वरन् अपने ज्ञानस्वरूप के दर्शन से है। भाई जब ज्ञान का अनुभव हो तभी स्वाधीनता है। जब इच्छा हो तब ज्ञान का अनुभव कर लो—ये प्रत्येक पदार्थ अगर तुम्हारे संयोग में हैं तो यह पराधीनता है। मैं किसी भी धन वैभव, परिवार इत्यादि के साथ न रहूंगा, क्योंकि ये सब मिट जावेंगे। आज न तो राम ही दिखते हैं, न तीर्थङ्कर ही दिखते हैं और न कृष्ण दिखते हैं। ऐसी ही जगत की स्थिति है। जो इस समागम में रहते हैं, समागम में ही मस्त हैं, उन्हें यह खबर नहीं रहती कि इससे क्लेश होंगे। इन समागमों से अचानक वियोग होता है। इन समागमों से ही बड़े-बड़े क्लेश उत्पन्न कर लेते हैं। अरे हमें यह सोचना है कि सब पदार्थ जुदा-जुदा हैं, उनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं है। कुछ भी तो गुंजाइश नहीं कि कोई परपदार्थ मेरा हो जावे। मैं तो जाननस्वरूप हूं। जितनी भी चीजें हैं वे सब अपने आपमें हैं। मेरा किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध नहीं है। यदि मेरा उपयोग बाह्य से होगा तो मुझे सुख नहीं होगा। देखो भैया ! यदि इन समागमों के बारे

में यह विश्वास हो जाय कि इनका वियोग होगा ही तो उनके वियोगसे दु:ख न होगा। जैसे कोई मित्र ऐसा हो कि जिसके प्रति यह ख्याल आ जाय कि यह तो धोखा देने वाला है ऐसा ख्याल उसका पहले से ही बन गया है। यदि वह मित्र उसे धोखा दे देवे तो उसके प्रति ज्यादा दु:खी नहीं होंगे क्योंकि पहले ही मालूम था कि इससे हमें धोखा मिलेगा और अगर जिसके प्रति कोई शंका न हो और वह अचानक ही धोखा देवे तो उससे बहुत क्लेश होगा। बाहरी पदार्थों का जो समागम है वह भिन्न है, अहित है, विनाशीक है, ऐसा जानूं तो क्लेश न होगा। वस्तुत: मैं तो केवल अपने आत्माके अन्दर रिक्त तत्त्व को जानता हूं। सो मैं ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव करके स्वयं सुखी होऊं। देखो यह आत्मा स्वरूप बड़ा महान् है, ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान से ही इसकी रक्षा होती है, सहजस्वरूप आनन्द ही इसमें भरा हुआ है। इसमें कोई अधूरापन नहीं है। ज्ञान का नाम ही आत्मा है, आनन्दमय ही यह आत्मा है, परमात्मा है। कोई पिंड रूप चीज तो मैं नहीं हूं। जो पकड़कर दिखाया जा सके। भैया ! जो मेरा ज्ञानस्वरूप है वह जानन है, इसी के माने आत्मा है। ज्ञानमात्र भावों को छोड़कर अगर हम बाह्य में झुके तो दु:ख ही मिलेंगे। हम तो बिल्कुल ठीक हैं, हमारेमें कोई कमी नहीं है। मामला बिल्कुल तैयार है। खाना बिल्कुल तैयार है, खाओ चाहे न खाओ यह तुम्हारे विवेककी बात है। सारा मामला तैयार है, मगर तुम इस अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखते हो। अरे ये बाह्य पदार्थ जो मेरे कुछ नहीं हैं, जिनसे मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। अरे अपने स्वरूप को न देखकर जिन बाह्य में ही दृष्टि लगाने से बरबादी ही बरबादी है उन्हीं की ओर झुकना यह अपने प्रभुपर अन्याय है। अगर अपने स्वरूप को देखना चाहो तो देखो और अगर न देखना चाहो तो न देखो, यह तुम्हारे विवेक की बात है। अधूरापन तो कुछ है नहीं। मामला तो पूर्ण अनादि से ही है। जिस पदार्थ में यह जीव अपना उपयोग देता है वही पदार्थ इसको मिल जाता है। कभी बैठे-बैठे अनुभव किया होगा कि कोई नींबू बड़ा हो, मानो आने का एक वाला। उसकी छोटी-छोटी फांकें करो, ऐसा उपयोग में सोचो और उसके स्वाद की कल्पना करो तो नींबू का खटास गले में उतरता है। जिसे कहते हैं कि मुंह में पानी आ जाता है। तो क्या आपने नींबू के रस का स्वाद लिया इसलिए गले में खटास आई ? नहीं, नींबू के प्रति ज्ञान किया गया, ध्यान किया गया तो उससे गले में खटास आयी।

बाहर में से इस आत्मा को कुछ नहीं मिलता, स्वयं में ही कुछ मिलेगा। क्या

मिलेगा जो सोचेंगे वह मिलेगा । वह अपने ज्ञान की चीज है, पदार्थों में लोग मान लेते हैं । परपदार्थों के उपयोग से कुछ नहीं मिलता है, केवल अपना ज्ञान परपदार्थोंके जानने में लगता है सो उसके लगाने में स्वयं में ही कुछ मिलता है । मेरी आत्मा में किसी चीज का प्रवेश नहीं है । परपदार्थों के उपयोग से तो पर स्थान ही प्राप्त होता है और निज के उपयोग से पर का अभाव होता है । इसने तो बाहरी पदार्थों को सोच लिया कि मेरे हैं । अरे अगर बाह्य को सोच लिया तो खुद का उपयोग नहीं रहेगा । अपने आपको यदि सोचो तो परिणाम अच्छा रहेगा । अब यह विवेक कर लो कि कहां उपयोग लगाना चाहिये ? मुझे इज्जत नहीं चाहिए । अगर इज्जत चाहोगे तो मोह में फंसे रहोगे । मोह में फंसने से पराधीन रहना पड़ेगा । पर में लगनेसे देख लो लाभ है क्या ? भैया ! परपदार्थों से कोई लाभ नहीं है । अरे अगर उन समागमों में फंसा रहा तो पराधीन होना पड़ेगा । सब अपनी-अपनी भावनाओं से पर की आधीनता का विकल्प करके रहने से अपने-अपने आधीन हैं । ये सब एक ही जगहपर न जाने किस-किस गति से आकर इकट्ठा हो गए हैं ? किसी दिन ये सब यहां से चले जावेंगे । इस भव में जिसने जन्म लिया है, क्या यहां कोई रह जावेगा ? नहीं, इस जगत के प्राणी अपने-अपने सत से हैं, अपने आपमें ही परिणमते रहते हैं, उनसे किसी का रंच भी सम्बन्ध नहीं है । वे सब इस जगत में स्वयं ही आए हैं और स्वयं ही मिट जावेंगे । देखो यह पर्याय ही मिटेगी । सत् तो शाश्वत ही रहता, मगर उसे जानता बिरला ही कोई है । है । इस जगत में कोई किस गति से आया है, कोई किस गति से आया है । कितना समय इन प्राणियों का यहां पर गुजर गया ? इस संसार में प्राणियों ने अपने विवेक को भुला दिया है, इस संसार के समागमों को इसने अपना लिया है । अपने को समागम में ले जाने में कोई विवेक नहीं है । इन सब समागमों से हटकर मैं अपने उपयोगको अपने ज्ञानमात्र, ज्ञायकस्वरूप में लाऊंगा—यही विवेक है । मैं निज जानन में ही रमूं, यही प्रभु का दर्शन है । अपने सत्य का आग्रह हो तो सत्य का दर्शन होगा ही ।

एक कथानक है कि एक पंडित जी थे । उनके पास कुछ गायें, भैंसें भी थीं । पंडित जी ने उन गाय भैंसों को चराने के लिए एक ग्वाला रख लिया । ग्वाला भगवान का भक्त था । एक दिन उसने एकादशी का व्रत किया, भगवानका भोग लगाने के लिए अपने मालिकसे कुछ आटा मांगा । पंडित जी ने उसे आधा सेर आटा दे दिया । ग्वाला सोचता है कि इतने में हम खावेंगे और भगवान खावेंगे तो दोनों ही भूखे रह जावेंगे ।

उसने सोचा कि क्या करें पंडित ने इतना ही दिया। अच्छा आधा मैं खा लूंगा और आधा भगवान को खिला दूंगा। अब उसने उस आधे आटे की चार बाटियां बना लीं। अब भगवान को वह देखता कि आते ही नहीं। देखो भाई उसने सोच लिया था कि जब तक भगवान नहीं खावेंगे तब तक मैं नहीं खाऊंगा। बोला कि भगवान जल्दी आवो हमें तो भूख लगी है। सो भैया! व्यन्तर देव कौतूहल करते फिरा ही करते हैं, सो कोई व्यन्तर पूर्वचारित्र की चर्या के भेष में आ गया। बोला, भगवान यह तो खाना इतना ही है आधा ही तुम्हें मैं दूंगा। अपना आधा हिस्सा मैं ले लूंगा, मैं भूखा कैसे रहूंगा? खाकर जाते समय भगवानदेशी बोले कि अब हम दो जने आवेंगे। अब दूसरी एकादशीं को भी पंडितजी ने वही आधा सेर आटा दिया। उसने तीन बाटियां बनाईं। वे दोनों आ गये। ग्वाले ने कहा कि आज तो इतना ही है, सो जो हिस्सा बैठे सो खा मैं अपना तिहाई हिस्सा ले लूंगा और दो तिहाई तुम दोनोंके लिए रहेगा। खाया, जाते समय भगवानवेशी कह गये कि अबकी बार २० जने आवेंगे। ग्वाला बोला, कितने ही आवो जो हिस्सा बैठे सो ही मिलेगा। तीसरी एकादशीको ग्वाला बोला कि अब २० जने आवेंगे सो काफी भोजन रख दो। पंडितजी ने सोचा कि हम तो रोज भोग लगाते कोई नहीं आता। देखें इसके पास कैसे आते? पंडित जी ने २५ सेर मिठाई दे दी। ग्वाला जंगल में आग्रह करके बैठ गया। लगभग २०-२५ सेर का सामान ग्वाले ने तैयार कराया था। सो बोला भगवान जल्दी आकर खाओ खूब चकाचक काम है। वहां तो २० आदमी आ गये। ग्वाले ने कह दिया कि आज तो भरपेट खावो, हम भी सब खा लेंगे। पंडित जी छुपकर देखते रहे। सब लोगों ने खा लिया और अन्तर्ध्यान हो गए।

देखो भाई ग्वाला सत्य का आग्रह ले करके बैठा था, इसीलिए भगवान ने न सही तो किसी ने भी उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिए।

मैं अगर सत्य का आग्रह करके रहूं कि मैं ज्ञानस्वरूप एक सत् पदार्थ हूं, मैं ज्ञानमय हूं, मेरा प्रभु मैं ही हूं, मेरा अन्य से कोई वास्ता नहीं है, मैं यथार्थरूप हूं, नाना रूपों में मैं नहीं हूं, मेरा तो काम केवल जानन का है। मैं अपने ज्ञानतत्त्व में रहता हूं, ऐसा यदि सत्य का आग्रह होगा तो यहीं बैठे ही अपने प्रभु का दर्शन होगा अन्यथा अपने प्रभु के दर्शन होना असम्भव है। मैं अपने में यह विश्वास न करूं कि मैं बाल-बच्चों वाला हूं, परिवार वाला हूं, नष्ट हो जाने वाला हूं, पराधीन हूं। ऐसे विचार यदि होंगे तो ये तो खोटे विचार हैं, खोटे परिणाम हैं, मोह है, मिथ्यात्व है। इस प्रकार

का असत्य का आग्रह करने से अपने निज प्रभु का दर्शन नहीं हो पायगा । आजीवन क्लेश ही नजर आवेंगे । इस प्रकार के विचार यदि रहे तो संसार में रुलना ही बना रहेगा ।

भाई ! अपना शुद्ध आग्रह करो तो भला होगा, नहीं तो भला नहीं होगा । परपदार्थों का आग्रह करने पर अशांति प्राप्त होगी, अपने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो पायेगा । अपने उपयोग में लगने से ही भलाई है । मैं अपने ही आपके स्वरूप में ही अपना उपयोग ठहराने की कोशिश करु तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा कल्याण नहीं होगा । जैसे कहते हैं ना कि वहां न जाओ, वहां पर क्लेश ही क्लेश हैं । ऐसे ही पर-पदार्थों में न जावो वहां विपदा ही विपदा है तो मैं आत्मा अपने आपके सत्य के आग्रह को ठहराने की कोशिश करु और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं ।

मैं केवल संकल्प विकल्पों को दूर करु तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं । जैसे कहते हैं ना कि कौवे के कोसने से ढोर नहीं मरते । जैसे कौवा मांस खाना चाहता है तो कौवे के कोसने से क्या गाय मर जायगी ? इसी प्रकार मेरे सोचने से क्या परका वैसा परिणमन होगा ? नहीं । सो मैं अपने को अपने उपयोग में लगानेकी कोशिश करु तो शान्ति प्राप्त हो सकती है । इस आत्मा में किसी बाह्य चीज का प्रवेश न हो, मेरा आत्मस्वरूप ही मेरी दृष्टि में रहे और मैं अपने में अपने लिए अपने आपमें स्वयं सुखी होऊं ।

पं० दौलतराम जी कहते हैं कि मैं "भ्रम्यौ अपन को विसरि आप । अपनाये विधिफल पुण्य पाप !" मैं अपने आपको भूलकर पुण्य और पाप को अपनाता फिरा । मैं क्या हूं, इसका कुछ ज्ञान नहीं किया । किन्तु जो पुण्य और पाप का उदय है उसको ही अपनाता फिरा । यह शरीर धन वैभव आदि पुण्य और पाप का फल है । इसके कारण भी सुगमता से पुण्य और पाप हुआ करते हैं । इस शरीरादिक के ही कारण संक्लेश हुआ करते हैं और इसके ही द्वारा हर्ष हुआ करता है, ये धन वैभव पाप के भी फल हो जाते हैं, इसी की वजह से जान चली जाती है और इसी की वजह से चैन आती है तो यही वैभव पुण्य के फल हो जाते हैं । इस अपने को छोड़कर बाकी जितने परपदार्थ हैं उनको मानो वह सब पुण्य और पाप का फल है । जब केवल कल्पना से पुण्य पाप बनते हैं तो पुण्य और पाप के फल को बनाना अपने हाथ ही तो हुआ । जो शुद्धस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, केवल ज्ञाताद्दष्टा है, ऐसा जो चैतन्यस्वरूप है उसको

न अपना पाता। फिर क्या अपनाया, कुछ नहीं। जैसे कहते हैं कि अपने बच्चे को अपनाओ तो कुछ मिलेगा और गैर को अपनाओगे तो कुछ नहीं मिलेगा। गैर तो गैर ही है। ऐसा लोक में कहते हैं। इसी तरह यह जो तेरा स्वरूप है उसको अपनाओ, इसी से लाभ मिलेगा। पर जो गैर हैं, पुण्य पाप के उदय के फल हैं उनको अपनाने से हे आत्मन् तू क्या लाभ पायगा ? इस आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होने से इस जगत का प्राणी यह जानता है कि पर ही सब कुछ हैं, शरीरादि ही सारी सारभूत चीज हैं। वह बढ़वारी अपने शरीर की चाहता है, पर को ही सर्वस्व समझता है जिसका फल बुरा होता है। देखो जीवका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म उसे कहते हैं जो उत्कर्ष से रहे। अब जिसने शरीर को मान लिया कि यह मैं हूं तो वह शरीर को बढ़ायेगा, जिसने इज्जत को मान लिया कि यह मैं हूं वह इज्जत को बढ़ाएगा, जिसने आत्मतत्त्व को ज्ञानदर्शन को मान लिया कि मैं यह प्रभु हूं तो वह अपना ज्ञानदर्शन बढ़ाएगा। इस अज्ञानी जीव ने इस पुण्य पाप के फल को अपना मान रक्खा है इसीलिए उनको ही अपनाता, इससे दुःखी ही होता। यह नहीं पता कि मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र हूं, जो पकड़ा नहीं जा सकता, छेदा नहीं जा सकता, घेरा नहीं जा सकता, आंखों से देखा नहीं जा सकता ऐसा ही मैं एक चैतन्य वस्तु हूं। मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं पृथक् हूं, सबसे न्यारा हूं। जिसकी इस प्रकार की दृष्टि नहीं होगी उसको शांति नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि एकमात्र हित का मार्ग नहीं मिला। तू नाना प्रकार के अहित के मार्गों में अपने आपको रुलाता फिरता है। यहां शांति मिलेगी। जगह-जगह तू ढूंढ़ता फिरता है परन्तु फल कुछ नहीं मिलता है। फल की जगह में ठोकर खाता है। अपने आपमें जान, अपने आपको जान। दुनिया में कुछ भी हो उससे मेरा क्या बनता बिगड़ता है ? बिगड़ता तो केवल अपने में कल्पनाएं बनाने से है। कल्पनाओं पर ही तो यह सारा खेल जमा है। इसका फल क्या मिला ? क्लेश ही क्लेश। भावात्मक यत्न किए तो भावात्मक ही फल पाया। और हुआ क्या कल्पनाओंके द्वारा ही क्लेश उठाया। देखो कल्पनायें भी भावात्मक हैं और क्लेश भी भावात्मक हैं ? इनमें अन्तर देखो क्या है, कुछ नहीं। कल्पनायें की यानी भाव बनाया। भाव किया फल भी भाव हो गया। बात कुछ नहीं मिली। और यदि शुद्ध भाव कर लिए जायें अर्थात् ज्ञानमात्र अपने अनुभव को अनुभवा जाय तो कोई विकल्प न आएं। केवलज्ञान का अनुभव हो। कहीं बाहर ख्याल न जाए। ज्ञान में एक रस हो ऐसे भाव भर जाएं तब शुद्ध आनन्द का भाव प्राप्त कर पावोगे। मैं

भाव ही करता हूं और भाव ही भोगता हूं। जैसा भाव करोगे तैसा भाव होगा और कुछ करतूत नहीं। बाकी और करतूत माना तो वहां सब अंधेरा है, माया है। ऐसी इस आत्मा का जिसे पता नही जो स्थूल हैं उन्हें वे समझते हैं कि यह मैं हूं। जरा और बुद्धि चली, कुछ गहरायी तक पहुंच गयी तो मैं रागद्वेष, मोह, माया हूं और अन्तर में कुछ पहिचानने चला तो जो रागद्वेष की संतान है वह मैं हूं। ये व्यक्तिगत रागद्वेष तो मिट जाते हैं उसे आपा नहीं कह रहा। इस रागद्वेष की जो संतान हैं उसे मान गया कि यह मैं हूं। इस तरह अनात्मस्वरूप को तो यह पहिचान गया कि सबसे निराला, ज्ञानमात्र, सारभूत जो आत्मवस्तु है उसका स्पर्श नहीं होता, जिससे संतोष प्राप्त होता। संतोष बाहर कहीं नहीं प्राप्त होता है, पर संतोष कहीं न कहीं तो मिलेगा ही। यदि यहां संतोष नहीं मिलता है तो बाहर संतोष मिलेगा। ऐसा अनुभव कर कि जगत में मेरा कुछ नहीं है, मैं अकिंचन हूं। तो तुझे शांति मिलेगी और जो माना कि मैं कुछ हूं वहां दु:ख मिलेंगे।

देखो भगवान अकिंचन है। उसके पास न स्त्री है, न पुत्र है, केवल एक आत्म स्वरूप ही सामने है। उसके साथ शरीर भी नहीं होता, कर्म भी नहीं होते, क्लेश भी नहीं होते, बोलता भी नहीं, दृष्टि भी नहीं करता है। जानता तो है सब पर वह मेरी रक्षा नहीं करता है। वह केवल निराला अकिंचन है। ऐसे अकिंचन प्रभु की उपासना से तो बड़ी-बड़ी आशायें सिद्ध होती हैं परन्तु जो सकिंचन बन गया, जिसके बाग-बगीचे, जमींदारी भी हुए, जिनमें भी वह आनन्दमग्न हुआ, परिवार, मित्रजन, इज्जतका बढ़ावा इत्यादि भी उसके पास हुआ, ऐसा यह सकिंचन है। उनकी सिद्धि से, उनकी भक्ति से, उनके लगाव से उन्हें कुछ नहीं मिलेगा। मैं अकिंचन हूं प्रभु। फिर भी उन बाह्यपदार्थों की भक्ति से हमें पाप और पुण्य प्राप्त हो गया।

देखो पहाड़ निर्जल हैं, उनपर पानीकी बूंद नहीं दिखती है, पर बड़ी-बड़ी नदियां पहाड़ों से निकलती हैं पर देखने में एक बूंद नहीं है। और जिनमें बूंद क्या, बहुत पानी भरा हुआ दीखता है, ऐसे जो समुद्र हैं उनसे कहीं भी एक नदी भी नहीं निकलती। हे प्रभो ! तू गजबका अकिंचन है, ऐसा मेरा स्वरूप भी अकिंचन है। उस अकिंचन स्वरूप की भावना से ही राग, द्वेष, लगाव, मोह इत्यादि मिटते हैं, क्योंकि ऐसी आकिंचन्य भावना से भाव निर्मल होते हैं। ऐसी निर्मलता के होते हुए कर्म बंधता है तो पुण्यकर्म बंधता है। जो सकिंचन है जिसका परिवार विशाल है उसकी उपासनासे पापकर्म बनता

है । क्योंकि जो सकिंचन भाव लिए है, जिसने राज्य, धन वैंभव से लाभ समझ लिया है उसकी दृष्टि मलीन हो जाती है और दृष्टि मलीन होने से परिणाम भी मलीन हो जाते हैं । ऐसी यह जो जगत की दृष्टि हो गई उससे ही कर्म बनते हैं । जब भाव में ही पाप और पुण्य कर्म बनते हैं तब निर्णय कर लो कि ऐसा क्यों है ? अरे अपना स्वरूप तो अकिंचन स्वरूप की भावना करु तो शुद्ध दृष्टि है और यदि सकिंचन स्वरूप की भावना करु अर्थात् जगत के बाह्य पदार्थों को मानता फिरु तो अशुद्ध दृष्टि है । जिन सारी बातों में हम गरवाये होते हैं अर्थात् घमंड करते हैं वे मेरी कुछ नहीं हैं । वे सब मुझे भ्रम में डालने वाली बातें हैं । जिनमें हम इतराते हैं वे ही हमें धोखा देती है ।

एक नगर में एक सेठ जी थे । उन्होंने ७ खंड की सुन्दर नई डिजाइन की एक हवेली बनवाई । उद्घाटन कराने के लिए उन्होंने बहुत से निमंत्रण भेजे । लोग आए । उद्घाटन हुआ । सेठ जी के यहां पर बहुत बड़ा जलसा था । यह जलसा सेठ जी के ही निमित्त से हुआ था । सेठ जी खड़े हो गए, बोले कि भाई यह हवेली जो हमने बनवायी है, जो आप लोगों के सामने है उसमें जो गल्ती हुई हो बताओ, गल्ती सुधरवाऊंगा । चाहे आधी हवेली गिरवानी पड़े तो भी कौनसी बात है, उसे बनवाऊंगा अवश्य । एक व्यक्ति खड़ा होकर बोला, मानो कोई जैनी हो । कहा कि सेठजी इसमें दो गल्तियां हैं । यह सुनकर सेठ जी चौकन्ना हो गए । अपने इंजीनियरों से कहा कि देखो यह जो गल्तियां बतावें उनको अवश्य सुधारना । रुपयों की परवाह नहीं । इंजीनियर लोग बोले कि क्या गल्ती है यह तो बताओ । वह ज्ञानी बोला कि एक गल्ती तो यह दीखती है कि यह हवेली सदा बनी नही रहेगी । सेठ जी सुनकर दंग हो गए । इस गल्ती को कैसे सुधारा जाय । और बोला कि दूसरी गल्ती यह है कि इसके बनवाने वाला भी सदा यहीं रहेगा । सेठजी फिर सुनकर दंग हो गए । बोले कि यह दो गल्तियां कैसे सुधारी जावें कि न तो यह हवेली ही सदा रहेगी और न इसके बनवाने वाला ही सदा रहगा । सच है, अरे कुछ नहीं रहेगा । जिनमें तुम इतराते हो वे तुम्हें धोखा देंगे । हजार वर्ष पहले की बनवाई हुई हवेलिया तुम्हें क्या दिखाई पड़ती हैं ? क्या वे उस समय मजबूत नहीं बनवाई गई होंगी ? उनमें खूब मसाले भर भरकर बनवाया गया होगा तब भी वे हवेलियां नहीं रहीं । सो ये भी हवेलियां अवश्य बरबाद हो जावेंगी, मिट जावेंगी । उन हवेलियों के बनवाने वाले लोग भी मिट गए होंगे । तब फिर इन हवेलियों में क्यों इतराएं ? मेरा कोई शरण नहीं है । कोई कुछ नहीं है । केवल मोह के कारण जो कुछ

मान रक्खा है वह सब सही दिखता है कि ये मेरे रक्षक हैं, वह मेरा रक्षक है। जिस प्रकार से स्वप्न में देखी जाने वाली बातें सही लगती हैं उसी प्रकार से ये मायावी बातें भी सही मालूम होती हैं। यदि हम स्वप्न देखते हैं तो सब सच लगता है उसी प्रकार मोह का देखा आनन्द सच लगता है। अरे मेरा कहीं कुछ नहीं है। सब मिट जावेंगे। अरे जो सत्य दीखता है उसका नामो निशान भी नहीं है। उनमें विकल्पों को छोड़कर कहीं कुछ नहीं है। राग, द्वेप मोह इत्यादिमें तो विश्वास न करो। वे सब मिट जावेंगे। ये बाह्य पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं ? आगे का वियोग किया जाने पर बीते हुए समय को देखा जाय तो क्या इच्छाओं की पूर्ति दिखाई पड़ती है ? नहीं। जो काम हमने कल, परसों आज के लिए सोचा था क्या उसकी पूर्ति हुई है ? नहीं। जो इच्छाएं होती हैं क्या उनकी पूर्ति होती है ? नहीं।

जैसा संयोग होगा वैसा ही होगा। जो कुछ हम विचार करते हैं वह नहीं हो पाता है। बाह्य पदार्थों को देखना यह सब कर्मके उदय का काम है। फिर क्या चाहिए कि आनन्द हो जाय ? अरे आनन्द नहीं होगा यदि तू बाह्य में दृष्टि लगाए रहा। हे जगत के प्राणी ! यदि तुझे आनन्द प्राप्त करना है तो तू अपनी जिद को छोड़ दे। जिद करना तो अच्छा नहीं होता है।

एक बड़ी जिद करने वाली स्त्री थी और अपनी जिद के कारण अपने पति को बस में किए हुए थी। जो चाहती थी सो करवाती थी। एक दिन उस स्त्री का मन ऐसा आया कि पति की मूंछ मुंडवाऊंगी। पति साहब तो मूंछ मुंडवाना नहीं चाहते थे। इसलिए वह पेट दर्द का बहाना करके बीमार बन गई। बहुत से डाक्टर पति ने बुलाये, डाक्टर ने दवा की, फिर भी दर्द नहीं मिटा। तब पति बोला कि कैसे मिटेगा दर्द ? स्त्री बोली कि एक देवता आया है वह कहता है कि कल सुबह तक मृत्यु हो जायगी। मृत्यु से बचने का सिर्फ एक उपाय है। जो तुम्हें प्यार करे वह यदि मूंछ मुंडाकर देखने आए तो ठीक हो जायगी। पति ने मूंछ मुंडवाली। अब वह स्त्री रोज चक्की पीसते समय गावे कि अपनी टेक रखाई, पति की मूंछ मुंडाई। पति बड़ा दुखी हुआ कि इसने मेरी मूंछ मुंडवाई और अब ताना मारती है। उसने अपने ससुराल को जल्दी ही पत्र भेज दिया कि तुम्हारी लड़की सख्त बीमार है देखना हो तो देख जावो, वह बच नहीं सकती। एक देवता ने बचने का उपाय बताया है कि इसको जो प्यार करते हो यदि वे मूंछ मुंडवा करके आवेंगे तो ठीक होगी वरना ठीक नहीं होगी। अब

क्या था ? पत्र पाते ही उस स्त्री का पिता, भाई, चाची, बाबा सभी अपने-अपने बाल तथा मूंछ मुंडवा करके रात को ही वहां से चल दिये। लगभग ४ बजे के करीब जब कि वह स्त्री पीस रही थी, अपना नित्य का गीत गा रही थी कि अपनी टेक रखाई पति की मूंछ मुंडाई तभी वह सब लोग वहां पहुंच गए। वह स्त्री बार-बार वही गीत गा रही थी—अपनी टेक रखाई, पति की मूंछ मुंडाई। अब उस पति ने पीछे से आकर कहा कि पीछे देख लुगाई, मुण्डों की पल्टन आई। अरे जिद करना क्या है ? जिद किया तो क्या, न किया तो क्या ? उससे तुझे लाभ नहीं प्राप्त होने का है। बताओ जिद करने से क्या मिलता है ?

भाई अपने परिणामों को शुद्ध रखना चाहिए। शुद्ध परिणामों के रखने का उपाय यह है कि अपने को अकिंचन मानो। यह समझ लो कि मेरा जगत में कुछ नहीं है। जो कुछ भी जगत में दीखता है सब जंजाल है। अरे तू अपने विषयकषायों को भूल जा तो तुझे आनन्द प्राप्त होगा। नहीं तो आजीवन क्लेश ही रहेंगे। यदि तू इन माया-मयी मूर्तियों में ही फंसा रहा, इन बाह्य पदार्थों को ही अपनाता रहा तो तेरे परिणाम बुरे हो जावेंगे और जीवनमें कभी सुख नहीं प्राप्त होगा और यदि तू ने इन बाह्य पदार्थों में न फंसकर अपने आत्मचिंतन में समय व्यतीत किया तो तुझे सुख सदा को प्राप्त होगा।

आप कहोगे वाह क्या करे जब भूख लगती है तब भोजन का ख्याल तो आता ही है। अरे भाई जब भूख है तब भोजन का ख्याल कर लो, किन्तु जब भरपेट हैं तब तो कुछ अपनी भी सोचो। बाह्य में दृष्टि करने से बाह्य का ही ख्याल हो जाता है, और जहाँ उन बाह्य वस्तुओं में फंसा तहां क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। अरे उन बाह्य पदार्थों का ख्याल करने से आत्मा का हित नहीं होगा। कभी-कभी तो तू अपने निजस्वरूप का चिंतन कर। ५ मिनट का समय तो कम से कम आत्मचिंतन में दो। तू बाह्य पदार्थों को अपना सर्वस्व न मान, क्योंकि उनसे तेरा हित नहीं होगा। तू अपने आत्मस्वरूप का ख्याल कर, सारे विकल्प जो बने हुए हैं उनको भुला दे तो तेरा हित होगा। तू उन विकल्पोंका स्मरण कर जिनको पहिले किया उनके फलमें क्या कुछ अब रहा है ? नहीं, तो विकल्प कहां है ? विकल्प कहीं दिखते नहीं है और यदि दिखते हों तो दिखा दो। इनका रंग कैसा होता है, किस रूप के होते हैं ? अरे विकल्पों की शक्ल-सूरत नहीं होती। केवल कल्पनाएं बना लेने से विकल्प हो जाते हैं। एक समय जब कि बूंदें पड़

रही थीं, झौपड़ी में पानी चू रहा था, झौंपड़ी के पास शेर खड़ा था। झौंपड़ी में एक व्यक्ति बोला कि इतना तो शेर का भी डर नहीं जितना टपके का डर है। जितना टपका परेशान करता है उतना तो यह शेर नहीं परेशान करता है। पास के शेर नें समझा कि टपका कोई मुझ से भी बहादुर है। उसी समय एक कुम्हार का गधा खो गया था। वह रास्तेमें ढूंढ रहा था। जाते-जाते जहां पर शेर खड़ा था वहां पर पहुंचा। वह शेर को गधा समझ गया। झट उसे गधा समझकर उसका कान पकड़ लिया। अब शेर यह समझता है कि टपका आ गया। उसने उस शेर के ऊपर डंडे भी चलाए। शेर ने सब सह लिया। उसने शेर को बाड़ी में बांध दिया। जब सवेरा हुआ तो देखा कि यहां तो टपका वपका कुछ नहीं है। तब शेरने छलांग मारी और चल दिया। उस शेर ने विकल्प बनाकर ऐसा भाव बनाया कि अरे यह तो टपका आ गया, डर गया। इसी तरह यह विकल्प कुछ नहीं है। ये विकल्प पकड़ में नहीं आते। कुछ क्लेश नहीं करते, फिर भी विकल्पों के आधीन होकर यह विकल्पों का दास हो गया और वैसे ही परिणाम हो गए। और जब विकल्पों के द्वारा इस प्रकार के परिणाम हो जाते हैं तो शांति नही रहती हैं, चैन नहीं आती है। इस प्रकार यह जीव अपने आपमें विकल्प बनाकर, कर्मों के फलों को अपनाकर व्यर्थ ही दुःखी होता है। तो अच्छा यह है कि जितना अधिक ज्ञान का उपयोग मिले, आत्मचरित्र का शिक्षण मिले उतना ही अच्छा फल है। हे आत्मन् ! तू अपनी वर्तमान अवस्था को मायारूप मानकर, अपनी आत्मा को पहिचानकर सदा स्वाधीन हो और सत्य सुखी हो।

एक राजा और रानी थे। राजा का मन धर्म करने में कम था। रानी बहुत समझाया करती थी कि राजा धर्म करो, संसार के वैभव में गर्व न करो। तब राजा कहते कि हम क्या करें ? धर्मका फल हमको मिल चुका, हमें अब धर्मकी क्या जरुरत ? रानी ने एक दिन कह दिया कि तुमने राजाजी सकल सुख पाए पर धर्म नहीं किया, इसलिए जब मरोगे तब ऊंट बनोगे। कुछ दिन बाद राजा मरे और ऊंट बन गए। वह एक बादशाह के घर में ऊंट पैदा हुए। थोड़े दिन बाद में रानी भी गुजर गई और वह उसी बादशाह की लड़की हुई। अब जब लड़की विवाह योग्य हुई। थोड़े दिन बाद में विवाह भी हुआ। अब उस लड़की की मां ने यह सोचा कि इसके दहेज में कोई अच्छी चीज दूं, ऊंट बड़ा सुन्दर है उसे मैं दहेज में दे दूं। बादशाह का भी विचार ऊंट दहेज में देने का हो गया। दहेज में ऊंट दे दिया। अब ऊंट भी बारात के साथ जा रहा

था । बारात वालों ने सोचा कि ऊंट में कुछ सामान लाद ले जावें । लड़की का लहंगा, साड़ी तथा अन्य कपड़े इत्यादि मूल्यवान चीज समझकर लाद दिये, जो कुछ थे वे सब ऊंटपर लाद लिये । अब रास्ते में ऊंट को अपने पिछले जन्म का स्मरण होता है और दुखी होता है । हाय ! अपमी स्त्री का लहंगा, साड़ी इत्यादि अपने ऊपर लादा है । इस प्रकार से वह मन में विचारकर दुःखी होता है उससे चला नहीं जा रहा है । नौकर डंडे भी लगाता है पर दुखी होने के कारण उससे चला नहीं जाता है । अब लड़की को भी स्मरण हो गया कि यह ऊंट तो मेरा पूर्व जन्म में पति था, परन्तु धर्म न करने के कारण अब ऊंट बन गया है । यही कारण है कि दुख के कारण इनसे चला नहीं जा रहा है । लड़की ने नौकर से कहा कि भाई मारो मत । हम इसे समझा देंगी तब चलेगा । ऊंट भी पहचान गया । लड़की भी पहचान गई । स्त्री कहती है ऊंट से कि देखो पूर्व जन्मों में तुम हमारे पति थे और धर्म न करने के कारण तुम ऊंट बन गये हो । परन्तु यह मेरे पति हैं ऐसा कहने में तो मुझे शर्म लगती है सो मैं तो कहूंगी नहीं । अब तो चलने में ही कुशल है । चलना तो पड़ेगा ही अन्यथा डंडे लगेंगे । यही हाल यहां के समस्त प्राणियों का है कि वे धर्म नहीं करते संसार में कहीं ऊंट कहीं कीड़े-मकोड़े, कहीं कुछ, कहीं कुछ नाना प्रकार जीव हो जाते हैं । देखो ना, राजा ने धर्म नहीं किया था इसलिए ऊंट बन गया था । तो ऊंट की ही बात नहीं, कुछ भी अट-सट बन जावें ।

हे आत्मन्, जो धर्म नहीं करता वह मरकर दुर्गति का पात्र होगा । इस जीव में दुनियाका बाह्य का कुछ नहीं है । सब भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । वे एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते हैं । इस कारण यह मनुष्य भव पाया है । इस मनुष्य भव में सब तरफ के रास्ते खुले हैं । यदि ये मनुष्य चाहें तो कीड़े मकोड़े बन सकते हैं, पशु पक्षी बन सकते हैं, देव बन सकते हैं, मनुष्य बन सकते हैं । सारे रास्ते इस मनुष्यभवमें खुले हैं । नारकी मरकर नारकी व देव नहीं हो सकता, देव मरकर देव व नारकी नहीं हो सकता । पर इस मनुष्यभव में जो चाहे वैसा ही बन सकता है । तो धर्म के लिए करना क्या है ? धर्म के लिए दान करना है क्या, श्रम करना है क्या ? अरे भीतर से यह ज्ञान बनाना है कि यह तन धन मेरा नहीं है । मैं तो सबसे निराला हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञायकस्वरूप हूं । अन्य मैं कुछ नहीं हूं । मेरा किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है । मैं अपने आपको सबसे निराला ज्ञानमात्र देखूं । यही धर्म है और धर्म नहीं है कि मेरे मित्र भी मिल

जावें, मेरे कुटुम्ब के लोग भी मिल जावें, मेरा धन भी मिल जावे। इसी उद्देश्य से वे धर्म करते हैं तो धर्म नहीं कहा जाता है। देखो अपने आपमें यही धर्म का पालन है, यही तप और संयम है। धर्म पालने के लिए बाह्य तप और संयम दोनों करने पड़ते हैं जिससे कि हमारा उपयोग स्वच्छन्द न हो जाय, हमारा उपयोग विषयकषायों में न हो जाय।

आज देखो बहुत से लोग उपवास किए हैं। शरीर को कष्ट दे रहे हैं। बड़ी तकलीफ सह रहे हैं, किसलिये कि धर्म हो। धर्म है विषय कषाय से छूटना। सो यह उपवासादिक उसमें सहायक हैं। अरे धर्म करलो। धर्म केवल धर्ममें है, निज स्वभाव में है, शुद्ध ज्ञान में है। बाह्य की केवल जानकारी कर लो। परपदार्थ पूरे हैं। वे अपनी सत्ता में हैं। मेरा गुण पर्याय मेरे में है, उनका गुण पर्याय उनमें है। एक का दूसरे से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। एक दूसरे का कुछ नहीं करेगा। हां दूसरे का निमित्त पाकर अपना विभाव कर लेवे। मगर किसी को कुछ नहीं करता है। ऐसा स्वयं आजादस्वरूप मैं इन पदार्थों को देखूं। ऐसा अपने आपको देखो तो वहां क्या घट जाता है। ऐसा मन में भाव न रहना चाहिए कि यह मेरा है, यह उसका है। यथार्थ स्वतन्त्र वस्तु स्वरूप का ज्ञान कर लेना ही परमार्थ से त्याग है।

जैसे दो आदमी हैं। अपनी-अपनी चादर धोबी को धोने के लिए देते हैं। दो तीन दिन बाद एक आदमी धोबी के घर चादर लेने चला गया तो धोबी ने दूसरे व्यक्ति की भूलमें बदल करके चादर दे दी। उस व्यक्ति ने सोचा कि हां यह मेरी चादर है। वह अपने घर गया और चादर तान कर सो गया। अब वह दूसरा व्यक्ति जो अपनी चादर लेने गया तो वह जब धोबी के पास आया तो धोबी ने जो चादर निकाल कर दी उसे उसने कहा कि यह मेरी नहीं है। यह तो किसी दूसरे की है। धोबीने कहा कि अरे वह तो बदल गई है। तुम तो उस व्यक्ति को जानते हो जो साथ आया था उसी के पास वह चादर चली गयी है। सो वह व्यक्ति उसी के घर जाता है जिससे चादर बदल गयी थी। जब वह वहां गया तो देखा कि चादर ताने वह सो रहा है। बोला कि आपसे मेरी चादर बदल गयी है सो अब मेरी चादर दे दीजिए। वह जाग जाता है और देखता है कि मेरी चादर में कोई निशान है कि नहीं। कोई दाग हो या फटा हो। चादर में देखा तो कोई निशान नहीं। यह चादर मेरी नहीं है, ऐसा सोचते ही उसको चादर का त्याग हो गया। भीतर में ज्ञान हो गया कि यह मेरी चादर नहीं

है । देखो भीतर से ज्ञान उसका सही बन गया । सही ज्ञान बन जाने से यह ज्ञान हो गया कि ये मेरी नहीं है उपयोग में चादर का त्याग कर दिया । इसी तरह गैर पदार्थ जिन पदार्थों में मोही रत हो रहे हैं । कुटुम्ब, परिवार इत्यादि जो सामने हैं, उनको भिन्न समझ कर निश्चय कर लो कि तेरा कोई नहीं है । तेरा मित्र तू ही है ।

तू अपने आपको देख, अपने आपको पहिचान, तब तो तेरा गुजारा चलेगा, नहीं तो तेरा गुजारा नहीं हो सकता है । तू ऐसा समझ कि यह मेरा नहीं है । जब तू ऐसा समझेगा कि ये मेरे नहीं हैं तो तेरा मोह और झंझट खत्म हो जायगा । और यदि तू भूल करके अपने कुटुम्ब परिवार इत्यादिमें ही पड़ा रहता है तो तेरेसे विपदाएं समाप्त नहीं होंगी । तू अपने आपमें सच्चा ज्ञान जगा कि ये सब कुछ मेरा नहीं है तो वही त्याग होगा । अपना घर परिवार बच्चे इत्यादिसे ऐसा भाव बनाओ कि ये मेरे नहीं हैं, में तो सनसे निराला हूं, ज्ञानमात्र हूं । इतने भाव यदि अपने मन में बना लिया तो सही मार्ग पर अपने को समझो । अन्यथा कितने ही धर्म के नाम पर काम करने पड़ें तो भी कुछ नहीं होगा । अपना ज्ञान सही बनाओ । सही ज्ञान स्वयं स्वरूप ही है । 'निजको निज पर को पर जान ।' अरे तू अपने आपको देख । वही तेरा सब कुछ है । तेरी रक्षा वही करेगा । और जो पर है उन्हें तू पर ही जान । उनसे तेरा कुछ हित नहीं होने का है । धर्म के लिये मन वचन काय कृत काम धर्म भाव की मदद के लिये हैं । सो सामायिक करो या भक्ति करो या स्वाध्याय करो उन सब प्रसंगों के बीच अपना ऐसा ध्यान हो कि अपने आपको निराला मान लो । यह विचार मत बनाओ कि दस लक्षणमें धर्मकार्य करने से ज्यादा धर्म होता हैं, अन्य दिनों में धर्म करने से कम होता है । कर्म को यह पता नहीं है कि जैनों के अब दस लक्षण चल रहे हैं । कर्म इस बात पर बैठे हैं कि परदृष्टि के भाव हों तो हमारा वंश बढ़े । सो भैया धर्म तो बारहों महीना करने की चीज है । अभी पूजा करो, भक्ति करो, ठीक है क्योंकि धर्म का कुछ लेश किये बिना कर्म भी नहीं छूटते । परन्तु दस लक्षण में धर्म करोगे तो कर्म अधिक मेहरबानी रखेंगे, ऐसा नहीं है । कर्मों को पता नहीं है कि जैनोंके ये दस लक्षण हैं । कर्मका तो विभावसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । १२ महीने सदा इस तरह से सही परिणाम बनाने से आत्मा का पूरा पड़ जायगा । इस आत्मा के विभाव के कारण कर्म बन जावेंगे । चाहे दस लक्षण हों, चाहे और दिन हो उसे कुछ पता नहीं चलता है । तो संतोष न करो कि हमने तो धर्म कर लिया । अरे ये बात तो १२ माहीने चलनी चाहिए ।

दस लक्षण के बाद क्षमावणी आती है। यह क्षमावणी भी मेरी दया के लिये है। अपने आपमें दूसरे के बारे में द्वेष का भाव आता है तो भाई उस द्वेष से खुद की हिंसा होती है। भाई द्वेषको छोड़कर आत्ममिलन सबमें होना चाहिए। खुदको कलंकित जीवन में रखने से दुःख होता है, कलंकरहित रहने का जिसे ख्याल होता है उसे शांति प्राप्त हो जाती है। यदि अपने आपमें शांति प्राप्त हो जाती है तो समस्त पाप धुल जाते हैं। कोई किसी दूसरे पर दया नहीं करता है। यदि अपने आपमें अपनी दया हो तो ठीक रहता है। यदि अपने आपमें दया नहीं है तो धर्म याने संवर निर्जरा नहीं होती है, कर्मों का संचय चलता रहता है। हे आत्मन् ! तू अपने आपपर सच्चे दिल से क्षमा कर दे। यही है सत्य जीवन, यही है, संयम। जो जो ये जीव यहां पर आए हैं उन्हें तुम नहीं जानते हो कि किस गति से आए हैं ? जो-जो ये जीव हैं उन्हें तुम बता नहीं सकते कि कितने दिनों के लिए आए हैं ? इसका रंच भी पता नहीं है फिर आगे चलो तो ये जगत के प्राणी सब कषाय भरे हुए हैं इनसे किसी से बैर, ईर्ष्या रखने का क्या प्रयोजन पड़ा है, इसलिए सबको क्षमा करो। ऐसा न करो कि जो दोस्त हैं उनसे कंधा भिड़ाते हुए चलो और जिनसे जरा सी खटपट है उनसे बात भी नहीं करो। इस तरह से अपने में जो अहंकार भरा हुआ है उसी में यदि बने रहते हैं तो हम दूसरों पर, क्या खुद पर भी क्षमा नहीं करते हैं, क्योंकि स्वपर दया करके भी अपने आपको हम क्षमा करने वाले हैं। क्षमावणी अपने आप पर दया करने के लिए है। अपने में अगर दयाका भाव आता है तो अपने हृदय से क्षमा कर लेना चाहिए। यही अपने में शूरता है। दूसरों को क्षमा कर देने में क्या हरज है ? अरे इसमें लेना देना कुछ नहीं है। वैसे तो कहीं भी कुछ नहीं लेने देने पड़ते हैं। केवल भाव बना लिए जाते है। अरे केवल इतना क्षमा का भाव बना लेने से ही निरंतर आनन्द प्राप्त होता है।

एक नगर में दो सेठ थे। मान लो कि एक के पास दो लाख का धन था और दूसरे के पास २० लाख का धन था। दोनों ही एक दूसरे को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। दोनों में कषाय बन गई थी। दोनो ही एक दूसरे से बोलते न थे। एक दिन ऐसा हुआ कि एक ही साथ दोनों के मन में आया कि हम कितना कषाय भरे हुए हैं, यह कषाय हमारे लिए बुरा है ? कषाय नही करना चाहिए। इस प्रकार का अनुभव दोनों में एक ही साथ हुआ। अब दोनों ही एक दूसरे से मिलने के लिए और अपनी कषाय भावना से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए अपने-अपने घर से चल पड़े। एक सेठ अपनी

कार से चला और दूसरा तांगे से चला। दोनों ही रास्ते में एक दूसरे को मिले। कुछ भी दोनों से बोला नहीं गया। वे तो दोनों ही एक दूसरे से मिलकर गद्गद् हो विचारने लगें कि देखो हम लोग कितने कषाय में थे? हम दोनों एक दूसरे से बात तक नहीं करते थे। अब हमें परस्पर मिलकर रहना चाहिए और कषाय भावना का तिरस्कार कर देना चाहिए। अब दोनों एक दूसरेसे बोलने लगे और दोनों ही मिलकर रहने लगे। हे जगत के प्राणी! तू अपने में दया का भाव ला। यदि दया का भाव नहीं लाता है, क्षमा का भाव नहीं लाता है तो तुझे जन्म मरण के चक्कर लगाने पड़ेंगे। अरे तू तो अपने आपको भूल गया है, तेरे में तो भूलने का कोई काम ही नहीं है। तब फिर तू अपने को क्यों भूल रहा है? तू अपने में दया और क्षमा का भाव ला। देखो वे दोनों सेठ अपने आपमें दया और क्षमा का भाव लाए, इसलिए परस्पर बोलचाल हो गई। इतना ही नहीं दोनों ही शान्ति से जीवन बिताने लगे।

हे आत्मन्! किसी दूसरे से ईर्ष्या की भावना नही करनी चाहिए। अपने आपमें कषाय किंचित् मात्र भी नहीं लाना चाहिए। अपने को जान लो कि मैं सबसे निराला हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। मुझे अपने आप पर तथा दूसरों पर क्षमा करनी चाहिए।

पदार्थों के जानने के प्रसंग में तीन बातें हुआ करती हैं। 'एक तो शब्दपदार्थ, दूसरे अर्थपदार्थ और तीसरे ज्ञानपदार्थ। जैसे यह चौकी है तो यह तीन तरह की होगी। शब्द चौकी, अर्थचौकी और ज्ञानचौकी। घर में भी शब्दघर, अर्थघर और ज्ञानघर—ये तीन हुआ करते हैं। शब्दचौकी के माने चौकी ये दो अक्षर। मुख से जो बोला जा रहा है कि यह तो चौकी है या किसी कागजपर लिख दिया जाय कि "चौकी" और अगर आपसे पूछें कि यह क्या है तो क्या कहोगें? यह चौकी है तो यह हुआ शब्दचौकी। यह काम करने वाली चौकी नहीं है। जैसे रोटी है, उसमें भी शब्दरोटी अर्थरोटी और ज्ञानरोटी—ये तीन प्रकार से समझना चाहिये। रोटी शब्द किसी कागजपर लिख दिया जावे और आपसे पूछें कि बतलाइए यह क्या है तो आप कहोगे रोटी है, यह रोटी किसी काम की नहीं है, इससे क्या आपका पेट भर जायगा, भूख मिट जायगी। वह अर्थरोटी नहीं है, वह तो शब्दरोटी है। अर्थरोटी तो वह है जो बनी हुई होती है, जिसको खाते हैं। और ज्ञानरोटी के माने यह हैं कि रोटी के बारे में जो ज्ञान होता है। इसी तरह अर्थचौकी वह है जिसपर पुस्तक रखते हैं और ज्ञानचौकी वह है कि जो चौकी के बारे में ज्ञान होता है, उस ज्ञान का नाम है ज्ञानचौकी। इस तरह पदार्थ में तीन चीजें हैं,

शब्दपदार्थ, अर्थपदार्थ और ज्ञानपदार्थ। इसी तरह लोक में भी तीन तरह से देखो शब्द-लोक, अर्थलोक व ज्ञानलोक। यह जितना भी लोक है यह दुनिया जितनी है वह है अर्थलोक। क्या अर्थलोक मेरा है ? नहीं मेरा नहीं है। वह तो मुझसे भिन्न है, वह मेरा नहीं है। जो 'लोक' शब्द लिखा है या लोक शब्द बोलें तो क्या वह लोक मेरा है, नहीं। यह तो केवल शब्द लिखा है। यह तो शब्दलोक है। यह शब्दलोक मेरा है क्या ? नहीं यह मेरा नहीं है। शब्द भी मुझ से भिन्न है।

दुनिया के बारे में जो ज्ञान होता है वह ज्ञानलोक है। वह मेरी पर्याय है, फिर भी मेरी नहीं है, क्योंकि वह विकल्प है। यह विकल्प नष्ट तो हो जाता है, पर इस विकल्प के नष्ट हो जाने से क्या यह लोक भी खत्म हो जाता है ? और भी समझ लीजिए। एक चौकी को समझ लीजिए। शब्दचौकी, अर्थचौकी और ज्ञानचौकी होती हैं, पर आपको दिखती केवल एक यह अर्थचौकी है। शब्द एक बोला गया। वह क्या है शब्दचौकी। जिसपर यह किताब रखते हैं यह क्या है ? यह है अर्थचौकी और चौकी के सम्बन्ध में जो ज्ञान बन रहा वह है ज्ञानचौकी। उस शब्दचौकी में क्या हमारा कुछ लगता है ? नहीं। वह तो शब्द है, अक्षर है, वह तो हमसे भिन्न है। क्या अर्थचौकी हमारी है, नहीं वह हमारी नहीं है, वह हमसे भिन्न है। ज्ञानचौकी को अपनी कह सकते हो। वह विकल्प मात्र ही तो है। उस कल्पना के नष्ट हो जानेपर क्या यह चौकी भी नष्ट हों जाती है ? नहीं। चौकी नष्ट होती है उसकी ही परिणति से। इसी तरह यह लोक मेरा नहीं है। लोक अज्ञात है ऐसा भी नहीं है। जानने में यह लोक आ रहा है, मगर वह जानना क्या है ? विकल्प है। ज्ञान की एक पर्याय है। उसके नष्ट हो जाने-पर यह लोक नष्ट हो जाता है। क्या यह सब कुछ लोक में नहीं है, ये मेरा नहीं है, अब मैं क्या रहा ? केवल एक ज्ञानमात्र ही रहा है। देखो भगवानको तो। उस भगवान की भी तीन किस्म हैं—शब्दभगवान, अर्थभगवान और ज्ञानभगवान। मैं मुखसे भगवान शब्द बोल दूं या किसी कागजपर भगवान शब्द लिख दूं तो वह क्या है ? वह क्या भगवान है, कौनसा भगवान है ? अरे वह ज्ञानी भगवान नहीं है, वह तो शब्दभगवान है। अर्थभगवान कौन है ? सयोगकेवली, अयोगकेवली व गुणस्थानातीत— ये हैं अर्थ-भगवान। जैसा भगवान है उस भगवान के बारे में जितना ज्ञान होता है वह ज्ञान-भगवान कहा जाता है। भगवान के बारे में जो विकल्प होते हैं, ज्ञान होता है वह कैसा भगवान है ? ज्ञानभगवान है। तो आपकी भेंट क्या उस शब्दभगवान से हो सकती है,

अर्थभगवान से हो सकती है ? नहीं। उस ज्ञानभगवान से ही हमारी भेंट हो सकती है। भगवान के बारे में हम जान जाते और उसी जानन में हम तन्मय हो जाते तो उस भगवानसे भेंट हो सकती है। शब्दभगवान तो अन्य पदार्थ है उसे मैं नहीं जान सकता। मैं तो केवल भगवान को ही जान सकता हूं, उस ज्ञानभगवान को ही पूज सकता हूं। मैं ज्ञानभगवान की ही भक्ति किया करता हूं। मैं शब्दभगवान तथा अर्थभगवान की भक्ति नहीं करता हूं, कर नहीं सकता हूं। कुटुम्ब की बात देखो। पुत्र में भी शब्दपुत्र, अर्थ-पुत्र और ज्ञानपुत्र होते हैं। जरा शब्दपुत्र से कहो कि एक गिलास पानी ला दो तो क्या वह ला देगा ? अरे वह तो किसी कागजपर पुत्र शब्द लिखा है यौं बोला हुआ शब्द पुद्गल है वह कैसे पानी ला देगा ? शब्दपुत्र को यदि मुख से बोल दो कि पुत्र पानी ला दो क्या वह पानी ला देगा, नहीं। अब अर्थपुत्र को देखो जो कि घर में बैठा है, दो हाथ, दो पैर वाला है, जो पुत्र आपके घर में जन्मा होवे वह है अर्थपुत्र। ज्ञानपुत्र वह है जो पुत्र के बारे में ज्ञान बनावे, समझ बनावे। आप यह बतलाइए कि शब्दपुत्र से आप मोह करते हैं। अरे शब्दपुत्र से तो तू मोंह करेगा नहीं, क्योंकि वह तो भाषा-वर्गणारूप पुद्गल की पर्याय है, भिन्न चीज है, उससे तू तन्मय नहीं हो सकता है। आप तो अपने ज्ञानपर्याय में तन्मय हैं। शब्दपुत्र से तो तू मोह करेगा नहीं। तो क्या तू अर्थपुत्र से मोह करता है जो घर में बैठा हुआ है ? वह भी अन्य पदार्थ है उसमें भी तेरी पर्याय नहीं पहुंचती, उससे भी तू मोह नहीं करता क्या। उस शब्दपुत्र से मोह नहीं करता है और न कर सकता है। क्योंकि वह तो भिन्न पदार्थ है। अर्थपुत्र से भी तू मोह नहीं कर सकता। पुत्र के बारे में जो विकल्प बनाया, जो ज्ञान की परिणति बनाया उस ज्ञानपुत्र से ही तू मोह करता है। इस तरह से आप ज्ञानपुत्र से मोह करते हैं अर्थात् पुत्र के बारे में जो आपको विकल्प होते हैं वे विकल्प आप मोह से करते हैं, उन विकल्पों में आप मोह करते हैं, पुत्र से आप मोह नहीं करते हैं। यह यथार्थ बात कही जा रही है। यह भी समझने की चीज है जिससे कि मोह घटता है। अरे मोह करते ही आकुलताएं हैं। बाह्य तो बाह्य ही हैं। मैं तो अपने ही विकल्प में तन्मय हूं। मैं अपने ही विकल्प से मोह करता हूं और अपने ही विकल्प से जला भुना करता हूं। दूसरों से मैं न राग कर पाता, न द्वेष कर पाता। मैं तो अपने आपमें ही राग और द्वेष किया करता हूं। और इसी कारण मेरे विकल्प नष्ट होते रहते हैं और बनते रहते हैं। इसी तरह मेरे विकल्पों के नष्ट होने से क्या वे बाह्य पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं या

वे बन जाते हैं। नहीं वे अपने स्वरूप चतुष्टय से ही आविर्भूत होते हैं। वे वे ही हैं और हम हम ही हैं। ये सारी बाह्य चीजें कुछ भी मेरी नहीं है। ये धन, पुत्र, मित्र, परिवार यह सब ठाठ बाट मेरा कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं ही हूं। यह लोक मेरा नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं इससे लोक अज्ञात भी नहीं है और यह मुझ से छिपा हुआ भी नहीं है। यह ज्ञान से जानने में सब कुछ आयगा। जानने में आ गया और जानना अगर मिट गया तो चीज नहीं मिट जाती है।

जितने भी शास्त्र ज्ञान देते हैं उनका तत्त्व यह है कि भाई ऐसी अन्य चीज अन्य ही है और मुझमें मैं ही हूं, परमें पर ही हैं। वे सब अपनेसे भिन्न हैं। फिर खोटी कल्पनाएं करना कि यह मेरी है, यह उसकी है, यह सब क्या है ? जैसे बाह्य वस्तु को सुखकारी मानते हो, कल्याणकारी मानते हो, असल में देखो तो वही निमित्तरूप से दुःख का कारण बन रहा है। कौन से ऐसे पदार्थ हैं जो मेरी शांति के कारण हैं।

एक गुरु शिष्य थे। शिष्य गुरु के पास पढ़ने आता था। एक दिन वह देर से आया। गुरुजी ने पूछा कि क्यों देर से आए ? शर्मीले शब्दों में कहने लगा कि सगाई हो रही थी। गुरुजी कहने लगे कि अब तुम गांव से गए अर्थात् अब गांव से मोह नहीं रहा। सगाई हुई कि गांव से गए। जहां सगाई की वहीं दृष्टि गई। अब तो तुम्हारा घर से भी मोह नहीं रहेगा। कई दिन बाद फिर वह देर से पहुंचा। गुरुजी ने पूछा कि क्यों देर हो गई ? शिष्य ने कहा कि शादी हो गई। गुरु ने कहा कि अब तो तू अपने मां-बाप से गया। उनको तू नहीं पूछेगा। इसी तरह से गुरु ने कहा कि कुछ दिन बाद में बच्चे होंगे तो तब तो तू अपने से भी जायगा। तू उन बच्चों में ही लगा रहेगा। कमायेगा, खिलायेगा, उनका पालन-पोषण करेगा। इस तरह तू बाहर-बाहर ही रहेगा ओर अपने आपको भूल जायगा। अरे ये तो बाहरी पदार्थ हैं। इनमें तू क्यों पड़ता है, इनसे ही तेरे में आकुलताएं आवेंगी और तुझे शांति नहीं प्राप्त होगी। अरे यह ज्ञान में ज्ञान है। मुझ में मैं हूं और बाह्य में बाह्य हैं। ये सब स्पष्ट भिन्न-भिन्न रूपों में नजर आते हैं। सब अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। यदि ऐसी दृष्टि आवे तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान हो और मोह दूर न हो—यह नहीं हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव ही मोह के आवरण को हटाता है। सूर्य का जब उदय होता है तो अंधकार मिट जाता है। इसी प्रकार भीतर में जब ज्ञान उगे तो मोह का अंधकार मिट जाता है। और मोह का अन्धकार ज्ञानके उदयपर मिटे नहीं, यह नहीं हो सकता है। यदि मोह अभी मिटा नहीं

है तो समझो कि अभी ज्ञान का उदय नहीं हुआ है। ज्ञान के होनेपर राग तो कदाचित् हो सकता है पर मोह नहीं हो सकता है। राग और मोह में अन्तर है। राग कहते हैं उसे जो बाह्य वस्तुयें सुहा जावें और मोह कहते हैं उसे जो बाह्य को यह समझें कि मेरा है। बाह्य वस्तु में ममत्व को मान लेना ही मोह है और बाह्य वस्तुवें सुहा जाने का नाम ही राग है।

मोह में है अज्ञानता का अंधेरा है और राग में है पर में लगाव। ज्ञान होनेपर पर में लगाव तो हो सकता है पर अज्ञानता का अंधेरा नहीं रह सकता है। यह मोह तो उत्पन्न होता है लगाव से, लगाव रखने से। लगाव परवस्तुवों में हो जाता है और उन परवस्तुवों में लगाव हो जाने से विकल्प हो जाता है और उस विकल्प के रहने से मोह उत्पन्न हो जाता है। जिसे कहते हैं राग में राग, परवस्तुओं में राग हो गया। अरे यह राग मैं हूं। राग से ही मेरा कल्याण है, मेरी भलाई है, यह हुआ राग का राग। राग में राग हो जाने का नाम ही मिथ्यात्व है, यह महान् अंधकार है। सो मैं परपदार्थ रूप नहीं हूं। परपदार्थ के विषय में होने वाला जो संकल्प-विकल्प का जाल है उस रूप मैं नहीं हूं। मैं तो अनंत आनन्दरूप, त्रैकालिक ज्ञानस्वरूप हूं। सो मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं। अब मैं कैसा हूं ? इस विषय में सोचिये—

में देह में ठहरा हुआ हूं फिर भी मैं देह से नहीं छुवा हूं, मैं उस देह से मिला भी नहीं हूं। देह तो जड़ है, मैं चेतन हूं, मैं अमूर्त पदार्थ हूं। यह देह तो मूर्त है। तो इस मूर्त पदार्थ में एक अमूर्त पदार्थ मिल जाय यह कैसे हो सकता है ? अतः यह आत्मा इस शरीर में रहते हुए भी शरीर से जुदा है। अरे तूने परिवार को अपना माना है, पुत्रों को अपना माना है, यह बतलाओ कि क्या वे तेरे हैं ? नहीं, वे तेरे नहीं हैं। अरे उनमें तुम किसलिए फंसे हो ? ये बच्चे जो हैं उनमें तू फंसा है। अच्छा कैसे फंसा है ? वे तेरे नही हैं और न कभी तेरे हो सकेंगे। भाई आप तो यहां मौजूद हैं। कुटुम्ब, परिवार के लोग कहीं के कहीं बैठे हैं। आप उनसे किस तरह से बंधे हुए हैं, किस तरह से फसे हुए हैं ? आप उनसे बंधे हुए नहीं हैं, अपने कुटुम्ब परिवार इत्यादि में आप फंसे हुए नहीं हैं। केवल आपने कल्पनाएं बना ली हैं और उन कल्पनाओं से ही मोह बना लिया है, यही कारण है कि तू अपने को यह समझता है कि मैं परिवार में फंसा हूं। अरे तू यह ख्याल न कर कि मैं फंसा हुआ हूं। किससे फंसे हो ? जरा बताओ तो। अपनी कल्पनाओं को छोड़ दो। तू किसी बंधन में नहीं है।

ऐसा नहीं है कि तू कहीं जा न पाता हो, अपने को बंधन से खोल न पाता हो। अरे मैं तो अमूर्त हूं, चैतन्यस्वरूप हूं तो फिर मैं कैसे बंध गया ? मैंने केवल अपने आप ही विकल्प बनाकर अपने आप ही सोच-सोचकर देह में स्वयं अपने को फंसा लिया है और जैसे कभी ज्ञान भी हो जाय तो भी कुछ दिन और फंसे रहते हैं पूर्व वासना के कारण, पूर्वपरिचयके कारण निराकुल नहीं हो पाते हैं। किसी तरह देह और आत्मा में भेद भी हो जाय, फिर भी यह आत्मा देह में बंधी रहती है पूर्व वासना के कारण, पूर्व संस्कार के कारण। पर इससे छूटने का उपाय भेदज्ञान ही है। किसी कुमित्र से मित्रता हो जाय तो उस कुमित्रसे छूटनेका उपाय भिन्न भिन्न प्रकृति, भिन्न भिन्न वस्तु और परस्पर विरूद्ध ज्ञान कर लेना ही उस मित्र से छूटने का उपाय है। यह हमारे साथ कपट करता है, यह हम से झूट बोलता है, यदि इतना भी जान लेनेका ज्ञान नहीं है तो फिर इसके आगे और क्या हो सकता है ? मैं देह में ठहरा हूं तो भी देह से छुवा हुआ मैं नहीं हूं। देखो इस देह के कारण, इस कर्म उपाधि के कारण मेरे नाना रूप बन रहे हैं, नाना शरीर बन रहे हैं। कहीं कीड़े-मकौड़े बन गए, कहीं पक्षी बन गए, कहीं और किन्हीं रूपों में बन गए। इस प्रकार से नाना रूप विस्तार अपने आत्मप्रदेश में भी हो जाते हैं, किन्तु जो आकारोंपर दृष्टि रखते हैं वे अपने को भूल गए हैं। तो मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। हे भाई ! अपने स्वरूपकी दृष्टि दो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। यह मैं ज्ञानमय आत्मा द्रव्य हूं। इसका आकार है, इसका क्षेत्र है। परन्तु इस क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा का परिचय नहीं हो सकता है। आत्मा का परिचय तो आत्माके अन्तरङ्ग लक्षण की दृष्टि से हो सकता है। आत्मा कहते हैं किसे ? जो जाननहार है उसे आत्मा कहते हैं। मैं सबको जान रहा हूं, मगर मैं सब रूपों में नहीं हूं। अभी मैं इतनी चीजें जान रहा हूं तो क्या इतना जानने से मैं इन रूप हो गया हूं ? सिनेमा के पर्देपर कितने ही चित्र उठ जाते हैं तो क्या पर्दा उतने चित्रों रूप है ? नहीं। वह पर्दा तो स्वच्छ है। इसी तरह से इस आत्मा में सब रूपों की झलक आ जाने से यह आत्मा सब रूप हो गया है क्या ? नहीं। मैं तो मैं ही हूं, ये सब ये ही हैं। अन्य रूप मैं नहीं हूं।

मैं सबको जानता हूं, फिर भी मैं इन रूप नहीं हूं। मैं तो सबसे निराला, ज्ञानमात्र अपने को निरखता हूं। यही ज्ञान है। इतने केवल के ज्ञान के बिना बुद्धि बाहर-बाहर घूमती है, बाहरमें ही बुद्धि फंस जाती है और बाहर में बुद्धि फंस जानेसे आकुलताएं हो जाती हैं। मैं सबसे निवृत्त होकर केवल अपने आपके स्वरूप को देखूं तो वहां

कोई क्लेश नहीं हैं । सब हैं तो सब रहें । मैं तो मुझ में ही हूं । यह दुनिया तो मोह का स्वप्न है । स्वप्न में देखी हुई चीजें जैसे झूठ नहीं मालूम होती हैं उसी प्रकार मोह में प्रतीत हुई चीजें झूठ नहीं मालूम होती हैं । पर जैसे स्वप्न के बाद जग जाता है तो सब चीजें झूठ मालूम देती हैं उसी प्रकार मोह से दूर होकर सम्यक्त्व हो जाता है और उस सम्यक्त्व के हो जाने से परपदार्थों के प्रति ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है । सत्य और असत्य का निर्णय हो जाता है तब ये परपदार्थ झूठ मालूम होते हैं । देखो विचित्रता की बात की यह सबको तो जानता है पर इसे अपनी जानकारी नहीं है । यह जो जानने वाला पदार्थ है यह स्वयं क्या है ? इसको यह नहीं जान रहा है । यदि वह अपने आपको जान जाय कि मैं क्या हूं, अपनेको यथार्थ रूप से पहिचान जाय तो मोक्ष का मार्ग मिल जायगा । इसी तरह सब ग्रन्थों में आत्मा के ज्ञान की महिमा गायी गई है । मैं अगर अपनी आत्मा को ही सर्वस्व जानकर उसमें ही रम जाऊं तो पूर्णतया ज्ञान व आनन्द होगा । जैसे लोग कहते हैं कि हे भगवान् ! हे अल्ला ! हे खुदा ! तो यहां पर 'अल्य:' संस्कृत का शब्द है । अर्ह पूजायां धातु से अरहंत और अल् पूजायां धातु से अल्ला बना है । अल्ला के मायने भगवान से है । अरहंत का अर्थ पूज्य है और अल्य का अर्थ भी पूज्य है । खुदा के मायने खुद अपने आपमें बसा हुआ । खुद तो यह है ही । खुद मायने स्वयं । (सभामें किसी ने पूछा कि बिसमिल्ला क्या है ? तो महाराजजी ने जवाब दिया कि बिसमिल्ला के मायने तो नहीं जानता) आप बतावें बिसमिल्ला का क्या अर्थ है ? क्या मैं ही सब बताऊं । देखो भाई ! एक सेठानी बुढ़िया थी । उसका पति गुजर गया । लोगों ने पूछा कि क्यों रोती हो ? उसने कहा कि १०-२० दूकानें हैं उनका हिसाब कौन लेगा ? पंचायतके सरदार ने कहा—गम न करो । रोती क्यों हो, हम सब सम्हाल लेंगे । बुढ़िया ने कहा कि अभी ५००-६०० भैंस हैं उनका प्रबंध कौन करेगा ? सरदार ने सब कुछ सम्हाल लेने का वादा किया । सेठानी ने फिर कहा कि अभी ५ लाख का कर्जा भी देना है तो पंचायत के सरदार ने कहा कि अब क्या हमीं सबकी हां करें और लोग भी बोलें । तो भाई ऐसा है । क्या हमीं सब बतावें आप लोग भी बतावें । मैं तो बिसमिल्ला का मतलब नहीं जानता हूं । परन्तु जहां तक बिसमिल्ला का अर्थ लिया जाता होगा तो वह गुरु से मतलब निकलेगा । तो भाई यह आत्मा सबको जानता तो है, मगर उन सब रूपों में नहीं है । ऐसा मैं शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपको निरखूं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं ।

यह आत्मा देह में रहता हुआ भी देह से छुवा नहीं है। रहना बात और है और छुवा होना बात और है। एक ही स्थानपर पदार्थ रहें, इस कारण छुवा हो जाय, ऐसी बात नहीं है। छुवा होना तो प्रथम मूर्ति में मूर्ति से हुआ करता है। सो पुद्गल पुद्गल में छूने की बात कह लो फिर भी पुद्गल में पुद्गल पदार्थ भी परमार्थ से अन्य किसी से छुवे नहीं, क्योंकि सभी परद्रव्य अपना अपना जुदा अस्तित्व रखते हैं। जब किसी चीज में किसी चीज का प्रवेश नहीं है तो छुवे हुए कैसे हैं ? परमार्थसे तो पुद्गल से पुद्गल भी छुवे हुए नहीं हैं। फिर मूर्त से मूर्त कैसे छुवे हुए हैं ? यह आत्ना शरीर में है अवश्य, पर शरीर से अछूता है। जैसे किसी को टाइम दे रक्खें कि ८ बजे इस हाल में आप मिलिएगा। आप आ गए, और प्रवचन सुनते हुए आप उस व्यक्ति की बाट जोह रहे हैं तो आप उस पुरुष से बंध गए, शरीर से नहीं बंध गए क्योंकि अपने आप भाव करके पराधीन बन गए। घर वैभव से कोई बंधा नहीं होता। घर वैभव में जहां अपने भावों को लगाया तो अपने आप ही बंध गए। जब वह स्वयं नहीं हो सकता तो समझो कि बंध गया। दूसरों से वह नहीं बंधा है। वह अपने आप ही बंधा है। देह में रहते हुए भी यह आत्मा छुवा हुआ नहीं है। नाना आकारों में यह आत्मा चलती है, फिर भी यह आकाररहित है, निराकार है। क्योंकि आत्मा की पहिचान ज्ञानलक्षण से होती है। और ज्ञानलक्षण का कोई आकार नहीं है। ज्ञानका क्या आकार ? जैसे अग्नि का लक्षण गर्मी है उसका कोई आकार नहीं, केवल गर्मी ही उसका आकार है। इसी तरह आत्मा का लक्षण है ज्ञान। ज्ञान का क्या आकार ? जानन का क्या आकार ? आप पर्वत को जानें तो जानन बड़ा नहीं और आप सरसों को जानें तो जानन छोटा नहीं। जानन चाहे जैसा हो, छोटा बड़ा नहीं होता। तिखूटी, चौखूटी चीज जानने से ज्ञान तिखूटा, चौखूटा नहीं बन गया। ज्ञान ही ज्ञानका आकार है और ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। इसलिए आत्मा निराकार है। जो लोग इस ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापक एक मानते हैं और उस ब्रह्म की ये समस्त पर्यायें हैं, ऐसी मान्यता जिनकी है उनका काम क्या है कि भाव पकड़ा, द्रव्य, क्षेत्र, काल को भाव में जकड़ा। जीव का भाव है ज्ञान और ज्ञान का लक्षण द्रव्य, काल, क्षेत्र नहीं है। ज्ञानभाव से वह एक स्वरूप है और वह कैसा है, सर्वव्यापक। वह ज्ञानभाव एक है, सर्व व्यापक है। वह कहां है ? ऐसा स्थान देखने में नहीं आता है। वह ज्ञान तो सर्वव्यापक है, मगर उस भावमें क्षेत्र और काल जोड़ दो तो ब्रह्मवाद बन गया। द्रव्य, क्षेत्र और काल है व्यवहार

तथा भाव है निश्चय। ये चारों के चारों व्यवहार होते हैं और निश्चय से होते हैं। फिर भी ऐसे अन्तरण में छूने वाला कौन तत्त्व है? ऐसा सोचनेपर प्रतीत होता है कि द्रव्य के लक्षण को बताने वाला भाव तत्त्व है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल है व्यवहार की चीज। कोई व्यवहार को छोड़कर, व्यवहार की चीज को छोड़कर भावको ले और उसमें व्यवहार की चीज लगा ले तों मान्यता यह बन जाती है। मात्र भावदृष्टि से देखो तो केवल ज्ञानज्योति है वही ब्रह्म है। आत्मा की पहिचान ज्ञानभाव से है। एक यह भाव बैठ जाय कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, जाननस्वरूप हूं। जाननस्वरूप क्या है? शुद्ध जानन ही जाननस्वरूप है। इसका क्या स्वरूप है? इस ही लक्ष्य में लग जाएं और जानकर केवल अपनी आत्मा में, जिसे कहते हैं ज्ञान-ज्योति, उसमें ही लग जाएं तो ज्ञानानुभव हो जाता है। जब अपने को ज्ञानरूप न मानकर अन्य-अन्य रूपों में माने और अपना ख्याल पर में लगावें तो वहां पर आकुल-ताएं आ जाती हैं। वैसे तो देखो सब बाह्य चीजें ठीक हैं, पर उनसे इसका कोई सम्बंध नहीं है। यह आत्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म चैतन्यमात्र है, अमूर्त है। इस जीव के पास कोई आपत्तियां नहीं, कोई आकुलताएं व्याकुलताएं नहीं, पर यदि यह अपने आपमें सोच लें, संकल्प बना लें, विकल्प बना लें तो आकुलताएं, व्याकुलताएं आ जाती हैं, दु:ख आ जाते हैं। इस जीव में तो ज्ञानमयता की कोई कमी नहीं है। यह तो चैतन्यस्वरूप है। शुद्ध हो गया, शांत हो गया, अपने में अपने को समा लिया। लो यह अनुभूत आत्ममत्त्व हो गया। तो हम और आप तो परिपूर्ण हैं, स्वत:सिद्ध हैं, आनन्दघन हैं, सर्वस्व हैं, कोई कमी नहीं है, कोई विभाव नहीं, कोई संकट नहीं, कोई अशांति नहीं। पर यदि अपने आपमें संकल्प विकल्प बना लें, बाहर में दृष्टि हो जाय तो अशांति हो जायगी और अशांति हो जानेसे दु:ख प्राप्त होंगे। ऐसा दुखी बनने का कारण क्या है? कारण यह है कि पर को अपना मान लिया है, पर को ही निमित्त मान उपयोग में सर्वस्व कारण बना लिया है। यही कारण है कि उसे दुखी होना पड़ता है। यदि वह पर को ही कर्ता बनाएगा, पर में ही अपनी दृष्टि लगाएगा तो उसके दु:ख मिट नहीं सकते हैं। और उसके दु:खों के मिटाने का सरल उपाय यह है कि वह पर में दृष्टि न लगावे। जब यह जीव पर को ही निमित्त बनाकर अपना मान लेता है तो वह उनमें फंस जाता है। देखो उसने ऐसी वासना बनाई है, ऐसे संस्कार बनाए हैं कि उसे पर में फंसना पड़ता है और दु:खी होना पड़ता है। यदि वह इस अज्ञानता की रस्सी को काट

दे तो वह किसी भी बंधन में बंध नहीं बंध सकता है। किसी भी परपदार्थ में वह फंस नहीं सकता है। यदि वह अपनी इस अज्ञानताको दूर नहीं करता है तो उसे ही पुरुषार्थ-हीनता कहते हैं। जो जैसा है उसको वैसा मानना ही पुरुषार्थ होता है। जो जैसा है उसे वैसा न मानें तो वह संसारी है। ऐसा पुरुषार्थ करने में लेना-देना कुछ नहीं है, नुक्सान कुछ करना नहीं है। केवल जो जैसा है उसे वैसा ही सोच लें। पोजीशन वाले लोग क्या कहेंगे, जल्से वाले लोग क्या कहेंगे, जनता क्या कहेगी इन सब बातों में आ करके वह परमार्थसे विचलित हो जाता है। और जो जैसा है उसे वैसा ही मानने वाला जो पुरुष है वह अपने आपको ही मुख्य देखता है। वह इज्जत पोजीशन आदि की कुछ परवाह न करके आत्मकल्याण की धुन में रहता है। एक वेदान्त के कथानक का संग्रह है। उसमें लिखा है कि एक गुरु-शिष्य थे। वे एक पहाड़ीपर रहते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि एक नगर का राजा कुछ समूह के साथ दर्शन के लिए आ रहा है। गुरुजी ने सोचा कि अगर इसका मन मेरी ओर आ गया तो बहुतसे लोग यहां दर्शन हेतु आवेंगे। बहुत से लोगों के आने के कारण हम ध्यानसे विचलित हो जावेंगे। गुरुजी ने जब देखा तो अपने शिष्य से कहा कि देखो बेटा राजा आ रहा है। अब हम तुमसे रोटियां खाने के विषय में लड़ेंगे। और जब हम दोनों को रोटियोंके विषय से लड़ता हुआ वह देखेगा तो वह हमें तुच्छ समझेगा। फिर यहां न आवेगा और इसके न आने से यहां कोई न आवेगा। फिर हम अपने ध्यान में लगे रहेंगे। अब राजा आ गया। गुरु ने कहा अपने शिष्य से कि हमने तो दो ही रोटियां खाई हैं, आपने कैसे ज्यादा खा लिया? शिष्य बोला कि महाराज कल आपने १०-१२ रोटियां खा डाली थीं, हमने तो केवल दो ही खायी थीं। इसलिए आज मैं ज्यादा खा गया। राजा सोचने लगा कि अरे ये तो महा-तुच्छ हैं, रोटियोंके विषयमें झगड़ते हैं। राजा चला गया। शिष्य ने तीन चार दिन बाद में गुरुसे पूछा कि क्यों आपने उस दिन रोटियोंके विषयमें झगड़ा किया था। गुरुने कहा कि देखो झगड़ने से राजाका दिमाग बदल गया है वह हमें तुच्छ समझकर नहीं आता है और उसी के न आने से भीड़ भी नहीं लगती। जिसको अपने कल्याण की बात मन में है वह अपनी बात करता है। वह अपनी इज्जत धूल में मिला करके यदि अपनी रक्षा करता है तो कर ले। खैर जैन सिद्धान्त में इतनी बात तो नहीं कही गई है कि अपनी बात बिगाड़ करके अपनी रक्षा करे। पर उपेक्षा करके अपनी आत्मभावना को शुद्ध अवश्य करो। एक कवि ने एक कविता में बताया है कि अगर तुम कम बोलते हो तो

तुम घमंडी हो, अगर ज्यादा बोलते हो तो तुम वाचाल पाखंडी हो। अगर विनय करते हो तो तुम खुशामदी हो, अगर विनय नहीं करते हो तो तुम जिद्दी हो, अगर खर्च ज्यादा करते हो तो तुम धन खूब उड़ा रहे हो। यदि मितव्ययी हो तो कंजूस हो ऐसा लोग कहेंगे। सो किस किसको प्रसन्न कर सकते हो बताओ। कुछ भी करने की कल्पना क्यों करें, सब मिट जायगा। और यदि भगवान का केवल ज्ञानस्वरूप उपयोग में हो तो भगवान मिल जायगा। यदि पर में दृष्टि होगी, पर में लगाव होगा तो लोग ज्यादा से ज्यादा यह ही तो कहेंगे कि इनका बड़ा वैभव है। कह लिया, पर यह तो बतावो फंसेगा कौन ? मरेगा कौन ? अविवेकका फल फंसना है। तू स्वतंत्र होकर भी परतन्त्र मानता है। इसलिए हे भाई ऐसा विचार तो कर लो कि तू अपने आपमें ही दृष्टि करके ऐसा निर्णय कर मैं किसी से बंधा हुआ नहीं हूं। ये जगत के जितने भी पदार्थ हैं मेरे नहीं हैं—यदि ऐसा निर्णय तू कर ले तो तू प्रसन्नचित्त रहेगा। तेरे घर वाले लोग, देश के लोग तुझ से प्रसन्न होंगे क्या ? चिंता न कर, आत्मधर्म में चल। जैसे कहते हैं—कुंवा मत छानो, अपना लोटा छानो। हम बाहर के पदार्थों को छानते हैं, पर अपने आपको नहीं छानते। अपने को देखो कि मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यमात्र एक वस्तु हूं, इसके आगे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। एक दूसरे को मान लें कि यह मेरा है, यह उसका है, यह गैर है इत्यादि तो यह मोह है। मैं तो सबसे निराला हूं, फिर भी यह छंटनी करना कि यह मेरे लिए, यह परिवार के लिए है—ऐसी छंटनी करना मोह कहलाता है। ऐसी छंटनी करना बहिर्मुखता है, बाह्यदृष्टि हुई, मिथ्यात्वदृष्टि हुई। मिथ्यात्व में मिथ् धातु आती है, मिथ् का अर्थ सम्बन्ध करना है। मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसमें किन्हीं बाह्य चीजों से सम्बन्ध हो, पर से सम्बन्ध दीख रहा हो, इसी का नाम मिथ्यात्व है। जैसे पदार्थ हों वैसी ही दृष्टि बने तो सम्यक्त्व है। अपने आप स्वयं मैं हूं, ऐसी दृष्टि परपदार्थों में आ जाय तो यह सम्यक्त्व हुआ। जो बाह्य पदार्थ हैं उनको उनके अपने स्वरूप में देखना सम्यग्दर्शन है। अभी यह काम करने को पड़ा हुआ है। यह पहला काम है जो कि आपको करने के लिए पड़ा हुआ है। वह क्या कि जो जैसा है (स्वतन्त्र है) उसे वैसा ही भिन्न-भिन्न परिपूर्ण स्वतन्त्र निरखो। मैं भी अपने स्वरूप में स्वयं कैसा हूं ? यह देखना। वस्तु का स्वरूप स्वतन्त्र है यह देखना अभी पड़ा हुआ है। फिर उस दृष्टि को देखकर केवल अपने आपको ही निरखना, यह मेरा दूसरा काम पड़ा हुआ है। बस इस स्वलक्षण दृष्टि से ही हमारा पूरा पड़ेगा। जन्ममरण के चक्र में पड़ने के जो ये

काम हैं उनसे छुटकारा पाने का यही उपाय है। स्वलक्षण दृष्टि बन जाने से जन्ममरण का चक्र बन्द हो जायगा। हे आत्मन् ! पर में दृष्टि न रक्खो। पर में दृष्टि रखने से तुझे दु:ख होंगे।

तू अपने उपादान में ऐसे कषायें भरे हुए है, ऐसा उपादान है, ऐसी विषयवासना बनाए हुए है तो तू चाहे जहां रहे, चाहे घर में रहे, चाहे जंगल में रहे, चाहे मंदिर में रहे, तुझे दु:ख होंगे। जब तू कषायों को पकड़े हुए है तो ऐसी अवस्था में तुझे प्रत्येक जगह दु:ख ही दु:ख नजर आवेंगे। जैसे जिस पुरुष में क्रोध की वासना है और जरा जरासी बातों में क्रोध आता है, चिड़चिड़ा जाता है तो वह सदा दु:खी होता रहता है। जैसे कोई नौकर रखता है, वह नौकर यदि ठीक कार्य नहीं करता है तो गुस्सा आ जाता है। यह सोचकर कि दूसरा रखेंगे, उसको वह निकाल देता है। इसी तरहसे और और भी नौकर रखता है तो काम ठीक न करने की वजह से उनपर भी गुस्सा आता है और उनको भी निकाल देता है। नौकर न रखने में ठीक रहेगा, यह सोचकर सारे नौकरों को निकाल देता है अकेला रह जाता है। केवल अकेला वह व्यक्ति रह जाता है तो उसे बहुतसी अड़चनें पड़ती हैं, व्याधियां पड़ती हैं और उसे दु:ख होते हैं, क्लेश होते हैं, देखा क्रोध के उपादान में हर स्थिति में क्रोधी बन रहा है। जिनको कषाय करने के योग्य क्रोध होने की प्रकृति बनी हुई है, वे किसी भी परिस्थिति में हों, पर को निमित्त बना करके अपने में क्रोध बना लेते हैं और क्रोध से उत्पन्न कषाय के द्वारा उसे दु:ख होते रहते हैं। जिनको मात्र कषाय भरा हुआ है वे अपना मान चाहते हैं तो हर जगह अपना अपमान महसूस करते हैं। अपमान महसूस होने से कष्ट महसूस होता है। जैसे कोई दस आदमी रास्ते में चले जा रहे हैं, अपनी धुन में चले जा रहे हैं। मान में रहने वाले किसी ने मन में यह विचार बना लिया कि अरे देखो इन लोगों ने हमसे राम-राम नहीं किया। ऐसा विचार करने से मन में कषाय आ जायगी और दु:ख होंगे। अरे वे तो स्वतंत्र हैं। उन पर बिगड़ने से उन पर क्रोध करने से तुम्हारा क्या बन जायगा और उन पर बिगड़नें का अधिकार क्या ? वे तो मस्त थे। अपने आप झूमते हुए चले गए।

कल्पनाएं ऐसी भरी हुई हैं कि मैं सबसे बड़ा हूं, ये मुझसे छोटे हैं। ऐसा होनें के कारण उनकी वासना ऐसी बन गयी है कि उन्हें क्लेश महसूस होता है। अरे २-४ लोग तेरी प्रशंसा ही कर देंगे तो उससे क्या हो जायगा ? तू अपनेमें यह सोच लेगा कि लोग मेरी इज्जत करते हैं। अरे जो तेरी प्रशंसा करते हैं वे अपने कषायसे, अपने स्वार्थ

के लिए, अपनी शान्ति के लिये अपनी चेष्टा करते हैं। जिसकी मायाचार की प्रकृति है वह जहां आवश्यकता है वहां भी माया का काम करता है और जहां आवश्यकता नहीं है वहां भी माया का काम करता है। जहां जरूरत नहीं वहां भी माया की प्रकृति पड़ गई ना। इसलिए चलने में, बैठने में, उठने में, बोलनेमें सर्वत्र माया की बात किसी न किसी रूप में आती रहती है। इस तरह तो है लोकप्रकृति की बात। किस कषायकी प्रकृति पड़ गई है वहां कषाय उठती है और उठते ही समय वह अपना कुछ न कुछ आश्रय बना लेता है। अब देखो तीन चीजें हैं—निमित्त, आश्रय और उपादान। कर्म के उदय तो निमित्त होते हैं व उन निमित्तों को पाकर विभावमें जब फैलते हैं तब जिन बाह्य वस्तुवों का आश्रय बना लेते हैं वे आश्रय हैं। जो ज्ञान में आए अथवा जो सुलभ हो उसका आश्रय करके यह जीव उपादान अपने विभाव में पुष्टि करता है। जैसे लोग कहते हैं कि एक गुहेरा होता है जो छिपकली से बड़ा होता है। लोग यह कहते हैं कि उसकी आदत होती है कि मनुष्यों को काटता है और काटकर खुद मूत कर उसमें लौट जाता है। ऐसा लोग कहते हैं। पर है क्या कहां? बात यह है कि गुहेरे को जब मूत्र करना होता है तो उसका मूल इस ढंग से होता है कि वह किसी चीज को काटकर, दांतों से चबाकर मूत्र करता है। ऐसा करने से ही वह मूत्र कर पाता है। उसका ढांचा ही ऐसा होता है, उसकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि उसको ऐसा करना पड़ता है। वह मनुष्य को ही केवल काटता हो, ऐसी बात नहीं है। उसके आदतकी यह अन्य ही बात है। उसका मूत्र उतरता है जब किसी चीज को काटता है, चाहे मनुष्य हो, चाहे लकड़ी हो, चाहे पत्थर हो वह उसे काट लेगा, उसे चबा लेगा तभी वह मूत्र करता है। उसका ऐसा प्रकृति व्यवहार होता है। इसी तरह जिस जीव में विभाव उत्पन्न होता है उसकी यह पद्धति बनी होती है कि परपदार्थों को निमित्त पाकर वह अपने विभाव करता है। विभाव करने का ढंग ही अन्य है। परपदार्थों के सम्बन्ध ने विभाव कर दिया हो, ऐसा नहीं है। यह जीव जब विभाव उत्पन्न करता है तो ऐसे ढंग से ही कर पाता है। उपयोग से सम्बन्ध कर लेता है और वह विभाव कर लेता है, तब अशांति का कारण हमारी भूल है, अशांति का कारण हमारी गल्ती है।

अपने आपकी दृष्टि मिटाकर बाह्य में दृष्टि करके खुद हम उलझते हैं। हम गल्ती करते हैं उसका फल दुःख होता है, अशांति होती है। मुझको अशांति करने वाला दूसरा पदार्थ नहीं है। मेरी अशांति का कारण मैं ही हूं। मैंने ही बाह्य वस्तुवों को

संकल्प करके अपना मान लिया है। बाह्य वस्तुवोंको ही मैंने निमित्त बना लिया है और परपदार्थ का बहाना करते हैं, मोह करते हैं। मोह बनाकर ही मैं दुखी होता हूं।

कभी घर में माँ को गुस्सा आ रही हो तो यदि वह कुछ कहेंगी या उगलेगी तो गुस्सा ही उगलेगी और जो कुछ कहना होगा गुस्से में ही कहेंगी।

बच्चा मिल गया, बच्ची मिल गई, कोई भी बहाना करके वह मां उस बच्चे पर गुस्सा करेगी। वह उस बच्चा अथवा बच्ची को पीटेगी भी। यद्यपि वहां पर बच्चे अथवा बच्ची का कसूर कुछ नहीं है फिर भी मां उनको पीटती है।

अरे बड़े घराने में नौकर चाकर चतुर होते हैं। एक बाबूजी थे। वे गुस्सा बहुत हो जाते थे। वह नौकर जब कभी देखता था कि बाबूजी गुस्सा में हैं तो वह उनके सामने नहीं जाता था। वह जानता था कि यदि हम उनके सामने जावेंगे तो सारा गुस्सा हमारे ऊपर ही उतार देंगे। चाहे बाबूजी किसी दूसरे पर ही गुस्सा हों, पर वह नौकर उनके सामने नहीं पड़ेगा। वह समझता है कि गुस्से का उबाल आ रहा है। यदि कहीं भी उनके सामने पहूंच गया तो सारा गुस्सा हमारे ऊपर ही उतार देंगे। पुण्योदय में कुछ सामर्थ्य पाया तो जिस चाहे पर जो चाहे करने का प्रयत्न कर देता है मोही। एक नदीमें एक बकरीका बच्चा पानी पी रहाथा। ऊपर भेड़या पानी पी रहा था। भेड़या होता है बकरी का दुश्मन। भेड़या बकरी के बच्चे से कहता है कि अरे मैं तो पानी पी रहा हूं और तू पानी पी कर गंदा पानी कर रहा है। बकरी के बच्चे ने कहा कि महा-राज आप तो ऊपर का स्वच्छ पानी पी रहे हैं, मैं तो नीचे के ढलाव का पानी पी रहा हूं। भेड़या गुस्से में आ गया और बोला कि अरे तू नहीं पी रहा है तो क्या तेरा बाप पानी पी रहा है। ऐसा कहकर बच्चे पर धावा बोल दिया व मार डाला। ऐसे ही जब कषाय बढ़ती है, होती है तब किसी भी प्रसक्त परपदार्थ को आश्रय करके कषाय बन जाती है। तब पदार्थ कैसे हैं ? ये सब तू भूल जाता है। पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपने रूप में हैं, कषाय रखने वाले व्यक्ति सब भूल जाते हैं, कषाय वालों को ऐसा ही नजर आता है जिससे उनकी वह नजर कषाय में बल देती है। जैसा पात्र है उसका वैसा ही उबाल निकलेगा। कहते हैं कि उसको निमित्तने किया। अरे निमित्तने नहीं किया उसे जो करनें को था सो किया। यह तो बनना ही था। कर्मों का उदय निमित्त होने से उसका कुछ न कुछ निमित्त मिल जाता है व विभाव हो जाता है। यह जीव बंधा होता है, पर से नहीं बंधा होता है, माने अपने उपयोग में जो भी ज्ञेय है, जिसमें रति है उसके बारे में

ख्याल बनाकर, विकल्प बनाकर, कल्पना बनाकर, अपने आप स्वयं अपने आपमें बंध गया है, परतंत्र हो गया है। पर यह आत्मा देह में रहकर भी छुई हुई नहीं है, ऐसा मैं अपने आपको देखूं कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानमय हूं और ज्ञानमय ही अपने को निरख कर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

इस आत्मा को कहते हैं एकत्वविभक्त। एकत्व का अभिप्राय है कि यह आत्मा अपने आपके गुणपर्याय में तन्मय है, अपने ही स्वरूप में तन्मय है, स्वयं सर्वस्व है और विभक्त का अर्थ है कि जगत के अन्य सब पदार्थों से अत्यंत जुदा हैं। जगत में पदार्थ अन्य हैं कितने ? अनंते तो पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। इन सबसे यह आत्मा जुदा है, और अपनी आत्मा को छोड़कर जगत में जितनी भी आत्माएं हैं उन सबसे जुदा है, केवल अपने आपमें तन्मय है। इसे कहते हैं एकत्वविभक्त। इस मुझ आत्मा में पुण्य और पाप का स्पर्श भी नहीं है अर्थात् इसमें न पुण्य है और न पाप। जब मैं अपने सहजस्वरूप को देखता हूं तो पहले मेरी सहज सत्ता किस प्रकार है ? यह अपने इस प्रकार के मर्म को देखता हूं तो उस एकत्व-विभक्त निज आत्मपदार्थ में पुण्य व पाप कोई नहीं है, कोई प्रकार का विकार नहीं है। स्वभाव में कोई विकार नहीं है।

जैसे गंदा जल है, कचड़ा मिला हुआ है। अगर जल के स्वभाव को देखो अर्थात् जल का स्वरूप अपने आप अपनी सत्ता के कारण कैसा है ? इस बात को यदि देखो तो क्या गंदा नजर आवेगा, नहीं। वह तो निर्मल है, अर्थात् जलका स्वभाव बिल्कुल स्वच्छ है। इसी प्रकार इस गंदी आत्मा में रहने वाली आत्मा को १४ प्रकार के जीव समासों में रहने वाले जीव में दृष्टि करें तो क्या कोई विकार नजर आयगा ? नहीं। वह तो शुद्ध ज्ञायकमात्र ही नजर आयगा अथवा और भी जितनी स्थान पर्यायें हैं—गति चार, इन्द्रिय पांच, काय छः योग पन्द्रह, पच्चीस कषाय और सात ज्ञान। स्वभावदृष्टि में तो केवलज्ञान भी नजर नहीं आता है, वहां तो केवल ज्ञानस्वभाव ही है। परन्तु केवल ज्ञान स्वभावपर्याय है, इस कारण स्वभाव विकास गुण के सदृश देखा जाता है। इसी प्रकार अन्य-अन्य स्थानों में देखो तो यह कोई विकास नजर नहीं आता है। वहां तो मात्र एक ज्ञानस्वभाव ही प्रतीत होता है। ऐसा एकत्वभाव मैं हूं।

मैं लड़कों वाला हूं, घर वाला हूं, जानने वाला हूं, ये सब बातें व्यर्थ की हैं। मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं धनी हूं, मैं गरीब हूं, मैं राजा हूं, मेरे पास बल है, मेरा बड़ा

प्रभाव है, मेरे पुत्र हैं, मेरे स्त्री है, मैं बलवान हूं, सुडौल-बेडौल हूं। अरे ये सब कुछ नहीं हैं। मेरे में तो विकारों का स्पर्श भी नहीं हैं। यह परम शुद्ध, निश्चय की बात चल रही है। इसकी ही बात मान लेवो कोई तो ब्रह्माद्वैत आदि सब अभिप्राय खड़े हो जाते हैं। में आत्मस्वरूप कैसा हूं, यह स्वभावदृष्टि में ही दिखता है। जिस मां का लड़का बहुत अच्छा चल रहा है। साल ६ माह बाद में यदि वह जुवारी लड़के के संगमें आने से उसके जुवारी का प्रसंग लग गया, तब एक बुढ़िया स्त्री कहने लगी कि देखो तुम्हारा लड़का जुवा खेलता है। उस लड़के की मां ने कहा कि नहीं, मेरा लड़का जुवा नहीं खेलता है। वह जुवा खेलने का व्यसन तो उस दूसरे लड़के का है मेरे में नहीं है। मतलब यह है कि वह अपने लड़के को वैसा ही सुशील समझती है जैसा कि प्रारम्भ में था। वह स्त्री अपने लड़के के प्रति कहती है कि मेरे लड़के को सोहबत में रखकर इस दूसरे लड़के ने जुवा सिखला दिया है। यह जुवा खेलने की आदत उस दूसरे लड़के में ही हैं, मेरे लड़के में नहीं है। इसी तरह से विवेकी जीव इस चैतन्य आत्मा को सहजस्वरूप, ज्ञानमय, ज्ञानस्वरूप मानता है, इस आत्मामें कोई विकार नहीं है, इसमें पुण्यपाप नहीं, रागद्वेष नहीं। कोई कहे वाह वर्तमान में तो ये सब हैं। अरे यह कर्मों की प्रकृति है, मेरी प्रकृति नहीं। राग की आदत तो कर्मों से है। द्वेष की प्रकृति कर्मों से है। ऐसे निमित्तपर आरोप किया गया है अपनी खराबियों का। जो अपनेको शुद्ध, स्वच्छ देखता है उसमें कषायभाव और पुण्य, पाप का स्पर्श नही है। सो ऐसी वस्तुस्थिति मेरी होवे अर्थात् अधिकार होवे। कहीं नैमित्तिक भाव में, कहीं अपने प्रदेशों में—यह मैं हूं, यह मेरा है, इससे ही मेरा भला है, इस ही में रमना चाहिए इस प्रकार के भाव उत्पन्न न हों। मैं ज्ञानमात्र का अनुभव करुं, ज्ञानदृष्टि में रहूं, इस प्रकार के भाव उत्पन्न होना चाहिए। कहते हैं ना कि "जो बोले सो फंसे।" अरे समाज में कोई काम करते हो तो यदि कोई पूछे कि अमुक काम करते हो जो बोले कि हां हां मैं करता हूं सोई फंसेगा। घर में, समाज में, देश में जो बोलेगा वही फंसेगा। किसी से पूछा—भैया ! स्वरूपनगर का रास्ता कौनसा है ? बतावो। वह बोलेगा कि इस रास्ते से चले जावो, स्वरूपनगर मिल जायगा। नहीं-नहीं जरा आगे चलकर थोड़ा सा बता दो। इस तरह से वह फंस जायगा और यदि रास्ता न बताता तो न फंसता। ऐसे ही जो परद्रव्योंमें राग करता है सोई फंसता है।

सुना होगा कि एक साधु थे। राजा वन्दना करके उसके पास बैठ गया। साधुने

पूछा कि बोलो क्या चाहते हो ? राजा बोला, "महाराज मेरे कोई बच्चा नहीं है, एक बच्चा हो जाय यह मैं चाहता हूं। साधु ने कहा कि अच्छा जावो, एक बच्चा हो जायगा। इस प्रकार से आशीर्वाद मिल गया। राजा घर आया, घरमें रहने लगा। साधु ने १५-२० दिन बाद में देखा कि रानी के अभी गर्भ नहीं है, कोई मरता हो तो उसे गर्भ में भेज दें। उस समय कोई मर नहीं रहा था। फिर साधु ने सोचा कि अच्छा चलो खुद ही मरकर रानी के पेट में पहुंचें। खुद साधु मर गया और रानी के पेट में पहुंच गया। अब साधु गर्भ में पड़ा हुआ सोचता है कि मैं गर्भ से कैसे निकलूं ? साधु परेशान था। वह मन में विचार करता है कि यदि मैं वचन न दे देता तो ठीक था। वह साधु बार-बार विचार करता है कि मैं अब निकलूं। साधु गर्भ में बच्चे के रूप में पड़ा हुआ है। वह सोचता है कि यदि मैंने वचन न दे दिया होता तो आज यह परेशानी नहीं होती। अच्छा अब मैं जब बाहर निकलूंगा तो बोलूंगा नहीं। बच्चे के रूप में साधु बाहर निकल आया। सात आठ वर्ष का हो गया, बच्चा बोलता ही नहीं। राजा परेशान हो गया। बोला कि लड़का तो हुआ पर गूंगा हुआ। इसे जो ठीक कर देगा उसे मैं बहुत सा धन दूंगा। एक दिन बच्चा बगीचे में घूमता हुआ पहुंच गया। वहां पर देखा कि एक चिड़ीमार जाल बिछाए हुए बैठा था। और अब यहां चिड़िया नहीं है ऐसा समझकर जाल की तह करके जाने की तैयारी कर रहा था। इतने में ही एक चिड़िया जो कि पेड़के ऊपर बैठी हुई थी, बोल उठी। अब चिड़िया पकड़ने वालेने जाल फैलाया और उस पक्षी को जाल में फांस लिया। तब राजकुमार एक दम से बोल उठा कि "जो बोले सो फंसे।" अब क्या था चिड़ीमारने समझ लिया कि राजकुमार बोलने लगा। वह राजाके पास गया। राजाको खबर दी कि राजकुमार बोलते हैं। इतना सुनकर राजा ने १० गांव इनाम में दे दिया। अब राजकुमार घर आया। राजाने देखा कि बच्चा तो बोलता ही नहीं है। राजा बोला—अरे पक्षी मारने वाले भी मुझ से दिल्लगी करते हैं। राजा ने क्रोध करके चिड़ीमार को फांसी की सजा सुना दी। अब चिड़ीमार से राजा ने पूछा कि तुझे जो चीज चाहिये सो बोल। चिड़ीमार बोला कि महाराज हमें कुछ नहीं चाहिए, केवल ५ मिनटके लिए आप अपने बच्चेसे मिला दीजिए। राजा ने बच्चे से मिला दिया। चिड़ीमार बच्चे से बोला कि हे राजकुमार ! मैंने कभी जिन्दगी में झूठ नहीं बोला, पर आज मैं झूठा बन रहा हूं। खैर, अब तो मेरा जीवन समाप्त ही हो रहा है परन्तु तुमसे विनय यह है कि जो शब्द बगीचे में कहे थे वही कह

दीजिए। बच्चे ने वही शब्द बोल दिया। १० मिनट तक उस बच्चे ने छोटासा भाषण भी दिया। बादमें बच्चे ने बताया कि देखो पहले मैं साधु था। राजा दर्शन करने गए। हमने राजा को दर्शन दिया था। राजा से मैंने बोल दिया था, इसलिए मैं फंस गया। इसलिए मैंने बोलना बंद कर दिया था। इस तरहसे सारा किस्सा बच्चे ने सुना दिया।

देखिए राजा से साधु ने बोल दिया यों साधु फंस गया, पक्षी ने बगीचे में बोल दिया तो पक्षी फंस गया और चिड़ीमार ने राजकुमार से बोल दिया तो चिड़ीमार फंस गया। इसलिए इस जगत में बोलता है वही फंसता है। यदि ज्यादा बोल-चाल जगत में रखते हो तो राग बढ़ेंगे, द्वेष बढ़ेंगे। कितने ही लोग ऐसे होते हैं जो दसों दिन तक बच्चों से नहीं बोलते हैं। बच्चे पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदने सभी जगह आते जाते हैं, पर उनसे सहज ही बोलते हैं। उन बच्चों से उनका स्पर्श भी है। उनसे वह अनासक्ति करता है तो पराधीन नहीं होता है और यदि आसक्ति करता है तो पराधीन हो जाता है। अब बताओ कि परिवार में जितने लोग हैं उनसे इस आत्मा का क्या सम्बंध है? यदि कोई सम्बंध हो तो बतलाओ। बाप की आत्मा का पुत्र की आत्मा से क्या सम्बंध है? यदि कोई सम्बन्ध हो तो बतलाओ। अब देखो कोई सपूत है, पिता का आज्ञाकारी है तो पिता को दुःख है या सुख। दुख ज्यादा है। पुत्र अगर कुपूत है, अन्यायी है तो पिता को दुःख है या नहीं। नहीं की बात विशेष है। कुपूत से दुख मिट जायगा। वह धन बरबाद करने वाला होता है तो अदालतमें लिख दें कि बच्चे का हमसे कोई सम्बंध नहीं है, मैं इसका जिम्मेदार नहीं हूं। बस दुःख मिट गया। और यदि लड़का सपूत है, आज्ञाकारी है, बड़ा विनयशील है, तो उसके प्रति राग करके बाप श्रम ही श्रम तो उठायगा, आराम कहां पायगा?

अच्छा यह बताओ कि यदि पुत्र सपूत होगा, आज्ञाकारी होगा तो बाप दुखी होगा या नहीं? दुखी होगा। कैसे? अच्छा देखो यदि पुत्र सपूत होगा आज्ञाकारी व विनयशील होगा तो उसे सुखी करने के लिये बाप अथक परिश्रम कर क्लेश में पड़ा रहेगा और यदि पुत्र कुपूत है तो उसके बाबत यह प्रसिद्धि करके कि इससे मेरा सम्बन्ध नहीं, छुट्टी पा लेगा। देखो दुःख सपूत में है कि कुपूत में है? सपूत में है यदि पुत्र सपूत होगा तो मोह होगा और मौह में तो क्लेश अवश्य होंगे। और यदि पुत्र कुपूत है तो न तो मोह ही बढ़ेगा और न क्लेश ही होंगे। अरे देखो संगीत बजाने वाले चार जने हैं। कोई तबला, कोई सरंगी, कोई मंजीरा, कोई हारमोनियम बजाता है। और

सब अलग-अलग गांव के हैं। परिचय भी नहीं है तो भी संगीत विषय के कारण एक दूसरे की तारीफ करेंगे। इस तरह से ४-५ मिनट में ही उनमें परस्पर सम्बंध हो जायगा। उनमें परस्पर दोस्ती हो जावेगी। सब में आपस में बोल-चाल हो जायगी। अब देखो संगीत के विषय में ही उनमें बोलचाल हुई ना। अब देखो वे आपस में फंस गए। वे एक दूसरे को भोजनादि के लिए भी निमंत्रित करेंगे। इस प्रकार उनके बीच में घनिष्ट सम्बंध हो जायगा।

अरे यह सब सम्बंध क्या है, यह सब खाक है। ऐसा करने से तू मोह में फंसा रहेगा, तुझे आजीवन क्लेश रहेंगे। अरे तू तो परमार्थ में शुद्ध स्वच्छ, ज्ञानस्वरूप है, तेरे में तो क्लेशों का नाम नहीं, फिर क्यों जगजाल में फंसकर क्लेश प्राप्त कर रहा है। करने योग्य काम तो तत्त्वदृष्टि है। सो उसकी ही रुचि कर अपने में सुखी होओ। तत्त्वों में अन्य-अन्य नाना मत हैं। कहते हैं कि मुस्लिम तत्त्व यह है, बौद्ध तत्त्व यह है। अरे यह क्या है? व्यर्थ में नाना प्रकार के विवाद बढ़ाते हैं। कोई किसी प्रकार के विचार मानता है, कोई किसी प्रकार के। कोई-कोई हनुमान जी को बंदर के मुख वाला व पूंछ वाला कहते हैं। जैन लोग कहते हैं कि हनुमान इतने सुन्दर थे कि उनके समान सुन्दर उस समय कोई नहीं था। जैनसिद्धान्त में तो बताया गया है कि वह एक कामदेव पदधारी अति सुन्दर राजा थे। खैर विचारों से क्या मतलब? आप अपने को तो देखें कि अपना स्वरूप कैसा है? अर्थात् मैं अपने आपको देखूं कि मैं कैसा हूं? जो मैं हूं वही समझूं, बस इस ही में कल्याण है।

अरे अन्य को देखने का कोई मेरा प्रयोजन नहीं है। मेरा प्रयोजन तो अपने आपको देखने का है। मैं अपने आपको देखूं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं। कहीं चले जाओ सुख कहीं नहीं मिलेगा। जैसे यहां आप रात-दिन भटकते हैं, फिर रात को ६-१० बजे के लगभग आराम करने घर आते हैं, सोते हैं। इसी तरह बाह्यपदार्थों में कितना ही भटक लें, फिर अंत में अपने घर में, अपने आपके स्वरूप में ही शांति मिलेगी। बाह्य बाह्य की तो व्यवस्था करते हैं पर अपनी व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।

देहातों में तो भैया हफ्ते में एक दिन हाट लगती है। सो कहीं देहात में कोई अधबूढ़ा आदमी था। वह आदमी एक दिन हाट में साग-भाजी खरीदने लगा। पड़ौस की बहुवों ने भी साग खरीदने के लिए दो-दो पैसे दे दिए। दो-दो पैसों की सब्जी

खरीदता जाता था। पहले पड़ौस की बहुवों के लिए खरीदता था। अंत में अपने लिए भी दो पैसे की सब्जी मोल ली। आखिर में बची हुई सब्जी थी तो वह खराब थी, सड़ी थी। वह सब्जी लेकर झोली में डालकर घर गया। जब घर की बहू ने देखा तो कहा कि अरे यह खराब सब्जी क्यों लाए ? बोला—पड़ौस की बहुवों के लिए पहले अच्छी-अच्छी खरीद दिया फिर बाद में जो बची वह मैंने खरीद लिया। बहू से कहा कि देखो मैं परोपकार करता हूं। बहू ने कहा कि अरे पहले अपने लिए अच्छी-अच्छी खरीद लेते, बाद में फिर दूसरों के लिए लेते। पहले अपनी रक्षा करो बाद में दूसरे की। अपनी रक्षा अपने आत्मस्वभाव की उपासना करना है, उसकी दृष्टि रहते हुए परोपकार किया जावे तो वह महत्त्व की बात है।

भाई अपने स्वरूप की तो खबर नहीं है और दूसरे की आसक्ति से देख रहे हैं। हे आत्मन् ! पहले अपने स्वरूप को देखो, बाद में फिर अन्य को देखो। अपने को भूल-कर द्वन्द्व को देखो इसे आचार्यों ने विवेक नहीं बतलाया है। बाहर में क्रिया-कलाप में भी रहो, पर उनमें कोई अपना स्वरूप मत समझो। यदि कोई समस्त मतों के विकल्प को छोड़कर अपने सत्य का आग्रह कर ले कि मुझे जो अपने आप बिना किसी अन्य जल्प के आश्रय के अनुभूत होगा सो होओ, मैं स्वयं ज्ञानमय पदार्थ हूं। अतः ज्ञान की बात स्वयं ही प्रकट हो जावेगी ऐसे सत्य का आग्रह कर ले निष्पक्ष होकर तो उसे स्वयं सत्य का दर्शन होगा। जो सत्य का दर्शन हो फिर उसी का लक्ष्य रखना सो ही शान्ति सुख का मार्ग है।

मूल तत्त्व तो आत्मा है। इस आत्मा के बारे में ठीक-ठाक निर्णय जब नहीं हो पाता तब उस आत्मा के बाबत व अन्य बातों में नाना मत बन गए। तत्त्वों में जो मत मजहब बन गए। उसका मूल कारण यह है कि यह जिज्ञासू अपने आपकी आत्मा का यथार्थज्ञान नहीं कर पाया। आत्मा का यथार्थज्ञान न हो पानेसे ही अनेक मत बन जाते हैं। यह दर्शन का एक गहरा विषय है। वस्तु को जानने का उपाय स्याद्वाद है। किसी वस्तु का सर्वाङ्ग निर्णय करो तो स्याद्वाद से ही कर सकते हो।

जैसे किसी मनुष्य के सम्बन्ध में जानकारी करते हो तो कितना-कितना जानते हो ? यह पिता है, यह पुत्र है, यह भांजा है, यह धनी है, यह पंडित है अनेक प्रकार की बातों की जानकारी करते हो। जानते हो अपेक्षा लगाकर कि यह अमुक का पिता है, यह अमुक का लड़का है, यह अमुक का भांजा है, यह अमुक का मामा है—ये सारी

बातें तो अपेक्षा लगाकर जानते हो। इस प्रकार से यदि अनेक बातें जानते हो तब उनकी सारी बातों की जानकारी होती है। इसी तरह आत्मा के विषय में जब सर्व-प्रकार से दृष्टि दोगे तभी आत्मा का पूरा रहस्य समझ में आयगा। जब जीव के पर्याय में तथा आत्मस्वभाव में दृष्टि दोगे तभी दोनों में अन्तर समझ में आयगा। जब जीव के मात्र लक्षण में दृष्टि दोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि जीव का लक्षण है चैतन्य और यदि इस चैतन्यस्वभाव में दृष्टि दो तो नानारूप इसमें नहीं नजर आते हैं। यदि अपने इस चैतन्यस्वभाव में दृष्टि दो तो अद्वैत समझ में आवेगा, व्यक्तित्व नजर नहीं आयगा। अरे यह चैतन्यस्वभाव तो अद्वैत है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है तब फिर इसका नाना रूपों में अनुभव क्यों है ? प्रत्येक जीव का अपना स्वरूप न्यारा-न्यारा है। यह बात तो तुम्हें तब समझ में आवेगी जबकि अपने आनन्दस्वरूप में दृष्टि दो। इस तरह से जीव के बारे में नाना बातें स्याद्वाद से विदित होती हैं, पर उनमें से किसी एक को पकड़ लो या किसी अपेक्षा किसी अन्य अपेक्षा का मिलान कर दो तो देखो कि नाना मत बन गए हैं। और उन नाना मतों के विवाद में पड़ने से केवल कलह ही मिलेगी। उनसे आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। आत्मा को शांति तो अपने आपके दर्शन में होती है। और यदि शांति नहीं मिलती है तो समझो कि उसका निमित्त कोई अन्य है, क्योंकि आत्मा तो स्वयं स्वयं के लिये अनाकुल स्वरूप है।

यदि अपने में कल्याण की भावना है तो अपने अंतरंग में स्थित ज्ञान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके कल्याण प्राप्त कर सकते हो। एक बात प्रसिद्ध है कि शिवभूति नाम के एक मुनि थे। उनको पहले गुरु महाराज ने यह सिखाया कि "मा तुष मा रुष।" इसका अर्थ यह है कि राग द्वेष मत करो। कुछ समय तक शिवभूति मुनि मा तुष, मा रुष रटते रहे। वे और सब शब्द तो भूल गए पर तुष माष शब्द ही केवल याद रह गया। तुष माष काष में मूर्धन्य ष है। मा तुष, मा रुष, तुष माष रटते रहे, पर उन्हें ज्ञान नहीं हो पाया। एक दिन चले जा रहे थे। मार्गमें एक महिला मिली। वह महिला उरद की दाल धो रही थी। तो उरद की दाल तो जानते होंगे जो महीन पीसी जाती है, उस दाल में मसाले डाले जाते हैं। उस दाल की पिट्ठी करते हैं। तो पिट्ठी बनाने के लिए जो वह उरद धो रही थी वह सफेद-सफेद रह गए थे। जब शिवभूति महाराज ने उस सफेद-सफेद दालको अलग व उरदके छिलकों को अलग देखा तो ज्ञान हो गया। उन्होंने देखा कि ये छिलके तो सब प्रकट में अलग-अलग हैं, पर जब दाल में भी लगे थे

तब भी वे अलग ही थे। इसी तरह यह देह तो छिलके के मानिन्द है और आत्मा दाल के मानिन्द है। देह में रहता हुआ भी यह आत्मा देह से अलग है। शरीर व रागद्वेषों के बीच में फंसा हुआ यह आत्मा है, फिर भी आत्मा तो दाल के माफिक स्वच्छ है और यह सब उपाधि उरद का छिलका है। इन समस्त झंझटों के बीच में यह आत्मा फंसा होनेपर भी उन सबसे न्यारा है। ऐसा जिन्होंने न्यारा अपने आपको नहीं समझ पाया है उनकी बड़ी कुगति होती है। मैं आत्मा कैसा हूं और क्या हूं ? इसका पता जिन्हें रहता है उन जीवों के विषयकषाय समाप्त हो जाते हैं। इस जगत में जो अपने आत्मतत्त्व को भूल गये हैं उनकी दुःख की यह कहानी है। सो यदि कोई ज्ञान के साहित्यिक मार्ग में नहीं पड़ा और यदि अपने आत्मतत्त्व को समझ गया है, अपने आपको समझ गया है, तो उसे जीवन में क्लेश नहीं होंगे। उसके जीवन में दुःख की कहानी नहीं बनेगी, सदैव प्रसन्नता और आनंद रहेंगे। किन्तु इसमें सत्य का पूर्ण आग्रह करना पड़ता है। हे भाई, ऐसा आग्रह करने के लिए निष्पक्ष भाव की जरूरत है। अंतर में शुद्ध आत्मकल्याण की भावना हो तो उसे आत्मा के दर्शन अपने आप हो जाते हैं। मुझे करना क्या है ? मैं स्वतः [illegible] परिपूर्ण पदार्थ हूं, स्वरूपतः कृतार्थ हूं। अतः अब यह मैं आत्मा अपने आपके आत्मस्वरूप की दृष्टि करके अपने आपमें रमूं और सत्यस्वरूप बन जाऊं।

यह इस जगतकी बात नहीं कह रहे हैं जो मुझसे न्यारा अपनी सत्ता लिए हुए है, किन्तु अन्तर्जगतमें अपने आपमें उठने वाले जो कल्लोल हैं, रागद्वेष आदि जो परिणाम हैं उनको कह रहे है कि यह जो जगत है, यह जो मेरी दुनिया है यह हर्षादिक वासना से उत्पन्न होता है, यह अन्तर्जगत राग है, यह विषयकषाय स्वरूप है। मोही लोग कहते हैं ना किसी का इष्ट गुजर जाय तो कि मेरी दुनिया मिट गयी। देखो केवल पुरुष के बारे में, व्यक्ति के बारे में कल्पनाएं बनाकर दुःखी होते हैं। और कहते कि मेरी दुनिया मिट गई। बाहर में इसका कुछ है हीं नहीं, मिटेगा क्या ? हां जैसी कल्पनायें करता था पहिले, अब वे नहीं हो पातीं, यही उसकी दुनिया का मिटना कहलाता है। जो पहले कल्पनायें थीं वह तो अब नहीं रहीं। अब तो केवल उस इष्ट को ही अपना सर्वस्व मानकर दुःखी हो रहा है। इससे वह अपने इष्ट के मिट जाने से ही यह समझता है कि दुनिया मिट गयी। क्या मिट गया ? कोई किसी के शरीर से प्रेम करता है क्या ? अरे उस मर जाने वाले का घर में कुछ रक्खा रहेगा क्या ? चाहे वह खूब कमाता था,

अच्छी तरह से परिवार का पालन करता था। खूब धन दौलत एकत्रित कर ली थी, पर हे भाई वह इष्ट यदि मर गया है तो उसके शरीर से भी कोई प्रेम नहीं करता। अरे देखो यदि कोई मर जाता है तो मुर्दा को उठाने के लिए कभी कोई पंच लोग जाते हैं तो घर के बच्ची, स्त्री इत्यादि सब रोते हैं। रोते हुए कहते हैं कि अरे इस मेरे को कहां लिये जा रहे हो ? यदि वे लोग कह दें कि अच्छा नहीं लिये जाते तो फिर वे घर के ही सब हाथ जोड़कर कहेंगे कि कृपा कर अब ले जाइयेगा। देखो, न तो किसीका देह से प्रेम है और न आत्मा से प्रेम है। और फिर ये रोना-धोना क्या हैं ? इससे क्या लाभ ? इस मिट जाने वाले शरीर से कौन प्रेम करता हैं ? तुझे इस शरीरसे प्रेम करने से कोई लाभ नहीं ? तुझे तो आत्मा से प्रेम करना चाहिए। सो आत्मा से भी प्रेम कौन करता है ? यह आत्मा तो चैतन्यस्वरूप पदार्थ है, सबसे निराला है। जैसा यह है तैसा ही जगत के अन्य चेतन पदार्थ हैं। उस चेतन से भी कौन प्रेम करता है ? इस जीव की दुनिया तो अपना-अपना अन्तर्विकल्प है। हे आत्मन् ! यह दुनिया कहीं बाहर नहीं है, अपनी कल्पनाओं से ही यह बात उठती है कि दुनिया कहीं अन्य है। कल्पनाओंके उठने से ही पहिले उठने वाली कल्पनावों के न होनेपर कहते हैं कि हाय दुनिया लुट गई।

एक मनुष्य लखपति है, उसको यदि एक हजारका नुक्सान उठाना पड़ गया तो उसकी शक्ल-सूरत देखो तो वह उदास, दुःखी, लुटा हुआ नजर आयगा। और जिस मनुष्य की गांठ में केवल एक हजार ही रुपये हैं, अधिक नहीं हैं और अगर एक हजार का लाभ हो जावे तो वह प्रसन्न होता है। वह तो प्रसन्न-चित्त रहता है, खुशियां मनाता हुआ रहता है। देखो उससे लगभग ४९ गुना अधिक धन हैं फिर भी वह अधिक दुःखी, व्याकुल, परेशान हो जाता है और जिसके पास बिल्कुल थोड़ा साधन है वह हंसता हुआ, खुशियां मनाता हुआ रहता है। तो भाई कल्पनाएं जहां जैसी जगीं वहां उसकी वही दुनिया है। अरे भाई व्यर्थ की कल्पनाएं न करो। देखो २४ घंटे व्यर्थ की कल्पनाओं में ही पड़े रहते हो और दुखी हुआ करते हो ? भाई इन २४ घंटोंमें २ मिनट का समय तो परमार्थ में दो। यदि २ मिनट का ही समय परमार्थ में दे दो तो जीवन सफल हो जायगा। २४ घंटे आर्तध्यान में ही लगा रहे तो उसका क्या जीवन है ? इस स्थिति में रहो कि २४ घंटे में कुछ मिनट तो अपने आत्मचिंतन में लगा सको। सत्य और असत्य का निर्णय करलो और अपने को सत्य में सुरक्षित कर लो। वह सत्य है। शुद्ध चैतन्य-मात्र एक वस्तु अपने को सबसे निराला समझो और यह समझो कि मेरा किसी से कोई

भी सम्बंध नहीं है । सचमुच मैं कुछ नहीं हूं, केवल चैतन्यस्वरूप, ज्ञानमात्र, ज्ञानानंदघन एक वस्तु हूं, ऐसा अपने आपको निरखो तो जीवन सफल हो जायगा ।

अरे भाई जिन पदार्थों से राग कर रहे हो, मोह बना रहे हो वे कुछ नहीं हैं। जैसे तुम स्वतंत्र हो वैसे ही वे सब हैं । अपने आपमें २ मिनट तक ऐसा अपने आत्मस्वरूप का चिंतन करो कि बाह्य वस्तुओं का ध्यान न रक्खो । केवल अपने आत्मस्वरूप को ही अपने सामने रक्खो तो जितने भी विकल्प हैं, दुःख हैं समाप्त हो जावेंगे । जैसे पहले बताया था कि प्रत्येक चीज में ३ बातें हुआ करती हैं—(१) शब्द, (२) अर्थ, (३) ज्ञान । इसी तरह पुत्र ३ होते हैं—(१) शब्दपुत्र (२) अर्थपुत्र (३) ज्ञानपुत्र । बताओ कौनसा पुत्र अपना तुमने इन तीनोंमें माना है ? तुम्हारा शब्दपुत्र है क्या, नहीं। अरे पुत्र केवल शब्दों में लिखा हुआ है वह पुत्र नहीं है । तो तुम्हारा अर्थपुत्र है क्या ? जो दो हाथ और दो पैर वाला है । अरे यह पुत्र तो अपने खुद के कषाय में रहने वाला है, स्वार्थी है । इसलिए यह पुत्र भी तुम्हारा नहीं है, न हो सकता है तो उस पुत्र के बारे में जो ज्ञान बनता है वह ज्ञानपुत्र ही तुम्हारा पुत्र है । यह ज्ञानपुत्र जिस वक्त हैं उस वक्त ही तुम्हारा है अन्यथा वह भी नहीं है, क्यों कि वह तो नश्वर है, मिट जाने वाला है । और परमार्थ से देखो तो जब ज्ञानपुत्र है तब भी वह तुम्हारा नहीं है । तुम तो ध्रुव हो, ज्ञानपुत्र अध्रुव है । आकुलताएं क्यों उत्पन्न हो जाती हैं ? ये रागद्वेष आदि भाव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ? केवल कल्पना से । उनके मिटने का उपाय ज्ञानोपयोग है । भैया ! देखो जब मंदिर में पूजन के लिए, स्वाध्यायके लिए, धर्म के लिए, सत्संग के लिए जाते हैं तो वहां पर इसलिये तो जाते हैं कि रागद्वेष का उपयोग बदले, ज्ञानका उपयोग हो । यदि रागद्वेषादिकी बातें करते हैं वहां तो उन बातों से आकुलताएं उत्पन्न ही होंगी और वह आगे किस जगह आकुलता दूर करने का उपाय बनायगा ? मंदिर में पूजन करने जाते हैं तो सत्संग से, धर्म पालन से, धर्म व्यवहार से उनके रागद्वेषादिक विकारों में अंतर तो कुछ पड़ जाता है । इन रागद्वेषों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए ही व्यवहारधर्मका पालन किया जाता है । मंदिर में पूजन करने जाना है — इस भावना से ही प्रायः अहंकार की भावना समाप्त हो जाती है । देखो जिसको जिस कामसे प्रेम है उसको उस कामसे मतलब है, कामके करने वाले से मतलब नही है । व्यवहारधर्म की परम्परा चलती है उससे ही विवेकी को समाजमें मतलब है कार्यकर्तावों के पक्ष से मतलब नहीं । देखो भगवान के दर्शन पूजन करने के लिए मंदिर आने के

वास्ते स्नान करते हैं तभी से धर्मपालन हो रहा है। मंदिर में आने के लिये भक्त नंगे पैर मार्गपर चलता है जमीन निरख-निरख कर। प्रभुभक्ति करने से ईर्ष्या, द्वेष, मोह तथा अहंकार इत्यादि की भावनाएं समाप्त होती हैं। लोग ऐसा समझते हैं कि धर्मका पालन करने से हम और हमारी संतान धर्ममें रहकर अपना कल्याण कर सकेंगे। यही सोचकर वे धर्म का पालन करते हैं, धर्म में रहते हैं। यह तो व्यवहार-परम्परा की बात ठीक है किन्तु उसमें भी परमार्थ कार्य बने तो वह भी व्यवहार धर्म है।

वास्तव में भक्तका यह प्रयोजन है कि वह रागद्वेष से बच जावे और आत्माका अहित करने वाले जो विषयकषाय हैं उनको दूर कर देवे। बस पूजा आदिका यही प्रयोजन है। भक्ति में जो आनन्द समाया हुआ होता है, उसका अनर्थ करने वाले ये विषयकषाय ही होते हैं। उन विषयकषायों से दूर होने के लिए हमें धर्मव्यवहार करना है। देखो जो मनुष्य भगवान के दर्शन करने के लिए मंदिर आते हैं वे मंदिर आने की तैयारी में घरपर ही धर्म का पालन करते हैं। क्योंकि स्नान करते हैं और स्नान करने के बाद यह भावना बनती है कि हम भगवान के दर्शन करेंगे, धर्म का काम करेंगे। यह प्रयोजन जो मन में बसा होता है तो यही धर्म का पालन वहां है।

मंदिर के अन्दर गए तो क्या बातें करते हैं कि आज तुम्हारे घर में क्या खाना बना था, क्या आज हो रहा है, शामको क्या खाना बनेगा, मुकदमेका क्या हुआ इत्यादि अनेक प्रकार की व्यर्थकी बातें एक दूसरे से करते हैं। देखो भाई हम लोग कितने विरुद्ध बन गए ? कहां तो हम वीतराग भगवानके दर्शन करने, अपने संकल्प विकल्प दूर करने और अपनें को स्वच्छन्द करने के लिए मंदिर गए थे और कहां रागद्वेष की बातें करने लगे। अरे प्रभुपर अगर न्यौछावर हो जाओगे तो दर्शन मिलेगा और यदि रागद्वेषों में ही पड़े रहे तो प्रभु का दर्शन नहीं हो पायेगा। रागद्वेषों में पड़े रहना ही विकल्प है। यह स्थिति औपाधिक है, विनश्वर है। मेरी जो चीज है, मेरा जो परिणमन है वह मेरे स्वरूप के अनुकूल ही होता है।

मेरी चीज मुझे ही दुखित कर दे, यह तो बड़े गजब की बात है। फिर मेरी चीज कहां रहेगी ? मेरी चीज मुझे ही दुखित कर दे तो मेरी कैसे ? ये रागद्वेष, मान, माया, मोह, विषयकषाय ही मुझे दुखित करते हैं, तो ये सब मेरे नहीं हैं। मेरा तो केवल मैं हूं। मेरा वह नहीं है जो मुझे दु:खी करे तो मेरा वह स्वभाव। मैं तो केवल स्वभावरूप हूं और बाकी सब मैं नहीं हूं। जो मैं हूं वह अनादि हूं, अनन्त हूं, अचल हूं,

अपने आपके ही द्वारा अनुभव में आने योग्य हूं। ऐसा मैं स्वभावमात्र तत्त्व हूं, मैं यही स्वरूप सर्वस्व लिए रहता हूं, इसके आगे मेरा कुछ नहीं है। इस आत्मस्वरूप के दर्शन करने से सब संकल्प-विकल्प क्षीण हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। हम प्रभु के दर्शन करते हैं कि वहां से हमको दर्शनमात्र से यह संदेश मिलता है कि हे प्रभो ! आप चक्र-वर्ती थे, आपके पास बहुत बड़ा साम्राज्य था। आपके ज्ञान हुआ, आपने वैभव विभूति को नहीं चाहा। उसको आपने असार समझा। उस वैभव विभूति में आप नहीं फंसे, अलग ही रहे और अपने आपको ही अपने उपयोग में लगाया। आज आप जगत में पूज्य बन गए। हे प्रभो ! मैं आत्मा भी आपके ही सदृश हूं। जैसे आप हैं वैसा ही मैं हूं। इस जगत के जीव का असली स्वरूप ही ऐसा है। हे आत्मन् ! तू भगवान समान अपनेको निरख। तू अपने को यह समझ कि मैं भगवान सदृश हूं। इस औपाधिक विनश्वर अन्तर जगत् को त्याग करके अपने निर्वाणस्वरूप आत्मस्वभाव को निरखूं तो मेरा कल्याण है और बाह्य बातों में फंसने से मेरा कल्याण नहीं है।

आचार्यों का उपदेश है कि संसार का त्याग करो, संसार को छोड़ दो। संसार को छोड़ना कहलाता क्या है और संसार कहलाता क्या है ? क्या संसार इस दुनिया की जगह का नाम है ? क्या इस लोक का नाम संसार है ? अगर इस दुनिया की जगह का नाम संसार है और इस लोकका नाम संसार है तो इसको छोड़कर कहां जाओगे ? क्या कोई अलोक में पहूंच जाओगे ? जगत का नाम संसार नहीं हैं, किन्तु रागद्वेष की जो वासना बने, बस उसी का नाम संसार है। संसार का त्याग कर दें, इसका अर्थ यह है कि रागद्वेष की वासनाओं का त्याग कर दो। प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न हैं, अपने स्वरूप में हैं, अपने आपमें परिणमते हैं। एक का दूसरे से सम्बंध कुछ है ही नहीं। फिर किसी भी परवस्तु में राग, द्वेष, विकल्प करना क्या यह अज्ञानता नहीं है ? ज्ञान और अज्ञान का तो यह प्रमाण है कि जहांपर मूढ़ता है वहां पर ज्ञान अज्ञानता दीखती है और जहां पर मूढ़ता नहीं है वहां पर प्रसन्न हुआ दीखता है। जहां पर मूढ़ता नहीं वहां पर सम्य-क्त्व हो जाता है और जहां पर मूढ़ता है वहां पर मिथ्यात्व है। तो यह मिथ्यात्व ही संसार है। जब तक यह संसार है तब तक जीव को क्लेश हैं। यदि संसार का त्याग करो अर्थात् इन रागद्वेष विकारादि वासनाओं का त्याग करो तो सारे क्लेश समाप्त हो सकते हैं। रागद्वेष की वासनाओं का नाम ही संसार है। कोई यहां कहे कि रागद्वेष की वासनाओं कों तो संसार कहा, रागद्वेष को ही संसार क्यों न कह दिया ? उत्तर इसका

यह है कि द्रव्य में प्रति समय एक-एक परिणमन पर्याय हो रहे हैं तो जीव में भी प्रति-समय एक-एक पर्याय होते-होते चले जाते हैं। एक समय में दो समय के पर्याय नहीं होते। दो समय में एक पर्याय नहीं। तब राग के पर्याय भी प्रतिसमय एक-एक चलता जा रहा है। यह सूक्ष्मदृष्टि का जिक्र किया जा रहा है तो एक समय का राग, पर्याय अनुभव में नहीं आता है, और एक समय के राग पर्याय से ही जीव क्या राग महसूस कर लेगा ? अपने आप ऐसा नहीं होता है, किन्तु बहुत समय की राग पर्यायों को उप-योग ग्रहण करता है। इस कारण सूक्ष्मदृष्टि से राग के संतान का अनुभव होता है। और दूसरी बात यह है कि रागद्वेष में जो आसक्ति हो जाती है उसको संसार कहा गया है। इसी कारण सम्यग्ज्ञान होनेपर कदाचित् रागद्वेष रहता भी है तो भी उनकी गिनती नही की गई। वे मिट जावेंगे। इसलिए वासना को संसार कहते हैं। इस वासना का विनाश होने पर ही संसार का त्याग कहते हैं। संसार के प्रत्येक जीव ज्ञायकस्वरूप हैं, परमात्मस्वरूप हैं। उनका कोई भी जीव न तो मित्र है और न शत्रु है। वह जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अपने ज्ञान में परिणमते रहते हैं। उपाधि की विशेषता के अनुसार उनमें विकार भी होते रहते हैं। उनमें विकार उनकी ही परिणति से होते हैं, किसी अन्य की परिणति से नहीं होते हैं। ऐसा स्वयं विज्ञानघन जगत के सब जीव है। उनको कैसे माना जाय कि वे शत्रु हैं ? कोई भी मेरा शत्रु नहीं है। कोई ज्यादा बिगड़ता है तो जो कुछ उसे विकार बनाना होगा वह बनावेगा, वह अपने आपको ही बनावेगा, मेरा वह कुछ नहीं बनावेगा। तब फिर मेरा दुश्मन कौन ? ज्ञानदृष्टि से देखो तो इस जगत में मेरा शत्रु कोई नहीं है। जिस आत्मा का मन ऐसा रहता है कि यह मेरा दुश्मन है तो वह विकल्प उसका दुश्मन बना रहता है, उसका शत्रु बना रहता है। पर परमार्थ से देखो तो इस जगत में कोई किसी का शत्रु नहीं। जो दूसरों को शत्रु समझता है, वह विकार कर रहा है वह विकार अपनेमें करता है, अपने लिए करता है और अपने द्वारा करता है। मेरा प्रभु तो मैं हूं, मेरे से बाहर कुछ नहीं है तो फिर मेरा दुश्मन कोई कैसे है ? इसी प्रकार जिसको मित्र मान रहे हो, परिवार को इष्ट मान रहे हो वह भी तुम्हारे नहीं हैं। तुम्हारा स्वरूप ही तुम्हारा सब कुछ हो सकता है। अपना स्वयं मैं हूं, अपने स्वरूप में बर्तता हूं। उपाधि की विशेषता के अनुसार विकार भी करता हूं, मोह-भाव भी करता हूं, स्नेह राग भी करता हूं। मैं अपने आपमें करता हूं, अपने आपके लिए करता हूं और अपने द्वारा करता हूं।

एक गांव खुरई सागरके पास है। श्रीमंत सेठ वहां पर एक बहुत बड़े आदमी थे। उनके जो लड़के हैं वे भी सेठ हैं। वह सेठ बड़े गर्म (तेज) दिमाग के थे। उनकी स्त्री गुजर गयी थी। उनकी दूसरी शादी भी हो गयी थी। जब सेठानी शादी के बाद सेठ के घर आयी तो सेठानी की सखियों ने, मित्राणियों ने समझाया कि देखो सेठ बहुत गर्म दिमाग के हैं, अगर कहीं सेठ जी बिगड़ जाते हैं तो मुश्किल पड़ जाती है। सेठानी भी चतुर थी। उसने सेठ के बारे में तो सुन ही लिया। एक दिन सेठ के सिर में दर्द था। स्त्री को खबर भिजवाई कि तुरन्त दवा लावो। सेठानी के मन में ऐसा विचार आया कि अगर कहीं मैं अभी से दब गयी तो जिन्दगी भर दबना पड़ेगा। इसलिए आज सेठ को कोई कला दिखाऊं तब तो छूट पाऊंगी। बस सेठानी ने सिर में दर्द बना लिया। बोली अरे मेरा सिर दर्द कर रहा है। मैं क्या करुं ? सेठजी की नई नई शादी हुई थी, उनको अपनी स्त्री की खातिर तो करनी ही थी। इसलिए वह अपने सिर के दर्द को भूल गए और अत्यन्त विह्वल हो गए। अब सेठ जी अपनी बात तो भूल गये और मोह में सेठानी की सेवा करने लगे। मान लिया कि सेठानी के सिर में दर्द भी हुआ तो क्या सेठ की वेदना ने उसकी वेदना को बनाया ? नही। उसने तो केवल सेठ के प्रति राग कर लिया था। उस राग ने ही सेठानी की वेदना को बनाया।

कोई जीव कहते हैं कि हम तुमसे राग करते हैं, हमारा तुमसे बड़ा राग है। ऐसा करने से वह राग करे तो क्या हमारे राग से राग कर रहा है ? नहीं। वह स्वयं ही कल्पनाएं बनाकर एक नया राग और खड़ा कर देता है। किसी जीवकी परिणति से किसी जीवको कुछ हो जाय सो तो नहीं हो सकता है। कितने ही आदमी ऐसे रागी होते हैं कि वे दूसरोंके प्रति रागी हैं। तो क्या एक का दूसरेमें राग पहुंच गया ? नहीं। एक का दूसरे से सम्बंध ही क्या ? तो जब प्रत्येक जीव जुदे-जुदे हैं, किसी से किसी का सम्बंध नहीं है तो ऐसे स्थिति में अन्य पदार्थों का, अन्य जीवों का उपयोग बनाकर और राग बनाकर रहना, इसको तो मूढ़ता ही कहेंगे। मोही और मूढ़ कहा जाय- दोनों का शाब्दिक अर्थ एक है। अगर मूढ़ कहें तो संसार के लोग कुछ बुरा मान जावेंगे और यदि मोही कहें तो लोग शायद बुरा न मानें। बात तो एक ही है। और है भी क्या ? समझ का फेर। तो बस इतना ही तो जाल है। यदि इससे जुदा हैं अर्थात् अन्य जीवों में अपना उपयोग न फंसावें, बाह्य वस्तुओं का ख्याल न करें, रागद्वेष न बनावें तो जाल नहीं है। वह मूढ़ और मोही नहीं कहा जावेगा।

अरे यह कितना जाल है ? बहुत छोटासा जाल है । केवल समझना भर है । मैं हूं और अपने स्वरूप में हूं—ऐसा न देखकर यह इसका कुछ है, यह इसका कुछ कर देता है, इस प्रकार की जो समझ बन गयी है, बस वह समझ ही जगजाल है । इससे बढ़कर और कुछ नहीं है । जब गृहस्थी का दंद-फंद सिरपर आ जाता है, लड़का बीमार है, अमुक बीमारी है, यह करना है, अभी दूकान जाना है । यों करना है मुकदमा कई हैं । इस प्रकार से कहते हैं कि बड़े जगजाल में फंसे हुए हैं । अरे बाहर कोई जाल नहीं है । न जाल दूकान में है, न लड़कों बच्चों वगैरा में है, न आत्मतत्त्व में है, न शरीर में है, केवल अपने आपके आत्मस्वरूप को शुद्ध सबसे निराला उपयोग में नहीं देखता है और बाहर में ही मुख कर लिया है तो यही तेरा जगजाल बन गया है । अरे तू अपनी बाह्य दृष्टि को हटा दे, अपनी रागद्वेष की भावना को मिटा दे तो यह तेरा जगजाल मिट जायगा ।

देखो कितने जगजाल हैं और इतने पौरुष से ही वे मिट जाते हैं ? कितना कठिन लग रहा है ? उन सब कठिनाइयोंका कारण रागद्वेष की वासना है । यह वासना अगर मिट जाय तो क्लेश मिट जाएं और अगर यह वासना नहीं मिटती है तो क्लेश नहीं मिटेंगे । यह कर्मबंध वासना से ही होता है । जिन कषायों का उदय है उन कषायों से होने वाली कर्मप्रकृतियोंमें ज्यादा अनुभाग पड़ जायगा, पर बंध सबमें पड़ जायगा । जिन-जिन विकारों की वासना है ।

हे आत्मन् ! क्रोध क्यों कर रहे हो ? मान, माया, लोभ, क्रोध इत्यादि विकारों की वासनाएं क्यों बना रहे हो । यदि तू इन वासनाओं से दूर है तो क्लेश दूर हैं और यदि इन वासनाओं को अपने में बनाए हुए है तो आजीवन क्लेश रहेंगे । इसलिए इन वासनाओं को मिटाने का उपाय करना चाहिए । गृहस्थी के चरित्र को आचार्य गुणभद्र स्वामी ने बताया है कि वह तो हाथी का स्नान है । हाथी ने स्नान किया और बाहर गया कि धूल को सूंड में भरकर अपने ऊपर डाल ली । इस तरह से वह फिर गंदा हो गया । गृहस्थी भी सीमा बनाकर त्याग करते हैं । दस लक्षण के दिन आ गए तो कहते हैं कि अब हम काम नहीं करेंगे, दूकान में नहीं बैठेंगे, धर्म के काम ज्यादा करेंगे, अब हम पाक बनेंगे, पर यह वासना बनी हुई है कि दस लक्षण के दिन निकलने तो दो, फिर जल्दी से जाकर दूकान में बैठेंगे, यह करेंगे, वह करेंगे । इस प्रकार की वासना मन में भर लेते हैं ।

अरे यह तो वास्तविक त्याग नहीं हुआ। सीमा बना करके त्याग करना ठीक नहीं होता है। सप्तमी को नियम कर लिया, नौमी तक उपवास रहेगा, पर यह वासना बनी हुई है कि नौमी के ८ बजने तो दो। जल्दी से खाना बनावेंगे, खाना खा लेंगे। यह कर लेंगे, वह कर लेंगे, ऐसी वासना बनी होती है। साधुवों के चरित्र में देखो तो ऐसी वासना नहीं बनी होती है। उनको यह पता ही नहीं रहता है कि भोजन करने जायेंगे कि क्या करेंगे ? उनको यदि तीव्र भूख लगेगी ती उठेंगे नहीं तो नहीं उठेंगे। इसी तरह अनंतचौदस का व्रत है, वहां भी गृहस्थी लोग यह वासना बनाए रहते हैं कि अनन्त चौदस के बाद पूनम के ७ बजने तो दो। यह भोजन करेंगे, वह रसपान करेंगे। पर यह ख्याल साधुवोंके नहीं होता है। वह साधु तो बच्चों की तरह ही हैं। यदि तीव्र भूख लगी तो खड़े हो जावेंगे, नहीं तो नहीं खड़े होंगे, पर उसकी वासना रंच भी न रखेंगे। गृहस्थ ऐसा नहीं कर पाता है। यही तो गृहस्थ और साधु में फर्क पड़ गया है। साधु के वासना नहीं होती है और गृहस्थ वासना बनाए रहता है। इसका क्या कारण है ? गृहस्थ के आरम्भ व परिग्रह का सम्बंध है। तो इस वासना का विनाश कैसे होगा ? अपने सहजस्वरूपकी दृष्टि से कि यह मैं आत्मा सहज ज्ञानस्वरूप हूं, जाननहार हूं, यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मेरा धर्म है, जानन यह अमूर्त है अनन्तानन्त भाव को लिए हुए है, ऐसे ज्ञानानंदघन भावमय यह मैं आत्मा हूं। इसमें किसी दूसरे से सम्बंध नहीं है। इसके स्वभाव में विकार नहीं है। रागद्वेष की वासनाएं बनाना, इसका काम ही नहीं है। रागद्वेष की तरंग में यह गड़बड़ बात उठ जाती है। कैसे उठ जाती है ? उपाधियों का निमित्त पाकर हो जाती है।

सिनेमाका पर्दा स्वयं चित्रित नहीं होता है। तो कैसे चित्रित हो जाता है ? यह देखो सामने फिल्म आ गयी। फिल्म उपस्थित हुआ और फिर वह चला गया। तो पर्दा अपने आपमें उठकर चित्रित नहीं हो गया। पर्दे का मात्र स्वतः चित्रित हो जाने का काम ही नहीं है। चित्रित तो फिल्म के निमित्त से हो गया है। इसी प्रकार यह आत्मा स्वयं रागद्वेष नहीं बनाता। आत्मा का स्वभाव ही रागद्वेष बनाना नहीं है। कर्म उपाधि का निमित्त पाकर यह चित्रण होता है। इन रागद्वेषों का जो संस्कार बनता है वह वासनाओं के कारण ही बनता है और इन वासनाओं के कारण ही क्लेश होते हैं। ये सब क्लेश इस आत्मदृष्टि के द्वारा ही नष्ट हो जाते हैं। मैं एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं,

ऐसा एकरस हूं, सबसे निराला हूं, ज्ञानमय हूं, शुद्ध हूं, जुदा हूं, दर्शन ज्ञान हूं, सम्यक्त्व हूं, मूर्त पिंडरूप नहीं हूं। इसके अतिरिक्त और कुछ मैं नहीं हूं। परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है। ऐसा उपयोग बनाने से ही इन रागादिक वासनाओं का विनाश होता है। और जब वासनाओं का विनाश होता है तो क्लेश मिट जाते हैं।

जब कोई राग होता है तो देखने में आता है कि जल्दी-जल्दी प्रवृत्ति होती है और जब उसकी वासना होती है तो जल्दी भोगने की प्रवृत्ति होती है। जब वासना नहीं होती है तो बाह्यदृष्टि भी समाप्त हो जाती है। जिसके फोड़ा नहीं है वह मलहम पट्टी क्यों लगावे, जिसके बुखार नहीं है वह पसीना क्यों निकाले ? जिसके वासनाएं नहीं हैं वह आकुलताएं व्याकुलताएं क्यों करेगा ? जब वासनाका रोग होता है तो इलाज करना पड़ता है। जिसकी वासनाएं समाप्त हो जाती हैं, फिर इलाज नहीं करना पड़ता है। तो इन वासनाओं का त्याग तो अपने आपकी दृष्टि से ही होगा। मैं हूं, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हूं। पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में मैं नहीं हूं। मैं स्वरूप से शुद्ध हूं, स्वयं परिणमनशील हूं, इस कारण निरन्तर परिणमता रहता हूं। मैं परिणमता ही चला जाता हूं। इसका दूसरों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञान की परिणति है तो अपनी परिणति स्वभाव के कारण अपने ज्ञान की परिणति चलती जा रही है। इसका बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे चौकी, कमण्डल आदि पदार्थों का ज्ञान हुआ, तो इसका चौकी, कमंडल किसी चीज से सम्बन्ध नहीं है। मेरे में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें इस चौकी और कमंडल ने कोई मेरी मदद कर दी है क्या ? अरे यह कोई भी चीज मददगार नहीं है। खुद ज्ञान की परिणति होती रहती है और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। हम लोग तो आवरण लिए हैं, इस कारण ज्ञान की कुछ कमी है और यह आवरण मिट जाय तो ज्ञान सर्व विश्वका उत्पन्न हो जाय। फिर तो सारा विश्व अपने आप जानने में आयगा तो इस सारे विश्व की मेरे जानने में कृपा है क्या ? प्रत्येक पदार्थ है, परिणमनशील है, परिणमते रहते हैं, ऐसा ही यहां हाल हो रहा है। सभी द्रव्यों की ऐसी निगाह रहे तो सम्यग्ज्ञान और शांति प्राप्त होने का यह अच्छा उपाय बनता है और तब संसार के क्लेश दूर करने के लिए हमें अपने आत्म-स्वरूप की आराधना करनी चाहिए और आत्मस्वरूप की आराधना, देव की आराधना, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप करना चाहिए। और देखिये मुफ्त का कूड़ा-कचरा, करकट वैभव अपने घर में आ गया है तो उसका दान किया जाय, त्याग किया

जाय। ये ६ कर्तव्य गृहस्थके बताए गए हैं। देखो भाई कूड़ा-कचरा क्या है ? धन-वैभव ही कूड़ा-कचरा है। उसके प्राप्त करने में आपकी कोई वर्तमान करतूत है क्या ? आपका स्पर्श है क्या ? अरे वे तो भिन्न-भिन्न सत्ता वाले हैं, अगर एक जगह आ गए तो मुफ्त में ही तो हैं।

आत्मा का तो आकार अपने ज्ञानपर्यायमें है। इस वैभवमें तुम्हारा क्या गया ? कुछ गया तो नहीं, इसलिए यह वैभव विभूति मुफ्त ही तो है। इसलिए वह कूड़ा-कचड़ा कहलाया। धन जड़ है, जीव चैतन्यस्वरूप है, मेरा इसमें कुछ नहीं है। यदि यह कूड़ा-कचरा नहीं है तो तीर्थंकरों ने चक्रवर्तियों ने इसे कैसे त्याग दिया ? विभूति का त्याग देना ही स्वभाव की समझ है। इस आत्मा के स्वरूप को देखने में और धर्म के करने के प्रसङ्ग में शुद्धनय की ही बात सामने रखी जाती है और इसमें उलझने की बात सामने नहीं रखी जाती है।

देखो भाई २४ घन्टे हैं। २३ घंटे का समय तो विकल्पों में लग गया, पर एक घंटे का जो समय बचता है उसमें से २-४-१०-१५ मिनट का समय तो आत्मस्वरूप के चिंतन में लगाओ। अपने को सबसे निराला, शुद्ध, ज्ञानमात्र, विकल्प भावों से परे अनुभव करो। यदि इस प्रकार का अपने आपको अनुभव करो तो जीवन में शांति प्राप्त हो सकती है और यदि अपने को लुटेरों खचोरों से मिला हुआ अनुभव करोगे तो शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। अपने को ज्ञानस्वरूप, सबसे निराला एक विलक्षण चैतन्यमय अपने आपको अनुभव करो और २४ घन्टे में २-४ मिनट तो अपने आत्मस्वरूप में दृष्टि दो तो आकुलताएं व्याकुलताएं नष्ट हो जावेंगी। हम मूर्ति की मुद्रा का दर्शन करते हैं तो हमें शिक्षा मिलती है कि मूर्ति की तरह ही शांत अपने आपको निरखूं। अपने आपको उस मूर्ति की तरह शांत निरखे बिना शांति नहीं मिलेगी। इस प्रकार से मानो कि उनकी वीतराग मुद्रा से अपने को शिक्षा मिली है।

जहां पर वासनाएं हैं वहां दुःख हैं, वहां व्यसन हैं। तो भाई ये व्यसन तो ज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो सकते हैं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं, कृतकृत्य हूं, परिपूर्ण हूं ऐसा तुम्हें अपने आप को निरखना है। यही तो इस आत्मा का काम है, इस आत्मा का इसके आगे और कोई काम नहीं है। इसलिए अपने स्वभाव में दृष्टि हो तो वहां वासनाएं समाप्त हो जावेंगी और वासनाओं के समाप्त होने से सारे क्लेश समाप्त हो जावेंगे।

पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्मके माने हैं, पुण्य करना,

दान करना, परोपकार करना, दूसरों का सेवा सत्कार करना। धर्म, अर्थ और काम के मार्ग ही अब तो मिलेंगे, मोक्षमार्ग तो बन्द हो गया है। धर्म के मार्ग तो कितने ही हैं। दान करके, परोपकार करके, गरीबों को खिला पिला करके इत्यादि अनेक प्रकार से धर्म किया जा सकता है। और अर्थ के माने हैं धन कमाना। धन कमाने का पुरुषार्थ करना, इसी को कहते हैं अर्थ पुरुषार्थ। काम पुरुषार्थ के माने हैं घरवासियों का पालन पोषण करना, समाज तथा देश के बारे में कुछ सेवा भाव उत्पन्न करना, विषयभोग सेवना इत्यादि के माने कामपुरुषार्थ है। और मोक्ष पुरुषार्थ तो मोक्ष है ही। यह मोक्ष पुरुषार्थ अन्य तीनों पुरुषार्थों से अच्छा है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ भी गृहस्थावस्था में किसी अपेक्षा कुछ अच्छे हैं, मगर सर्वथा अच्छे नहीं कहेंगे। क्यों अच्छे नहीं कहेंगे ? एक-एक की खबर लो। पहले काम को लो। काम निन्दनीय होता है। काम का अर्थ पालन पोषण और कामवासना दोनों ही हैं। काम ज्ञान का बैरी है। जैसे विषयों में आसक्ति है, प्रीति है तो वहां ज्ञान का काम तो नहीं चलता है। काम का पुरुषार्थ है ज्ञान का दुश्मन। अब अर्थपुरुषार्थ को लो। धन तो अनर्थका मूल है। अर्थात् धन से अनर्थ होता है। इस धन का काम तो केवल अनर्थ है और कोई काम नहीं है। धन के होने पर यदि विवेक है तब तो काम बनेगा और यदि विवेक नहीं है, मोह है तो मोह के होने से स्वभाव ऐसा हो जाता है कि पाप करते हैं, दूसरों को सताते हैं, क्रोध करते हैं, छल, दम्भ, धोखा इत्यादि करते हैं। धर्मपुरुषार्थ, कामपुरुषार्थ में अर्थपुरुषार्थ का कारण है। पुण्य का और काम क्या है ? खूब कमाई आ रही है, खूब संपत्ति भोग की सामग्री मिल रही है तो पुण्य पुरुषार्थ में यह प्रकृति है। कामपुरुषार्थ और धर्मपुरुषार्थ का और क्या काम है ? यहां आत्मधर्म की बात नहीं कह रहे। उसमें यदि रम गए तो इससे अच्छा और क्या काम है ? तब तो फिर सारे काम बन गए। यहां तो पुण्य की बात लेना। इस पुरुषार्थ से क्या काम बना कि धन-सम्पत्ति मिल गई, भोगसामग्री मिल गई यही हुई अर्थपुरुषार्थ की बात। और दूसरे पुरुषार्थों की पोल को तो सुन ही लिया। काम ज्ञान का दुश्मन है, अर्थ अनर्थ का मूल है और दोनों ही दुश्मन को बढ़ावा देने वाले हैं, यह धर्म (पुण्य) पुरुषार्थ इन तीनों पुरुषार्थों का सम्यग्ज्ञानी पुरुष आदर नहीं करते हैं। यदि पुरुषार्थ करना ही है तो ज्ञानका पुरुषार्थ करो। परमपुरुषार्थ का रास्ता ज्ञान है। यदि ज्ञान है तब तो परमपुरुषार्थ हो सकता है। नहीं तो मोक्षपुरुषार्थ नहीं हो सकता है।

यह तो बात हुई उपचरित अन्य दृष्टि की जो धर्म के अर्थ से अनभिज्ञ हैं उनकी तभी तो समयसार बंध अधिकार गाथा २७५ में कहा है कि "वह अभव्य जीव धर्म की श्रद्धा प्रतीदि व रूचि भी करता है और पुनः पुनः स्पर्श भी करता है परन्तु जो धर्म भोग का निमित्त है उसी धर्म की श्रद्धा आदि करता है, कर्मक्षय का निमित्त भूत जो धर्म है उसकी श्रद्धा आदि नहीं करता।"

इसी बात का स्पष्टीकरण पंडित बनारसीजास जी ने साटक समयसार में इस प्रकार किया है—

दोहा—धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषार्थ चतुरंग।
कुधी कल्पना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥१३॥

सवैय्या—कुल कौ आचार ताहि मूरख धरम कहै, पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाव कौ।
खेह को खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहै, ग्यानी कहै अरथ दरब दरसाउ कौ॥
दंपति कौ भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै, सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौ।
इन्द्रलोक थानकौ अजान लोग कहैं मोख, सुधी मोख कहै एक बंध के अभावकौ ॥१४॥

आत्मा में ही चारों पुरुषार्थ हैं—

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै, अरथको साधन विलेछ दर्व षटमैं।
यहै काम साधन जु संग्रहै निरास पद, सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं॥
अंतर की दृष्टि सौं निरन्तर विलोकै बुध, धरम अरथ काम मोख निज घट में।
साधन आराधन की सौंज रहै जाके संग, भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात्व की अलटमैं ॥१५॥

अर्थात् वस्तुस्वभाव का यथार्थ जानना धर्मपुरुषार्थ की सिद्धि करना है, छह द्रव्यों का भिन्न-भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ की साधना है, निःस्पृहता का ग्रहण करना काम-पुरूषार्थ की सिद्धि करना है और आत्मस्वरूप की शुद्धता प्रगट करना मोक्ष-पुरूषार्थ की। ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरूषार्थोंको सम्यग्दृष्टि जीव अपने हृदय में सदा अंतर्दृष्टि से देखते हैं।

अभी देखो शान्ति, संतोष, सुख और आनन्द इत्यादि उसी अवस्था में आते हैं जब कि अपने अंतःकरण में विषयकषायों का अनुभव न हो। यदि विषयों का लगाव है, कषायों का लगाव है, धन वैभव का लगाव है, कुटुम्ब परिवार का लगाव है तो शांति, संतोष, सुख, आनन्द इत्यादि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? जिनका लगाव इन सबमें होगा उन्हें दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा। मनुष्य को संकटों से बचाने वाला केवल ज्ञान ही

है । और इसका कोई शरण नहीं है । घर में स्त्री के, पुत्र के हजार गुण हों, पर समझो कि कोई देवता नहीं हमें मिल गया है । अपने मन में ही केवल विचार बना लेते हैं कि मेरा अच्छा समागम हुआ, हम लोग सुख से हैं । देखो भाई इस तरह से परिवार को देखकर और अपने धन को देखकर सुखी हो रहे हैं । वे अपने ज्ञान को इन बाह्य चीजों में ही फंसाए हुए हैं । बाह्य में ज्ञान का फंसाना ही आस्रव का कारण होता है । सो कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम—ये तीनों पुरुषार्थ वास्तविक पुरुषार्थ नही हैं । मोक्ष का पुरुषार्थ ऐसा है कि जिससे मुक्ति प्राप्त हो जाती है । और यदि अपना उपयोग मोक्ष की प्राप्ति का ही बने सो बात उत्तम है । अरे जो तुझे जो चार-पांच आदमी मिल गए हैं, जिनको तू अपना सर्वस्व समझता है उनसे ही क्या तेरी गुजर हो जायगी ? उस पारिवारिक बन्धनमें पड़ा हुआ यदि तू मौज करता रहा तो क्या तेरा पूरा पड़ जायगा ? बाहरी बात से तेरा पूरा नहीं पड़ेगा, शांति नहीं मिलेगी । बाह्य भोगसाधना में तो यह जीव जहां जाता है अपने हितपथ में आगे नहीं पहुंचता है ।

एक कथानक में कहते हैं कि एक राजा थे । मुनि के दर्शन के लिए गए । राजा ने अपने बारे में मुनि से पूछा कि महाराज मेरा परभव क्या गुजरेगा, अब मैं मरकर क्या बनूंगा ? मुनि ने अवधिज्ञान से सोचा और कहा कि तुम अमुक दिन, अमुक समय में, अमुक स्थानपर तुम मरकर विष्टा के कीड़ा बनोगे । अब राजा अपने घर आया । बड़ा उदास था । अपने लड़के से कह दिया कि बेटा अमुक दिन अमुक टाइमपर, अमुक स्थानपर मरकर विष्टा में कीड़ा बनूंगा, सो तुम हमें एक लकड़ी से मार डालना । मैं तो राजा हूं और कीड़ा-मकौड़ा बनूंगा तो मैं कीड़ा-मकौड़ा बनकर इस जगत में नही रहूंगा । राजा मर गया और कीड़ा बन गया । लड़का एक लकड़ी लेकर पहुंचा । जिस विष्टा में राजा कीड़े के रूप में बैठा हुआ था उसी जगह लकड़ी से लड़के ने मारना चाहा, पर वह विष्टा में घुस गया । देखो भाई वह कीड़ा मरना नहीं चाहता था । इस जगत में यह जीव जिस गति में जन्म ले लेता है वह अन्य गति में नहीं जाना चाहता है । देखो नाम प्रकृति में गतियां चार मानी गयी हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव । इसमें दो गति, नरक व तिर्यञ्च पाप हैं और मनुष्य व देव ये दो गति पुण्य हैं तथा आयु की चार प्रकृति हैं—नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु व देवायु । जिसमें आयु की तीन गतियां हैं—तिर्यञ्च, मनुष्य और देव तो पुण्य प्रकृतियां कही हैं, केवल नरकायु पाप है । यह फर्क इनमें कैसे आया ? कोई भी तिर्यञ्च या मनुष्य या देव जीव यह नहीं

चाहता कि मैं मर जाऊं । केवल नारकी ही चाहते हैं कि मैं झट मर जाऊं । तिर्यञ्च नहीं चाहता कि मैं मर जाऊं । तिर्यञ्च की तो आयु प्रिय हो गयी । तिर्यञ्च की जो अवस्था गुजर रही है उसे वह नहीं चाहता और मरना भी नहीं चाहता । यह जहां जाता है वहीं मस्त हो जाता है । जिनसे ये मोह कर लेते उनसे पूरा पड़ जावेगा, ऐसा तो है नहीं ।

हे आत्मन् ! विवेक ही पूजा है । जिनकी हम भगवान समझकर पूजा करते हैं, सदा ध्यान लगाते हैं, भक्ति करते हैं उनके ज्ञान की कुछ तरंग ही नहीं उठती । कितना ही हम माथा रगड़ते हैं पर वह हमारी तरफ देखते भी नहीं । देखो भैया ! बहुत दिन भक्ति करते हो गए, उनका ध्यान लगाते हो गए, उनकी आराधना करते हो गए फिर भी हमारी तरफ ताकते भी नहीं, देखते भी नहीं । और फिर भी हम पूजन भी करते, पाठ भी करते चले जा रहे हैं, फिर भी वह हम पूछते भी नहीं । देखो भाई इतने दिन भगवान का पूजन करते हो गया उन्होंने कभी यह भी नहीं कहा कि चलो यह ले लो । कुछ नहीं मिला । वह हमसे बोलते भी नहीं, बहुत दिन बीत गए, १० वर्ष बीत गए, २० वर्ष बीत गए, युगों बीत गए, हमारे लिए प्रभु ने कुछ नही किया । अरे थोड़ासा हमसे बोल दें तो हमारा दिल तो ठंडा हो जाय । मगर कुछ नहीं किया । फिर भी हम उनको पूजते जा रहे, उनके लिए हम न्यौछावर होते चले जा रहे हैं । कुछ तो बात है भगवान में बड़ी तभी तो हम पूजते हैं । उन भगवान ने जो कुछ किया है वह ठीक ही किया है । सबसे मोह छोड़कर, ममत्व छोड़कर अपने आपमें स्वयं बस गए, अपने आपमें ही अपना ज्ञान किया, वैभव विभूति को कुछ नहीं समझा । तो प्रभु निष्कम्प सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्तानन्दमय हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं ।

हे आत्मन् ! ये बाहर के पदार्थ भोगसाधन क्या हैं बतलाओ ? एक तराजू में सेरभर मेढ़क तोलो तो क्या तौल सकोगे ? अरे वह उछल जावेंगे । कहीं इधरसे उछाल दी तो कहीं उधर से उछाल दी । इसी तरह बाहरी पदार्थों की व्यवस्था बनाकर कोई चाहे कि हम आराम कर लें तो नहीं कर सकते हैं । बाह्यपदार्थों की हालत भी ऐसी ही है कि यह आया वह गया, और वह आया, यह गया । इस तरह बाह्यपदार्थों में अपना उपयोग बनाकर हम आराम से नहीं रह सकते हैं और अपनी व्यवस्था बनाकर हम आराम कर लेंगे, यह सुगमतया हो जाता है । ज्ञानदृष्टि बना लें फिर सुख से रहें, ये धर्म याने पुण्य अर्थ और काम पुरुषार्थ हमारी विपत्ति का कारण बनते हैं ।

हमारी अशांति का कारण बनते हैं। गृहस्थको यह बताया गया है कि धर्मपुरुषार्थ, अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ तीनों के बिना नहीं चलता है अर्थात् बिना धर्म किए धन कमाये काम किए और कौज किए बिना काम नहीं चलती है, सो भाई ये तीनों पुरुषार्थ गृहस्थ को करना पड़ेंगे। परन्तु उनको बताया है कि तीनों में बराबर का यत्न करना चाहिए। धन कमाना, पुरुषार्थ करना, धर्म करना सबमें बराबर दृष्टि रखनी चाहिए। और अगर कोई बराबर नहीं रखता है, केवल धर्म में ही लगा रहता है, केवल धन कमाने में ही लगा रहता है या केवल काम में लगा रहता है तो उस गृहस्थ का गुजारा नहीं चलने का है। अगर केवल धर्म ही धर्म करते हो तो मुनि बन जाओगे तो गुजारा चल जायगा। पर एक गृहस्थ का गुजारा नहीं चलेगा। उसकी गृहस्थी का काम ही नहीं चल सकता है। केवल धर्म को ही खींचकर रह जावें तो गुजारा नहीं चलेगा। साधु का तो केवल धर्मवृत्ति में गुजारा चल जायगा, पर गृहस्थ का गुजारा नहीं चलेगा।

जैसे साधुवोंको खाना मिल गया तो खा लिया और यदि न मिला तो न खाया, इस तरह से उनका गुजारा तो चल जायगा पर त्रिवर्ग बिना एक गृहस्थ का गुजारा नहीं चल पायगा। और यदि कोई गृहस्थी में ही फंसा रहे, धन ही धन कमाने में पड़ा रहे, अपने परिवार का पालन पोषण ही करने में पड़ा रहे तो क्या उसका गुजारा चल जायगा ? नहीं। और कोई ऐसा हो कि काम ही काम में रहे, विषयों में ही मस्त रहे, खाने पीने में ही आसक्त रहे जिनसे मोह है उनकी सेवा खुशामद, पालन-पोषण में ही रहे और धर्म पुरुषार्थ न करे तो भी उसका काम नहीं चलेगा। इसलिए गृहस्थको धर्म-पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ तीनों में ही समान समय देना चाहिए। धर्म के समय में धर्म करें, मौज उड़ाने के समय में मौज उड़ावें और धन कमाने के समय में धन कमावें।

देखो चार पुरुषार्थ बताए गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष पुरुषार्थ तो आजकल चलता ही नहीं। केवल तीन पुरुषार्थ रह गए हैं। और चौथा पुरुषार्थ जो अब चलता है वह आपको बतावें तो शायद सुहा जावेगा। वह पुरुषार्थ भी बढ़िया है। आजकल चौथा पुरुषार्थ चलता है सोना, नींद लेना, मोक्ष की एवजपर अब चलता है नींद लेना (हंसी)। देखो काम चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और शयन। और घंटे हैं चौबीस। प्रत्येक काम से २४ घंटे को भाग दे दिया तो ६ घंटे प्रत्येक काम का हुआ। ६ घंटे का काम है धर्म करना, ६ घंटे धन कमाना, ६ घंटे का काम है पालन-पोषण

करना और मौज उठाना और ६ घंटे का काम है नींद लेना आराम करना। चाहे थोड़ासा अन्तर पड़ जावे, पर इस तरह काम चलेगा और क्रम भी इस प्रकार चलेगा। धर्म सुबह करना, उसके बाद अर्थका काम, धन कमाने का काम, उसके बाद पालन-पोषण करने और मौज उड़ाने का काम, उसके बाद नींद लेने और आराम करने का काम। जैसे धर्म ४ बजे सुबह से १० बजे तक याने ६ घंटे और अर्थ का काम अर्थात् धन कमाने का काम १० बजे से शाम के ४ बजे तक और ४ बजे से १० बजे रात तक पालन-पोषण तथा मौज उड़ाने का काम और १० बजे रात से सुबह ४ बजे तक नींद लेने और आराम करने का काम। भले ही थोड़ा सा परिवर्तन कर लो, मगर ये काम बराबर-बराबर चलें। ४ बजे से १० बजे तक नहीं तो एक धंटा कम ही सही। ९ बजे तक ही सही। इसी टाइम में थोड़ा धर्म पुरुषार्थ भी कर लो, प्रातः उठते ही कायोत्सर्ग-रूप में णमोकार मंत्रका जाप कर लो। उसके बाद हाथ पैर धोकर स्वाध्याय कर लो, फिर सामायिक कर लो, सामायिक करने के बादमें नहा लो धोलो। देखो नहाना-धोना भी धर्ममें ही शामिल है जब कि यह भाव है कि देवदर्शनादि करना है। फिर धर्म करो, सत्संग करो इत्यादि।

अब भी देखो धर्म ही चल रहा है। घर में जो रसोई तैयार करेगा उसमें भी धर्म का ही काम है क्योंकि वह कीड़े मकोड़े को बचाकर खाना तैयार करेगा और फिर वह किसी मुनि अतिथि व्रती को खिलाएगा। ऐसी भावनाएं होने पर धर्म होता है। देखो रसोई का काम घन्टे डेढ़ घण्टे में हो जाता। यदि रसोई में चटोरी चीज वगैरा बनाना है तो तो ज्यादा टाइम लगेगा। अब रसोई तैयार करने में भी देखो धर्म ही चलता है। सोच लो मन से तो सदा धर्म ही धर्म चल सकता है। धर्म का असल में तो २४ घन्टा ही टाइम है, किन्तु मुख्यता की अपेक्षा बात चल रही है। अब देखो ४ बजे सुबह से ९ या १० बजे दिन तक धर्म ही धर्म किया। अब १० बजे शाम तक धन कमाने का समय आ गया। धन को यदि ईमानदारीसे व परसेवा के भावसे कमाओ तो वहां भी धर्म है, सम्यक्त्व में तो २४ घन्टा धर्म ही धर्म है। तो १० बजे से ४बजे तक धन कमाया जाय। फिर ४ बजे से १० बजे रात तक लड़कों, बच्चों का पालन-पोषण करना, मिलना जुलना, सत्संग करना, सभा मिटिंग में जाना, मौज उड़ाना इत्यादि। और फिर १० बजे रात से सुबह ४ बजे तक नींद लेना, आराम करना। इस तरह से बटवारा करना ठीक है। अब क्या बाकी रह गया ? कुछ नहीं। ज्ञानी योगी के तो

तीनों जो पुरुषार्थ हैं धर्म, अर्थ और काम ये आदर के योग्य नहीं होते हैं। धन कमाना और विषय के काम करना तो यह सीधे खराब हैं। अर्थपुरूषार्थ करना भी अनर्थ से मिलता है। पुण्य ही यहां मदद देता है। पुण्य के कारण ही धन कमा लिया जाता है, भोगसेवन साधन होता है। ज्ञान से ही तीनों पुरूषार्थों का उपयोग हो तो गृहस्थावस्था में कुछ ठीक है। नहीं तो यह स्पष्ट बात तो है ही कि ये तीनों पुरूपार्थ संसार की बात हैं। आदर के योग्य तो केवल आत्मधर्म है। कषाय की मंदता को धर्म कहते हैं, किन्तु कदाचित् कषाय मंद होने पर धर्म हो या न हो। किन्तु अपने सहजस्वरूप की दृष्टिरूप धर्म द्वारा कषाय मंद हो जायगी और मोक्षमार्ग भी चलेगा। उस धर्म से सत्य आदर प्राप्त होगा। अरे अपने सहजस्वरूप की दृष्टि ही धर्म है। अपने स्वरूप में दृष्टि अधिक से अधिक लगे तो वही धर्म है। धन की चीज तो यों ही हो जायगी अथवा धन तो यों ही आता है। उसमें कुछ करना नहीं पड़ता है। अभी कोई समय ऐसा सुयोग का बन जावे तो यों ही कमाई हो जावे। अभी-अभी २-४ मिनट में ही बिना किए हुए ही कमाई हो जावेगी। पर हमें तो सोचना होगा, श्रद्धा करनी होगी, आचरण करना होगा, बाकी धन तो यों ही हो जायगा। यदि हम ऐसा ही करें तो यही धर्म का पालन होगा। सो अब हम पर्याय के आदर को त्याग करके अपने सत्यस्वरूप पर दृष्टि दें और अपने आपको ही अवलोक कर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवें।

जगत के सभी जीव सुख चाहते हैं और जितने भी ये यत्न करते हैं सुख पाने के ही यत्न करते हैं। धन कमाना, देशसेवा करना, विषयसाधन बनाना, कषाय करना, भोग भोगना, आत्महत्या कर डालना इत्यादि सारे के सारे यत्न सुख के लिए ये जीव करते हैं। उन यत्नों से सुख मिल ही जाय, ऐसा तो नहीं है। यदि वे योग्य काम हैं तो सुख मिलेगा और यदि अयोग्य काम हैं तो सुख नहीं मिलेगा। परन्तु सभी प्रयत्न सुख के लिए ही होते हैं। सुख होता क्यों नहीं है? देखो जितने कारण जो कुछ हैं उनमें विचार करो तो अंत में एक ही बात मिलेगी, सुख का दुश्मन है दीनता का भाव, दीन परिणाम। दीनता सुख का दुश्मन है। पचेन्द्रिय के विषय में जब इच्छा होती है तब दीनता आती ही रहती है। अपने में विषयों की चाह है तो दीनता होगी। परका भाव आ गया स्त्रीके आधीन हो गए या नए-नए जो साधन हैं उनके आधीन हो गये, ससुराल के आधीन हो गए, यही दीनता है। परिणाम गरीब हो गए। अपने बल का कोई मूल्य वह नहीं करता है। यह दीनता ही तो सुख का दुश्मन है। दसों तरह के भोजन के

परिणाम हो गए। अब यह चीज चाहिए, अब वह चीज चाहिए इत्यादि इच्छा से वे पराधीन होते हैं। कोई मनाकर भी दसों प्रकार के व्यञ्जन परोस रहे हैं। तो खाने वाले के मन में आ जाय कि यह चीज अच्छी है। बस इतने से ही जीव में दीनता आ गयी, उनका गौरव बुझ गया। चाहे ऊपर से न मांगे, मगर आशा के परिणाम आ गए तो दीनता हैं। और इस दीनता की वृद्धि में फिर वह मुख से मांगने लगता है। यह दीनता का परिणाम ही मूल में ऐसा है जो सुख का दुश्मन है। इसी तरह मन, चक्षु, श्रोत्र के वशीभूत हुए तो दीनता छा जायगी और यदि किसी चीज के वशीभूत नहीं हुए तो दीनता नहीं आती है। जगत के किसी पदार्थ की चाह नहीं है तो दीनता कैसे आवेगी ? एक की न देखो, कितनों के सामने ये जगत के जीव दीन बने रहते हैं। स्त्री के दीन, कुटुम्ब के दीन, धन के दीन इत्यादि जिन-जिन बातों में चाह है जिन-जिन वस्तुओं से प्रीति है उन सब पदार्थों के दीन बन रहे हैं। सुख का अभाव किसने किया ? दीनता ने। धनहीन होने को दीन नहीं कहते, किन्तु परवस्तुओं की चाह करे, भीतर में लच जाय उसे दीनता कहते हैं। यह दीनता का परिणाम ही सुख का दुश्मन है।

एक बार एक राजा जंगल से निकला तो वहां एक सन्यासी बैठा था। वह राजा सन्यासी के आगे से निकल गया, पर नमस्कार भी नहीं किया, बोला भी नहीं और वहां से वापिस आया। कुछ थका मांदा था, सो वह साधुके पास अराम करने के लिए बैठ गया। राजा ने विनय भी नहीं की और न कोई शुश्रुषा की बात की। राजा गर्व में भरा हुआ बैठा था। साधु बोला एक श्लोक के द्वारा कि हे राजन—"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वंदुकूलै:, समइवपरितोषो निर्विशेषो विशेष:। स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला, मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान को दरिद्र: ॥

यदि तुम रेशम के वस्त्र पहनकर खुश हो तो हम वृक्षकी छाल और वल्कल पहिनकर खुश हैं। तुम यदि अर्थसे अर्थात् धन से खुश रहा करते हो तो हम आचार्यों के ऊंचे ऊंचे श्लोकों के अर्थ लगाकर खुश रहा करते हैं। तुम यदि बड़े अच्छे-अच्छे पलंग, वाहन, आसनोंमें खुश रहा करते हो तो मैं पारमार्थिक तत्वों के विचार में रहकर खुश रहा करता हूं ! हममें और तुममें अन्तर क्या है ? कुछ नहीं। पर राजन् दरिद्र वह है जिसके हृदय में तृष्णा लगी रहतीं है। उसका मतलब यह था कि मुझ सन्यासीको दरिद्र देखकर राजा गर्व में आ गया है। तो उत्तर दिया कि दरिद्र वह है जिसके अन्दर तृष्णा लगी है। उसे ही दीनता कहते हैं। धनकी कमी से दींन नहीं कहलाता। सुखका

दुश्मन दीनता है जब जीवको क्रोध आता है तब उसके मन में दीनता आती है, घमंड आता है, मोह करता है, मायाचार करता है, दूसरों से सम्मान चाहता है और दीन होता है। सुखका दुश्मन दीनताका परिणाम है सो दीनता आती जाती है और सुख चाहता चला जाता है तो ये दोनों बातें तो नहीं होती हैं कि दीनता भी आवे और सुख भी मिले। ये दोनों बातें तो हो ही नहीं सकती हैं।

यह दीनता होती कैसे है ? मिथ्यात्व के पाप से, भ्रम के पाप से। पाप ५ होते हैं। सुना होगा। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये ५ ही पाप हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि ये तो लोकदृष्टिसे जो दूसरोंको समजमें आते और जो व्यवस्था बन रही है वह बिगड़े ना। पर अंदर में देखो तो ये ५ पाप हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पापों में कौन-सा पाप छूट गया ? हिंसा झूठ, चोरी वगैरा किए जाते हैं तो इन्हीं पांचोंकी वजहसे किए जाते हैं सो उनमें प्रबल है मोह। आप लाख दर्जे चाहते हैं मेरा हित चाहते हैं और मुझे भ्रम हो जाय तो आपकी शक्ल देखकर पाप लग रहे हैं मुझे भ्रम हो गया तो मैं मरा जाता हूं, जला जाता हूं। भ्रम तो पाप हैं। भ्रम कैसा, धोखा कैसा ? धोखा एक पापका बाप है। किसीने किसी को धोखा दिया तो धोखा देने वाले को टोटा है कि जिसे धोखा दिया उसे टोटा हैं ? टोटा तो उसे है जिसने धोखा दिया। जिसको धोखा दिया गया है वह यदि ज्ञानमें है तो टोटा नहीं है और यदि ज्ञान में नहीं है तो टोटा है। जिसने धोखा दिया उसका ऐसा रुद्र परिणाम है कि वह कठोर बन गया। उसको तो विशिष्ट पाप हैं, उसका कैसे छुटकारा होगा, वह कैसे पार होगा ? जिसने धोखा दिया उसे पाप है। जिसको धोखा दिया उसकी आत्मा को कितने क्लेश होते हैं, इसका तो वही अनुभव कर सकता है जिसे क्लेश होते हैं। जिसको धोखा दिया है उसके मन में ऐसा तक आता है कि अगर साधन हों तो धोखा देने वाले की अभी जान ले ले। और यह मिथ्या मोह भी क्या है ? धोखा है। प्रश्न—जिसको धोखा दिया वह इतना संक्लेश करता और हिंसा का विचार करता है तो वह भी तो बड़ा पाप करता है। उत्तर—पाप तो वह भी करता है परन्तु अभी यहां उसकी बात नहीं कह रहे हैं। यहां तो उसके दुःख की बात कह रहा हूं। यह मोह भी क्या है ? यह विश्वास-घात है, मोह है, मिथ्या है। जैसी बात है, जैसा पदार्थ का स्वरूप है वैसा विश्वास नहीं बना और उसका उल्टा बना बैठा तो यह धोखा है और अपने आपको धोखा दे रहा तो यह किसना धोखा है ? धोखा अपने को देने वाला मैं खुद हूं, कोई दूसरा नहीं है।

अपनी कल्पनाओं में ही मस्त रहें। यह सोचें कि हम काम ठीक कर रहे हैं, हमारा यों काम चल रहा है, हम मजे में हैं इत्यादि, पर वृद्धावस्था में कुछ खबर और ही होगी। ६०, ७०, ८० वर्ष धोखे में ही चले गए, कुछ नहीं किया। जिसके जवानी है, बचपन है उसके ज्ञान विकसित नहीं हो रहा है, पर अंत में उसको धोखा है। जब लोगों को कष्ट होने लगता, दुःख अधिक सह लिये जाते तभी ज्ञान होता है। किसी-किसी के जवानी या बचपन में ही विवेक हो जाता है। ये जगत् के प्राणी अपने को धोखा देते जा रहे हैं। अच्छा खाने-पीने का ही काम है, संतुष्ट होकर खाते हैं। अरे इस सुख में ही मस्त होकर अपने आपको धोखा देते हो। ये सब तो नष्ट होने वाले हैं, मेरी चीजें नहीं हैं। लोगों का सुख में मस्त होना अपने आपको धोखा देना है। अरे जो सुख आते हैं उनके भी तुम जाननहार रहो और जो दुःख होते हैं उनके भी तुम जाननहार रहो, फिर क्यों सुख में मस्त हुए जाते हो और दुःखमें घबड़ाए जाते हो ? यही तो इस संसार में विकार है। अरे परपदार्थों में, परजीवों में मस्त न हो। उनमें मस्त होने से सुख नहीं होता।

जिसके लालच है उसके ही दीनता है। और जहां पर दीनता है वहां पर क्लेश है। जैसे कोई किसी वस्तु में लालच करे, परवस्तुवों में दृष्टि दे तो वही दीनता है। तो सुख का दुश्मन दीनता है। दीनता का परिणाम है और वही एक बड़ी दुर्गति है। उसका कारण पाप है। पाप करें तो सारी बातें उत्पन्न होती हैं इसलिए पाप से दूर रहना, यही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट विभूति है। जो पुराणों में लिखे गए महापुरुष हैं उनमें यह विशेषता थी कि वे पाप से दूर रहे, धर्म में प्रीति रही। इसी से उनके पुराण बन गए। भक्त लोग उनके चरित्रके पन्ना-पन्ना खोलते हैं और उनके चरित्र पढ़ते हैं। उनमें यही विशेषता थी कि वे पाप से दूर रहे। तो यह पाप जो है वही सुख का दुश्मन है। तो चाहिए तो यह कि इस पाप को छोड़ दें। एक जगह शास्त्रसभा हो रही थी। अनेक लोग शास्त्र में बैठे हुए थे। एक लकड़हारा भी उस दिन शास्त्र में बैठा था। शास्त्र में चर्चा चली कि ये ५ पाप ही दुःख के देने वाले हैं। उनको त्यागना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। लकड़हारे ने सोचा कि कुछ और पाप तो मैं करता नहीं हूं, केवल जंगल में हरी लकड़ी काटता हूं। अच्छा उसे भी अब मैं नहीं काटूंगा। मैं केवल सूखी लकड़ियां बीन लाया करुंगा या किसी सूखे पेड़से ही काट लाया करुंगा। मैं किसी से झूठ भी नहीं बोलता। केवल ग्राहक के लकड़ी के ठहराने में झूठ बोलता हूं

सो यह भी न बोलूंगा। साढ़े आठ आना की लकड़ी लाऊंगा और आठ आना कहूंगा। चोरी मैं सिर्फ यह करता हूं कि दो पैसे की चुंगी बचा लेता हूं। मैं चोरी भी नहीं करूंगा। मैंने किसी दूसरेकी स्त्रीपर कुदृष्टि भी नहीं डाली। अच्छा अब मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य कर लूं। स्वस्त्री से भी ब्रह्मचर्य रखूंगा। परिग्रह भी क्या करना है ? ठीक है आठ आने की लकड़ी बेचता हूं। दो आने धर्म में खर्च करूं, चार आनेमें गुजर-बसर करूंगा और दो आने जो बचते हैं उन्हें विपत्तियों से बचने के लिए, संकट से हटने के लिए, विवाह आदि कामों में लगाने के लिए जोड़ता रहूं। अपनी कमाई के चार भाग कर लिये। उसके परिग्रह का काम ठीक हो गया। इस तरहसे वह अपनी गुजर करता गया। एक दिन लकड़हारा जंगल से लकड़ी काटकर एक सेठ की हवेली के नीचे से निकला। सेठ का नौकर रसोइया निकला, बोला—"लकड़ी बेचोगे ?" हां, हां बेचूंगा। कितने में बेचोगे ? ८ आने में। ४ आने लोगे ?…नहीं। ६ आने लोगे ?…नहीं। ७ आने लोगे ? …नहीं। लकड़हारा चल पड़ा। रसोइया थोड़ी देर बाद बोला—अच्छा, लौट आवो। लकड़हारा लौट आया। साढ़े सात आने देंगे। रसोइया ने फिर वही कहा। तब लकड़-हारा बोला—तू किस बेईमान का नौकर है ? ऊपरसे सेठ सुन रहा था। सेठने बुलाया, बैठाया और बोला कि हमें क्यों बेईमान बना रहे हो ? कहा महाराज, नौकर भी जिसके संग में रहता है वैसा ही सीख लेता है। नौकर पहले तो बुलाकर कहता है कि मंजूर है, फिर बाद में कहता है कि साढ़े सात आने लोगे। सेठजी तुम तो रोज शास्त्र में बैठते हो, हम तुम्हें देखते हैं। हम तो केवल पहिले ही दिन शास्त्र में बैठे तबसे ही मैंने पांचों पापों का त्याग कर लिया। अब मैं हरी लकड़ी नहीं काटता, चुंगी वाले से पैसे नहीं चुराता, झूठ नहीं बोलता, हम ब्रह्मचर्य का पालन भी करते हैं। अपनी कमाई का एक चौथाई धर्म के कामों में, दो चौथाई गुजारे में लगाता हूं और एक चौथाई विपत्तियों के लिए, संकटों के लिए और घर के काम-काजों के लिए बचाता हूं। सेठ बोला कि अरे लकड़हारे पुण्यवान तो तू ही है। सेठ ने उसका आदर-सत्कार किया। प्रयोजन यह है कि दुर्गति तो पापों को लिए जिन्दा रहने वाले को है। जो पापों को बनाता है, वह आदर्श नहीं बन पाता है और जो पापों से दूर रहता है वह आदर सत्कार प्राप्त करता है, सुखी रहता है। सुखी होने का उपाय है पापों का दूर करना है।

पाप पांच हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ। इन पापों के जो वशीभूत है वह शांति नहीं प्राप्त कर सकता है। तो यह दीनता कैसे नष्ट हो ? जब

अपना महत्त्व याद हो कि मैं तो ऐसा प्रभु हूं तो दीनता नष्ट है। दीनता तब आती है तो जब अपने को तुच्छ समझता है। दूसरों से ही मेरी जिन्दगी है, दूसरों से ही मुझे सुख है—इन तरह के मिथ्या परिणाम रहते हैं तभी दीनता रहती है और यदि ऐसे परिणाम हों कि मैं आत्मा शुद्ध, चैतन्यस्वरूप हूं, ज्ञानानन्दभाव मात्र हूं, विलक्षण हूं, सर्वोत्कृष्ट हूं, मैं ऐसा अपनी आत्मा को देखूं तो मैं सुखी हूं, परिपूर्ण हूं, मेरे में हीनता नहीं है। हीनता का मेरे में काम ही नहीं हैं, यह तो ज्ञानमात्र भाव है। इसके तुच्छता कहां बसी है ? इस प्रकार से अपने को नहीं देखता है और बाहर में ही मोह लगाए रहता है तभी दीनता आ जाती है। इस दीनता के मिटाने का उपाय है अपने स्वरूप की दृष्टि करना। जितना भी मुझे सुख मिलता है वह मेरे ज्ञानके विकाससे मिलता है।

एक मनुष्य भोजन करके अपनें आपमें सुख का अनुभव करता है तो एक योगी उपवास करके, निराहार हो करके, अपने प्रभु के दर्शन करके सुख प्राप्त करता है। तब कैसे कहा जाय कि सुख का कारण भोजन ही है। जो भोजन करके सुखी होता है वह अपने ही ज्ञान से सुखी होता है। यदि कोई बहुत बढ़िया-बढ़िया भोजन भी कराते हैं और दो चार चोचले भी करते हैं याने बढ़िया भोजन प्रेम से खूब कराते हैं और खुद भोजन करते जाते हैं और कहते हैं कि खा लो ऐसा अच्छा भोजन तुमने कभी किया नहीं होगा। तुम्हारे बाप ने भी कभी ऐसा भोजन नहीं खाया होगा। इस प्रकार से वह विषसा बोल उगलते हैं। तो खाने वाला कितना दुःख महसूस करेगा ? अरे बाह्य वस्तु से तुमने सुख माना है तो सुख ही उससे निकलना चाहिए। तो मतलब यह है कि जो भोजन किया जा रहा हो उस भोजन से सुख नहीं मिलता है, केवल कल्पनाएं बना लेने से ही सुख मिलता है। सर्वत्र ही जीव को ज्ञान से सुख मिलता है, परवस्तुवों से सुख नहीं मिलता है। जो सुख महसूस करते हैं वह कल्पनाएं करके ही महसूस करते हैं। जब भ्रम हो गया कि यह सुख इस वस्तु से हमें मिल रहा है, वाह कितना बढ़िया है तो सुख हो गया। इसी प्रकार से यदि भ्रम हो जाए तो परकी ओर झुकाव होगा ही और उससे क्लेश होगा। यह वस्तु तो कितनी अच्छी थी ? इस कल्पना के ही कारण उस इष्ट के नष्ट होने पर क्लेश होता है। सुख और दुःख ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। यदि अपने में ज्ञान है तो वहां दुखोंका नाम नहीं है और यदि ज्ञान नहीं है तो आजीवन क्लेश है। कल्पनाएं बना लेनेसे दुःख-सुख हो जाते हैं। अभी कोई क्लेश है तो अगरसही ज्ञान बना ले कि मैं तो ज्ञानानन्दघनमात्र हूं, मैं तो सुखी हूं तो क्लेश दूर हो जावेंगे।

एक मनुष्य को कोई अच्छा कांच मिल जाय, उसे यदि कल्पना हो जाय कि यह हीरा होगा। अरे यह तो २०-२५ हजार का कम से कम का न होगा। बस समझो उसको ठसक आ जाती। अंगूठीमें भीतरमें कोई कांच लगा है, उसमें चमक होनेसे यह भ्रम हो जाय कि यह हीरा है, कम से कम १० हजार का होगा। इतने से ही वह प्रसन्न हो जायगा, सुखी हो जायगा। और यदि हीरा भी हो और जरा देर में ही यह समझ में आ जावे कि अरे यह तो कांच है तो उसका चित्त बुझा रहता है। बाह्य पदार्थों से कोई सुख नहीं है, पर भ्रम ऐसा बन गया है कि बाह्य पदार्थों से ही सुख है—यही समझकर वह परिश्रम करता है और उनका संग्रह करता है। जैसे कुत्तेको सूखी हड्डी मिल जाय तो उसको मुंह में रखकर अकेले में चलता है। उसके चबाने से दांत मसूढ़े फट जाते हैं, खून भी आ जाता है। अपने खून का आनन्द आता है, पर भ्रम हो गया उसको कि हड्डी चबाने से आनन्द आता, हड्डी से स्वाद मिल रहा है। यदि कोई दूसरा कुत्ता उसको छीनने के लिए दौड़ता है तो वह गुर्राता है। उसके मसूढ़े कटने से खून आ गया, उसे भ्रम हो गया कि यह हड्डी का खून है इसलिए उसे आनन्द मिला। यह दृष्टान्त है।

इसी तरह जगत के जीव अपने स्वयं ज्ञान से, अपने ही आनन्द से सुखी होते हैं। किन्तु उस समय जिन बाह्य पदार्थों को उपयोग में लिये हुए हैं उनसे सुख का भ्रम हो गया, सो कोई परवस्तुवों को पकड़ता और संग्रह करता है और उनके ही पीछे झंझट चलता है। सही पता हो जाय कि मैं स्वयं ज्ञानानन्दपुञ्ज, अविनाशी तत्त्व हूं। यदि यह पता पड़े तो इसके दीनता न रहे। यह दीन हो जाता है किसी भी वस्तुको देखकर। पंचेन्द्रिय के विषयों को देखकर यह दीन हो जाता है, ऐसा दीन हो जाना ही उसके दुःख का कारण है।

हे आत्मन् ! अपने आपको निरखो कि मैं भगवान सदृश ज्ञानमात्र हूं। इसमें दुःखों का काम ही नहीं है। इसके सारे प्रदेशों में लबालब सुख ही सुख भरा हुआ है, आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है, आनन्द की मेरे में कमी नहीं है। मेरा ज्ञान मेरे से बाहर नहीं है और न आनन्द ही मेरे से बाहर है। मैं स्वयं ज्ञानानन्दघन हूं, यह लक्ष्य हो जाय, ऐसा भीतर से परिचय मिल जाय, दृढ़ प्रतीति हो जाय, ऐसे यह उपयोग बनाने के लिए तैयार हो जाय तो उसको क्लेश नहीं मिल सकते हैं भैया ! परसम्बंध में हानि ही हानि है। अकेला है तो बड़ा सुख है और यदि दुकेला हो गया, विवाह हो

गया तो क्या मिला कि चौपाया हो गया। दो पैर खुद के, दो पैर स्त्री के। चौपाया जानवर कहलाते हैं। दो हाथ-पैर वाला मनुष्य था, चौपाया हो गया। बच्चा हो गया तो छैपाया हो गया। भंवरा हो गया। बच्चे का विवाह भी हो गया तो अष्टपाया हो गया अर्थात् मकड़ी बन गया। मकड़ी का जाल होता है। उसने अपने में जाल बनाया और फंस गयी। ५०-६०-७०-८० वर्ष तक उनकी ही धुन में लगा रहा है, चाहे कितने ही संकट आवें? घर में बसने वाले लोगों को मान लिया कि ये मेरे हैं। अरे ये दुनिया के लोग क्या हैं? ये सब अपने लिए मोह में विपदाएं हैं। ऐसा भाव अपने मन में बने कि मैं भगवान तुल्य, ज्ञानानन्दघन पवित्र आत्मा सबसे न्यारा हूं। परन्तु ज्ञान तो यह आता है कि यह मेरा लड़का है, यह मेरा घर है और बाकी तो सब गैर हैं। वे चाहे जो हो जावे, उनसे मेरा सम्बंध नहीं। पर अपने घर के जो २-४ मनुष्य हैं उनको पकड़े हुए है। अरे इन २-४ मनुष्यों का मोह छोड़ो, ये सब तेरे कुछ नहीं हैं। इनके मोह से ही तुझे संसार में रुलना पड़ेगा। मगर उन्हीं के बारे में भक्ति है, भावना है और ज्ञान है। दस लक्षण में दान करें, वृत करें, पर मोह न करें, ऐसी बात का उत्साह तक भी नहीं होता। भैया! सब कुछ करो, पर मोह न करो। जगत के समस्त क्लेश पापों से आते हैं। तो मैं इन पापों को अपने से दूर करके अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

यह आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उस स्वरूप को देखकर जगत के सभी पदार्थों पर दृष्टि डालते हुए जब निर्णय करते हो तो विदित होगा कि यह आत्मा सर्व में महान् है, इसे समयसार कहा जाता है। समय का अर्थ है—"सं एकत्वेन अयते स्वगुणपर्यायान् गच्छति इति समय" जो अपने गुणपर्याय में तन्मयता से हो, रहे उसे समय कहते हैं। सभी पदार्थ समय हैं, वे अपने ही गुणपर्याय में तन्मय हैं। तन्मय होना तो स्वभाव ही है। इस कारण सब पदार्थ समय कहलाते हैं। उनमें सार क्या है, यह आत्मपदार्थ ऐसा अनुभव करना कि जगत में सब कुछ होता है, धर्म है, अधर्म है, पुद्गल है, काल है, आकाश है, पर एक जीव नहीं है, एक चैतन्य पदार्थ नहीं है तो क्या हो? व्यवस्थाएं कुछ भी न होंगी, कुछ चहल-पहल न हो इन सबको जानने वाला यह जीव पदार्थ, जीव तत्त्व ही व्यवस्थापक हैं, सबको जानने देखने का ही इसका स्वभाव है। कितना भी दूर हो कुछ, सत् हो, इस आत्मा में यह शक्ति है कि उन सबको जान लेगा। सामने हो या पीठ पीछे हो। लेकिन ज्ञान सबका रहेगा। कोई पदार्थ कहीं भी रहो। आमना-

सामना तो क्या है ? ज्ञान तो अमूर्त तत्त्व है । इसमें स्वभाव से ही ऐसी कला है कि जो कुछ भी हो इसके जानने में आ जाय । जानने का जिसका स्वभाव है वह मैं आत्मा हूं । उस आत्मा का महत्त्व क्या होता है ? इस आत्मा के महत्त्व को बताने का कोई दावा करे तो वह विद्वानों में हंसी का पात्र है । जगत के जितने भी जीव हैं सब भगवान-स्वरूप हैं । राम, विष्णु, ब्रह्मा, हरि और बड़े-बड़े राजा-महाराजा जो महापुरुष हुए हैं जितने भी हैं वे सब क्या हैं ? वे आत्मज्योति ही तो हैं, वह आत्मास्वरूप ही तो हैं । निगोद से लेकर सिद्ध तक जो जितने विकास हैं वे सब एक इस आत्मा में ही तो हैं ।

यह आत्मा वह है जिसमें अनन्त गुण हैं । यों तो कहने में ४-६ आवेंगे, पर गुण अनंत हैं—ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनंद, शक्ति आदि अनेक गुण हैं । उन गुणों में से केवल एक गुण को लें तो इसमें अनंत पर्याय हैं । उन पर्यायों में से एक पर्याय को लें तो एक पर्याय में अनेक अविभागप्रगतिच्छेद हैं । प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद में अनंत रस हैं । ऐसे अनंत रस का पिंड यह मैं महान् आत्मा हूं । परन्तु जो अब इस आत्मा की दशा हो रही है वह इन्द्रियों के विषयों के वशीभूत होकर हो रही है । इन्द्रियों से इस आत्मा का लेन-देन कुछ नहीं है फिर भी इस जीव ने स्वयं भ्रम करके, अज्ञान करके अपने को ऐसा बना रक्खा है कि न इसकी इन्द्रियों में शांति है, न विषयों में शांति है । शांति तो परमात्मतत्त्व से होती है । अगर हम मान लें कि हमें शांति नहीं है तो हमें समझ आयगी कि इन्द्रियों के बिषयों ने ठग लिया है । देखो तिर्यंचों में हिरन है, हाथी है, मछली है, भंवरा है, ये जीव एक-एक विषयों में तन्मय होकर मरण को प्राप्त हो जाते हैं । पर इस मनुष्य की दशा तो देखो—यह तो सर्वविषयों के आधीन है । जो समागम पाया, उसका भी उपयोग विषयों के लिये किया । इस मोही प्राणी ने कभी धर्म का सेवन भी किया तो भोग के निमित्त से किया, परिवार सुख से रहे, मुकदमा में विजय हो, पैसा मिलने तक आदि की भावनाएं धर्मसेवन में हो जाती हैं । धर्मपालन किया तो भोग के खातिर किया । राग, अज्ञान, मोहमें आकर धर्मका पालन तो किया, मगर वह भोग के निमित्त ही रहा । आत्मा के लिए धर्मका पालन नहीं किया । आत्मा में याने ज्ञायकस्वभाव में ज्ञानदृष्टि रहना तो इस आत्मा का स्वभाव का काम है । इसका काम बस प्रतिभासमात्र है । जो सत् है, वह झलक गया बस इतना आत्मा का काम है । इसके आगे आत्मा का काम नहीं है । आत्मा में देखो तो समस्त प्रदेशों में ज्ञान और आनन्दरस ही भरा है, पर उसमें रुचि नहीं है मोही की । मोही जीव का

उपयोग बाह्यकी ओर है, पर उस उपयोग में शांति न मिल सकी। अपने आपको देखो, सब पदार्थों को त्यागकर ऐसी बुद्धि बन जाय कि यह तो मात्र मैं चैतन्यस्वरूप ही हूं तो इस आत्मा को शांति प्राप्त हो सकती है। यदि इस बुद्धि से विलग हुए तो शांति का कुछ पता है क्या ? विषयों में पड़कर भोग लिया, मरण के समय क्लेश और विकल्प हुए। यों विषयभोग का ही मार्ग लिया, यह तो शांति का मार्ग नहीं। शांति का मार्ग तो गुप्त है। शांति अपने ही अन्दर अपने आप अपने से ही प्रगट होती है। ऐसा यह महान आत्मा इन्द्रियों के विषयों के कारण ठगा गया, वंचित रहा। यह इन्द्रियां तो सुन्दर लगती हैं पर आनन्दकी जगहपर क्लेश भोगना पड़ता है। और की बात छोड़कर अपने में शीघ्र आवो। क्योंकि बड़ी अबस्था हो जाने पर फिर पछतावा होता है।

अहो, अपना इतना समय बरबाद कर दिया। दुखों में, चिन्ताओंमें समय गुजर गया। जो समय गुजरा वह समय वापस नहीं आता। उम्र १० वर्ष की हो गई लौकिक ज्ञान की वृद्धि हुई, बाह्य सिलसिले चलने लगे। युवावस्था आ गई। युवावस्था में भी ज्ञान नहीं किया वह भी दु:खों में ही बीत गई। अब वृद्धावस्था आ गई तो पछतावा करते हैं। अरे अब तो सही परिणाम बनाओ, अभी काम बन जायगा। राग में, मोह में, विषयों में आत्मा को शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। जगत के कौन से जीव तुम्हारे हैं जो राग करते हो। केवल मायामय मूर्तिको ही तो देखते हो कि आत्माको भी देखते हो। अच्छा तुम राग किससे करते हो ? क्या शरीर से इस अशुचि पिण्ड से। इससे तो करते नहीं, तब क्या आत्मा से करते हो ? आत्मा तो अमूर्त चैतन्यमात्र है। जैसा एक चेतन है तैसे सब चेतन हैं। अत: आत्मस्वरूप के जाननेपर व्यक्तिभेद तक भी नहीं रहता, फिर राग ही क्या करोगे ? यहां तो मायामय मूर्ति ही तो देखते हो। वह कुछ प्रीति की चीज है क्या ? आत्मा से प्रीति करना है तो आत्मा के स्वरूप को देख। यह आत्मा एक ज्ञान भावमात्र है। जाननमात्र आकाश की तरह अमूर्त, किन्तु एक ज्ञान गुण को लिए हुए है। एक विलक्षण पदार्थ है वह तो वह है और एसे ही सब हैं। स्वभाव और आत्मा में भेद ही नजर नहीं आता। मुझ ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को देखता ही कौन है ? उसे देखने से राग नहीं आ सकता है। वह ज्ञाताद्रष्टा ही रह सकता है। उस आत्मासे कौन प्रीति करता है ? ये जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब बिल्कुल असार हैं। इनमें हित का नाम ही नहीं है। यदि परपदार्थों से अपना हित मानते हैं तो समझो कि हम भ्रम में पड़कर उल्टे-उल्टे मार्ग पर चल रहे, अरे इन विषयों के मार्ग को छोड़ो

और अपने स्वरूपमार्ग में आवो। जिसमें उस सहजस्वरूप ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व के दर्शन होंगे। वह तो प्रभुसा पवित्र है। जैसा प्रभु का आनन्द है वैसा ही आनन्द उसका है। मैं अपने स्वरूप को देखूं। बाकी सब व्यर्थ है। जगत का कौनसा ऐसा तत्त्व है जो हितकर हो, फिर कौनसी बात में अहंकार है? आज दस लक्षणों का दूसरा दिन है और मार्दव धर्म है, जिसका अर्थ हुआ कोमलता, नम्रता। ऐसी विनम्रता हो जो खुद-खुद में समा गई हो, खुद-खुदमें ही विलीन हो गई हो। ऐसे आत्मानुभव का रस पी लो। यही शुद्ध आत्महित का मार्ग है। जगत के अन्य पदार्थों को तू न मान। कौन से पदार्थ मेरे हैं? कोई नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही सत् है और फिर विनाशीक है, नष्ट हो जाने वाला भी है। कौनसी ऐसी वस्तु है जो सदा रहती हो?

भगवान स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेव पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा। तृषोनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ।।

कहते हैं कि जीव का आत्यन्तिक स्वास्थ्य क्या है अथवा उसका वास्तविक स्वार्थ क्या है, आत्मप्रयोजन क्या है? सदा के लिए स्वस्थ हो जाना यही जीवका परम स्वार्थ है, परमहित है। स्वास्थ्य कहते किसे हैं? स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः, स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम् अपने आपमें ठहरे रहने की बात को कहते हैं स्वास्थ्य। सदा के लिए अपने आपमें रम जावो, ठहर जावो। ऐसा जो स्वास्थ्य है वह उत्कृष्ट स्वार्थ है। यह भोगविलास स्वहित नहीं, यह तो क्षणिक है। भोग की प्रीति में केवल मैं खोया हुआ हूं। देखो मोही जन जो कर रहे हैं वह सब कल्पना के समय सस्ते लगते हैं पर ये भोग विषय बड़े महंगे पड़ेंगे। हाथ पैर मिलते हैं, मन मिलता है, बहुतों में हुकूमत चलाई जा सकती है, बहुतों से बात बनाई जा सकती है। इस प्रकार के विचारों वाले प्राणी का स्वरूप या सर्वस्व खोया हुआ रहता है। वह नरक वाली योनियों में भ्रमण करता रहता है, जन्ममरण के चक्र में पड़कर वह कीड़ा-मकौड़ा हो जायगा और उसे सदा दुःख ही दुःख होंगे।

देखो तो गजब की बात हमारी यह विविध सृष्टि इतने जीवों के रूप में कैसे बन गई? यह सब प्रकृति की उपाधि में चेतन प्रभु की अवस्था है। परमार्थ से तो मैं एक शुद्ध आत्मतत्त्व हूं। यदि बाह्य पदार्थों में दृष्टि लगी है तो पतन है और यदि स्वमें दृष्टि लगी तो उत्थान है। जो शुद्ध आत्मतत्त्व है, वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष भगवान आत्मा अरहन्त एवं सिद्ध है और ऐसे शुद्ध बनने के प्रयत्न में जो लगा रहता है वह साधु है।

ऐसा ज्ञानमय, चरित्रमात्र मैं सत् हूं। अपने आपमें तन्मय हुआ ज्ञान आनन्द आदि त्रैकालिक शक्तियां मात्र जो अनंत विलासको लिए रहता है, जो अनेक प्रकार के पर्यायों को धारण करता है फिर भी वही का वही है, वह चैतन्य प्रभु मैं हूं। इसका ही पूर्ण-विकास अरहंत व सिद्ध भगवान हैं। ऐसे शुद्ध भगवान की उपासना करें तो यह हमारे उत्थान की बात है। मैंने माना कि शुद्ध के आश्रय से शुद्ध होता हूं व अशुद्ध के आश्रय से अशुद्ध होता हूं। वर्तमान में तो मैं शुद्ध नहीं, भगवान पर हैं तो किसके लक्ष्य से मैं शुद्ध बनूं ? स्वरूप को लक्ष्यमें लूं तो मैं शुद्ध हो सकता हूं। शुद्ध लक्ष्यका करनेसे आत्मा शुद्ध हो गई और अशुद्ध का लक्ष्य करने से आत्मा अशुद्ध हो गई। अब क्या पसंद न करोगे कि अशुद्ध आत्मा के तो आत्मा अशुद्ध हो। अब देखो शुद्ध आत्मा क्या है ? रागी द्वेषी है, जो विषयकषायोंसे भरा हुआ है, जो घूम रहा है ऐसी आत्मा को अशुद्ध कहेंगे। उसके लक्ष्य से शुद्ध नहीं होगा तथा भगवान पर आत्मा है परका लक्ष्य परमार्थ से होता नहीं। उनकी भक्ति से उनके ध्यान से उनके आश्रय से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती है। परमार्थ से देखो तो इस आत्मा के लिए यह आत्मा शुद्ध द्रव्य कहलाता है। कहते हैं कि मैं प्रत्येक से न्यारा अपने आपमें तन्मय हूं। आत्मा के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं उन पदार्थों पर मेरा अधिकार नहीं है। मैं ही वह हूं, मैं ही उपास्य हूं, मैं ही परमात्म तत्त्व हूं, इस प्रकार का तू मन में विचार कर। तू उन बाह्यपदार्थों का ध्यान न कर। तू उनको ज्ञान का विषय न बनाकर अपने ही ज्ञान का परिणमन कर अर्थात् अपने ही भावों का ध्यान बनाकर तू परमात्मोपयोगी बन। परद्रव्यों में ध्यान देकर कोई पर-मात्मा नहीं बन सकता है सो एक तो यह बात, दूसरी बात यह है कि वह अपने शुद्ध परिणमन को छोड़कर लटोरे घसीटों को हाथ पकड़ मोक्ष में ले जाय ऐसा हो नहीं सकता। अपने आपको ही देखो कि मैं आत्मा शुद्ध हूं, सबसे निराला हूं। अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि से तू पार होगा तो परमें दृष्टि लगाकर माया, मोह आदिसे पिसा जा रहा है तो ऐसा करने से क्या हम शुद्ध बन जाएंगे ? नहीं। हम आत्मा की श्रद्धा करके शुद्ध हो सकेंगे। और अगर इस आत्माकी श्रद्धा न कर सके तो शुद्ध न हो सकेंगे। तब फिर शुद्ध होने का उपाय क्या है ? अरे इस आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है, शुद्ध स्वभाव है, वह स्वतः सिद्ध आत्मतत्त्व है। मैं शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा करने से शुद्ध हो सकता हूं। हमारे इस कूड़े-कचड़े शरीर के भीतर जो चैतन्यस्वरूप है, जो ज्ञान में आ रहा है उस निज शुद्ध आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लें तो यह गंदगी, कूड़ा करकट नष्ट

हो जाता है।

हम अपनी आत्मा तथा ज्ञानदृष्टि के बहुत भीतर चलकर शुद्ध तत्त्व को जान सकते हैं। वह कोई एक पिण्ड जैसी चीज नहीं बल्कि ज्ञान को लिए हुए है। ऐसा यदि अपना ध्यान नहीं करेगा तो इस जगत में तेरा कोई शरण नहीं है। बाहर में जो शरण माना है वह तेरा कोई नहीं है। वे सब स्वार्थी हैं। वे सब अपने-अपने विषयों में लगे हैं। वे सब अपने ही प्रयोजन में लगे हैं। वे मुझ से बात ही नहीं करते हैं, वे मेरा कुछ नहीं करते हैं तो हम किस की शरण में जावें? अरे वह तेरे लिए संकट हैं, उनसे तुझे शरण नहीं मिलेगी, तेरी शरण तेरी प्रभु आत्मा में ही मिलेगी। मैं अन्तर्दृष्टि करके देखूं तो वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है, शरण तो सहीमें वह हमारा प्रभु है, भगवान है, परमात्मा है। वही हमारा रक्षक है। तूने परको निज समझ लिया तो वे तेरे नहीं हो गए। वे तेरे हो ही नहीं सकते हैं। अन्य में दृष्टि करने से हम बहुत गलत रास्ते में बहे चले जा रहे हैं। तो लौटना भी हमें उतना ही पड़ेगा। जैसे यदि हमें कलकत्ता जाना है और हम पश्चिम में चले जावें तो हमें वहां से लौटना ही पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हमारी दृष्टि अन्य में बढ़ती चली जाती है तो हमें उतना ही उन सबसे निवृत्त होकर निजस्वरूप की ओर दृष्टि को लाना पड़ेगा। यदि हम बाहरी तत्त्वों को उपयोग में लाने लगे, अपने परिवार तथा मित्रजनों को सर्वस्व मानें तो मुझे मेरा प्रभु नहीं मिल सकेगा। यदि हम विषयभोगों में आसक्ति न करें, अन्य तत्त्वों को अपने उपयोग में न लें, कुटुम्ब, परिवार तथा मित्रजनों को अपना सर्वस्व न समझें तब तो हमारा प्रभु हमें मिलेगा। जैसे कोई मुसाफिर भूलकर ५०० मील आगे चला गया हो तो उसे उतना ही तो लौटना पड़ेगा सही मार्गपर आनेके लिये, इसी प्रकार इस जीवको जो अपने आपको भूलकर परमें दृष्टि लगाए हुए है उसे भी सर्व पर से निवृत्त होकर अपने निजस्वरूप को पहिचानना होगा।

देखो—अपने धन, वैभव, कुटुम्ब परिवार से सबको प्रीति है पर अपने ज्ञानस्वरूप में प्रीति नहीं है। ज्ञानस्वरूप में प्रीति करने में तो कहीं रुकावट नहीं है। तू अपने ज्ञानस्वरूप से प्रीति कर। एक दुकान मालिक यहां बैठा है। कल्पना कर लें कि मैं अपनी दुकान में गया, दुकान की तिजोरी खोली। तिजोरी में सन्दूक है, सन्दूक में डिब्बा है और उस डिब्बे में कपड़े में बंधा हुआ हीरा रक्खा है, उसमें अंगूठी रक्खी है तो वहां तक ज्ञान के पहुंचने में कमरा कोई बाधा नहीं डालता है, तिजोरी वगैरा कोई

भी बाधा नहीं डालते । अरे तू अपने ज्ञान की रुकावट न कर । ज्ञान की रुकावट तो विषयकषाय से होती है, ज्ञान के आ जाने से बाधाएं नहीं फैलती हैं । भाई इन विषयों में पड़ करके ज्ञान को खोये हुए हो । इन विषयों में पड़ने से तेरा कोई रक्षक नहीं । तेरी रक्षा करने वाला, रुकावट करने वाला तू ही है, तेरेमें ज्ञान है । जरा अपने अन्तर में दृष्टि तो दो । यथार्थ विकासोंके बिना तेरे को बड़ा कौन कर सकता है ? इन विषयों में यह दम नहीं कि तुझे बड़ा बना दें । हे आत्मन् ! तेरी रुकावट करने वाला तू ही है, तेरी ही सैन पाकर कर्म व विषय प्रबल होते हैं । जैसे मालिकके साथ कुत्ता हो । यद्यपि कुत्ते में कुछ दम नहीं, परन्तु मालिक के छू-छू करने से ही कुत्ता दूसरों पर आक्रमण कर देता है, मालिक के उस छू-छू से ही कुत्ता बलिष्ट बन जाता है । वह नहीं देखता है कि यह युवक पुरुष है, इससे न जीत सकूंगा, पर वह आक्रमण कर देता है । इसी प्रकार आत्मा के विषयकषाय की सैन पाकर ये इन्द्रियविषय दुखदाई हो जाते हैं । इस आत्मा को निज की पहिचान मिल जाती है तो यह बाह्य की इच्छा नहीं करता है और अपने निजस्वरूप की उपासना करता है । इस निजस्वरूप के पहिचान से ही आत्मा बलिष्ट हो जाता है । अतः यदि हम निजस्वरूप में दृष्टि दें तो हम सुखी हो सकते हैं । यदि मैं निजस्वरूप में दृष्टि न दे सका, मेरा बाह्यपदार्थों से ही संयोग रहा तो जीवन भर ही दुखी रहना है, यही पहिले से सोच लो । अन्य किसी में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो हमें सुखी कर दे । परको जिसने अपना इष्ट माना है वे दुखी होते हैं । यदि वह विषयों में आसक्त है तो उसे दुःख होते हैं । यदि विषयों में आसक्त न रहें तो विषयों में कोई ताकत नहीं जो उसे दुखी कर दें । सुखी होना तथा दुखी होना अपने ऊपर ही आधारित है । दूसरों के सुखी करने से सुखी नहीं हो सकता और दूसरों के दुखी करने से दुखी नहीं हो सकता । मैं दूसरों के दुखी करनेसे दुखी होऊं तो इसका अर्थ है कि आत्मा में बल, बुद्धि नहीं है । ऐसी कल्पना करने वाली आत्माओं को पराधीन आत्माएं कहते हैं । हम बाह्य में दृष्टि न करें तो हम पराधीन नहीं होंगे । मुझे पराधीन होने से ही दुःख होता है अर्थात् अपनी दृष्टि बाह्य में लगा दूं तो मुझे दुःख होता है । बाह्य में मेरा कुछ नहीं है । मेरे को बाह्य से कुछ मिलता भी नहीं है । पर मैंने मन बना लिया है कि पर मेरे सब कुछ हैं, उनसे हमें बहुत कुछ मिलता है । यही कारण है कि दुःख होते हैं ।

अरे बाह्य पदार्थों से तुझे गौरव के लायक कुछ मिलता है क्या ? शरीर है तो

वह भी असार, धन वैभव है वह भी असार है। वह किसी के लिए भी सार न हो सकेगा। तू तो अकेला है, ज्ञानानन्दमय है। ज्ञान और आनन्द के परिणमन कर रहा है, बाहर कुछ नहीं है। तू अपनेपर कृपादृष्टि रख तो तू आध्यात्मिक चक्रवर्ती बन जाय। तू बाह्य से अपनी बुद्धि छोड़ दे। तू अपने बाह्य उपयोगों को छोड़ दे और अपने आन्तरिक उपयोगों में आ। यदि तू अपने आन्तरिक उपयोगों में आया तो सुख होंगे और यदि बाह्य में तूने अपना उपयोग बनाया तो तुझे दुःख होंगे और पागल बनना पड़ेगा। भाई देखो कितनी पवित्र यह आत्मा है ? यह आत्मा निरन्तर विषयों से भी ठगाई गयी, फिर भी यह आत्मा अपने आपमें स्वभाव में ठगी नहीं गई। तू अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव तो कर तो तेरे समस्त क्लेश समाप्त हो जावेंगे। यदि तू अपने आत्मा का अनुभव न कर सका तो तू ठगाया जायगा, तुझे क्लेश होंगे। तू ने यह कल्पनाएं बना रक्खी हैं कि विषयों से सुख है इस लिए तू उन विषयों में ही अपना समय लगा रहा है। हाय विषयों में तू पड़ रहा है। अरे विषय ही तेरे दुःखों का कारण बना देते हैं। अगर मोह, राग, माया बनी तो यह भी एक विषय है इनसे भी तू पराधीन हो जायगा। तू पराधीन मत बन। दृष्टि ऐसी बन गई कि यह मेरा है, यह पराया है। इससे अहंकार प्रतीत होता है। अरे मेरा कुछ नहीं है, मैं तो सबसे न्यारा हूं। यदि यह उपयोग बन जाए कि मेरा प्रभु मैं ही हूं, मैं जगत के सब पदार्थों से न्यारा हूं। यदि ऐसा उपयोग बन जायगा तो तेरा उत्थान होगा और यदि ऐसा उपयोग न बन सका तो तेरा पतन होगा और संसार में रुलना पड़ेगा। यथार्थ बात तो यह है कि सुख दुःख अपनी समझपर ही निर्भर है। तू अपनी आत्मा में ही विश्राम कर। वहीं तुझे शरण मिलेगी। और यदि तूने अपनी आत्मा में विश्राम न किया तो संसार में भटकना पड़ेगा, सहारा कोई नहीं देगा। यहां तक कि मरण के समय भी तुझे सहारा नहीं मिलेगा। तेरा शरीर भी तुझ से मिला नहीं रहेगा। परिवार के लोगोंको खूब खिलाया पिलाया। अपने सब सुख दुःख भूलकर परिवार के लोगों की सेवा भी करी, पर अन्त में कोई किसी का नहीं होता है। तेरा साथी तू ही है और कोई दूसरा नहीं। चक्रवर्तियों के साथ भी कोई नहीं रहेगा। यह जो बाह्य पदार्थ हैं वे भी हमारे नहीं होंगे। यह जो संसार का नृत्य है वह आप निज के स्वरूप की भूल से ही होता है। अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर अब अपने आत्मस्वरूप में दृष्टि दूं और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

सिद्ध आत्मा, पूर्णदर्शन, पूर्णज्ञान, पूर्ण सुख और पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है। यह मैं आत्मा एक देश दर्शन, एकदेश ज्ञान, एकदेश सुख और एकदेश शक्ति से युक्त हूं, किन्तु मैं वैसा ही पूर्ण वैसा ही सर्वज्ञ होने योग्य हूं। मेरी और प्रभु की जाति एक है। हम और वे सिद्ध वस्तु से एक हैं। मैं चैतन्यमात्र हूं। जैसा सर्वोत्कृष्ट ज्ञानानन्दघन प्रभु है वैसा मैं हूं। केवल जरासा आविर्भाव तिरोभावका अन्तर है। वह अन्तर कैसे किया ? हमने अपने अपराध से किया। निमित्त कुछ भी हो मगर अपराध हमीं करते हैं और उसके ही करने से मुझ में हैरानी होती है। यह तो स्वभाव से ही असीम विकास वाला है। इसका अपराध मैं ही तो करता हूं, अन्य अपराध का कारण नहीं, किन्तु प्रभु पूर्ण है इसका कारण नहीं। जैसे कभी बच्चों को मेढ़क का खिलौना दिया जाता है। मेढ़क का खिलौना टीन का बना हुआ है। उसमें पत्ती नीचे लगी रहती है और पासमें चिपड़ा लगा रहता है, जिससे वह चिपक जाता है। मेढ़क को पत्ती से कभी चिपकाकर रख देते हैं तो वह छूटकर छिटक-छिटककर उसी जगह पर उछलता है। उसके उछलने के माने यह नहीं कि उसका कुछ यत्न किया जाता है, वह छूटना स्वभाव से ही उछलता है। उसमें कुछ करना नहीं पड़ता है। एक किवाड़ अपने आप लग जाते हैं। किवाड़ खोलने में तो यत्न करना पड़ता है, पर लगानेमें कुछ नहीं करना पड़ता है। छोड़ा और लग गए। जो जैसी स्थिति का स्वभाव है उसके लिए यत्न नहीं करना पड़ता है। उसके खिलाफ बात है तो यत्न करना पड़ता है, क्योंकि उसमें कारण है। हमारे ज्ञान कम है तो इसका कारण है और भगवान का ज्ञान सारे विश्व में विकसित है, उसका कोई कारण नहीं है। वह स्वभाव से ही विकसित है। वह बीच में नहीं पैदा है। अभी अल्पसुख है, फिर दुःख होंगे, फिर सुख होंगे इसमें कारण चलता है, पर आत्मीय आनन्द है तो इसमें कोई कारण नहीं है। आत्माका स्वरूप ही है कि वह आनन्द में रहा करे। भगवान पूर्ण ज्ञानमय हैं, पूर्ण दृष्टिमय हैं, पूर्ण आनन्दी हैं, पूर्ण शक्तिवान् हैं। इस शुद्ध विकास के बने रहने का कोई कारण नहीं है। क्यों कारण नहीं है ? क्योंकि वह स्वभावतः ही अपने आप जैसा स्वरूप है तैसे वे हैं। सर्वत्र ही देख लो किसी का ज्ञान बड़ा है और किसी का छोटा है। इस ज्ञान की हीनाधिकता के तो कारण हैं, पर किसी का ज्ञान पूर्णविकसित है तो उसमें कुछ बाह्य कारण नहीं है। जैसा स्वाभाविक ठग है वह अपने आप है। उसमें कारण क्या है ? यह मोटा दृष्टान्त दे रहा हूं। जल को अग्निपर या धूप में रख दें तो उष्ण हो जायगा, उसका कुछ कारण है। आत्मा शांत रहे इसका

कोई बाह्य कारण नहीं है।

आत्मा सर्वज्ञ है, परमानन्दमय है तो इस आत्माकी क्या तारीफ है, क्या कमाल है ? अरे उसका तो यह स्वभाव ही है। तारीफ तो उन संसार में रहने वालों की है जो तिर्यंच बन जाते हैं, कीड़े मकौड़े बन जाते हैं। भगवान की हालत में क्या कमाल है ? वे तो स्वयं ही शुद्ध हैं। कमाल तो इसमें है जो स्वभावत: कैसे थे और पेड़ हो गए, पत्तियां लग गईं। वाह रे आत्मा कमाल तो तेरा है। भगवान तो एक पदार्थ है, शुद्ध है, अकेला रह रहा है। भगवान का जो अन्तिम शरीर के प्रमाण का आकार रहता है उसकी वजह यह है कि पहले जैसे शुरु में थे, जब तक वह शरीर में रह आए तब तक कर्मोंका उदय कारण था। जैसा कर्मोदय था तैसा उनको शरीर मिला, तैसा ही आत्मा का प्रसार हुआ। अन्तिम समय में जो मिला उस शरीर में आत्मा थी। पहले यह हुआ था कि आत्मा फैलता है तो कर्म के कारण से, आत्मा सिकुड़ता है तो कर्मके कारणसे। जैसे कर्मों का उदय है उस ही प्रकार का आत्मामें सिकुड़ना और फैलना होता है। अब अंत में शरीर भी चला गया तो जब शरीर छूटा तो अब कोई प्रस्ताव को रख देवे कि इस आत्मा में क्या होना चाहिए ? जिस शरीर से मोक्ष गए उस शरीर से आत्मा को फैलाकर बड़ा बनाना चाहिए या छोटा बनाना चाहिए ? यदि बड़ा बनाना चाहते हो तो क्यों बड़ा बनाओगे और यदि छोटा बन जाय तो क्यों बनाओगे ? यह बड़ा और छोटा तो कर्मोदय के कारण हुआ करता है। जब नामकर्म से मुक्त बन रहे हैं तो न फैलने का कारण है और न छोटा बनने का कारण है। इसी तरह सिद्ध भगवान जिस शरीर को छोड़कर मुक्त होते हैं वह जितने प्रमाण में थे उतने प्रमाण में उनके प्रदेश रह जाते हैं।

मैं एक शुद्ध निराला पदार्थ हूं। जैसा स्वरूप भगवान का है तैसा ही मेरा है। तो जैसा उनका स्वरूप है तैसा ही मेरा है, अब वह रंग नहीं बदलता है। देखो यह स्वरूप की भक्ति है। यह प्रभु की भक्ति में ऐसा दीखता है कि यह प्रभु क्या है ? हम जो हैं सोई रह रहे हैं। जैसा स्वरूप है तैसा सिद्ध का विकास हो गया। अब प्रभु में रंगबाजी नहीं चल रही है। क्षण में कुछ, क्षण में कुछ, ये लीलाएं संसारी प्राणी रचा करता है, पर मालूम पड़ता है कि ये प्रभु प्रभुताकी ऐसी विचित्र लीला करके थक गया है इसलिए प्रभु ने लीलाएं बंद कर दी हैं। यहां देखो वाहरे संसारी प्राणी ! तेरा तो थकने का काम ही नहीं है। तू तो अनेक कल्पनाएं करता है, समागम करता, संयोग

वियोग के विकल्प तथा अनेक कर्मण्यतायें करता है। आज से ५० वर्ष बाद तू किस योनि में रहा होगा ? वहां क्या कोई कम कल्पनाएं थीं कि यह घर-द्वार मेरा है, यह धन वैभव, कुटुम्ब परिवार मेरा है। और अब यहां क्या कल्पना करने लगा ? जब मैं यहां से जाऊंगा तो यह कल्पनाएं रहेंगी क्या ? कितना श्रम कर यह संसारी कार्य कर रहा है। तू कितना कर्मठ बन रहा है—विकल्प, निरंतर विकल्प, यह छोड़ा वह छोड़ा। अरे यह क्या है ? यह सब सांसारिक आपदाएं हैं। जैसे किसी बड़े संग्राममें बड़े सिपाही को चैन न हो, छिप-छिपकर खेल खेलकर गोली चलाये, दौड़े भागे। इस प्रकार से दुनिया के लोग श्रम कर रहे हैं। इसी तरह से यह प्रभु इस संसार में नाना खेल कर रहा है। आंख मिच गई कि आगे उसका कुछ पता नहीं। आगे गया और ढंग बन गया और आगे बढ़ा तो कल्पनाएं करके और ढंग का हो गया। क्यों कल्पना करके दु:खी होता ? कोई भी इसका कुछ हो तो बतला दो। क्या है इसका ? मगर कल्पनाएं इतनी बड़ी बना लेता है। सो हे प्रभु ! आपने भी यह सब भारी काम किया। बड़ी कर्मठता से ८४ लाख योनियों में चक्कर लगाए। अनेक लीलाएं खेलीं। अब मालूम होता है कि उन कलाओं से तू थक गया है और थक करके ही अब तूने उन अपनी लीलाओं को छोड़ दिया है।

हे प्रभु तुम शुद्ध पदार्थ हो, शुद्ध आत्मा हो। अरे अशुद्धि को मेटा तो शुद्ध हो गये। अशुद्धि मेटा तो उसका परिणमन अच्छा हुआ है। क्या गजब हो गया, हां महान् जरूर हो, यहां पर क्या स्त्री, बाल बच्चे हो गए। अरे हो गए तो इनसे तुम्हें क्या मिला ? वे तो तुम्हारे हैं नहीं। उन्हें तो छोड़के ही जावोगे। उनके लिए ही सब कुछ किया, सारा परिश्रम उनके लिए ही किया। उनसे तुम्हें क्या मिला ? लाखों और करोड़ों रुपयों का धन उनके लिए जोड़कर भर दिया। अरे वह कुछ साथ में तो जाता नहीं, फिर क्यों इतना माया मोह के चक्र में फंस रहे हो ? इस तरहसे यह प्राणी माया मोह में रहकर ही थक जाता है, अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है और बरबाद हो जाता है। इन बाह्यपदार्थों में कहां सुख है ? सब बाह्यपदार्थों को ही देख रहा है, परसे ही सुख की बातें सोच रहा है। अरे यह बाह्य सब झंझट है। अपनी दृष्टि को ठीक-ठीक अपने स्वरूप में ही डालो तो झंझट तुम्हें नहीं मालूम पड़ेंगे। प्रभु पूज्य अवस्था तो यह तुम्हारी ही है। इस प्रभुने जैसा आनन्द प्राप्त किया है वैसा ही आनन्द इस मेरी प्रभु आत्मा में भरा हैं। बस अशुद्धि मेटने लगो, मिल जायगा। जैसे पैर के आगे पैर

रखकर चलें तो हम मंजिलपर क्यों नहीं पहुंचेंगे ? चलने से ही हम आगे पहुंचेंगे और बैठे से हम बैठे ही रहेंगे। यदि तूने बैठने का ख्याल किया तो बैठा ही रहेगा और यदि चलनेका ख्याल किया तो आगे बढ़ जायगा। अपने भगवानके पास कैसे नहीं पहुंचोगे ? अरे पैर भी थक जावें तो सोचो कि अभी मेरे पास ही तो हैं। यदि थक भी जाओगे तो हिम्मत तो बनी रहेगी। इसी तरह अशुद्ध को मिटा दो अभी यह काम बन जायगा। मोक्ष में पहुंचने के लिए कोशिश करो, परमार्थ देखो, उसमें रुचि जायगी। जैसे कोई काम करता है, हलुवा बनाना सीख रहा है तो उसमें उसकी रुचि होती है, उत्साह होता है। इसी तरह शुद्ध ही रहो, आनन्द हो रहा हो, दर्शन हो रहे हों, उस अपने के निकट पहुंच रहा हो तो उसमें उसकी रुचि बढ़ेगी, उसका उत्साह बढ़ेगा।

कोई घटना ऐसी आ जाय कि जिसमें हजार पांचसौ मिलते हों, मगर उसमें झूठ या अन्याय करने की नौबत हो। उस समय सच्चा निर्णय करनेके लिए दिल बना रहे। झूठ न बोले, सच्चाई में उसका दिल बना रहे और यह देखो कि हजार पांच सौ जाते हैं तो जाने दो। उन हजार पांच सौ जाने से भी बड़ा आनन्द मानो। और यह बात मानों कि मुझे बड़ी प्रसन्नता है। उसने अपने से अशुद्धि को मिटाया और जो शुद्ध है उससे ही प्रसन्न हुआ। तो भैया, संतोष की बात तो यही है। इसी प्रकार से अशुद्धियों को बाहर करते-करते वह मंजिल निकट आ जायगी और ज्यों ज्यों अपनी मंजिल निकट आती जायगी त्यों त्यों संतोष बढ़ता जायगा तथा आनन्द का अनुभव होगा।

एक मुसाफिर था। वह पैदल यात्रा करते हुए जंगलमें रास्ता भूल गया। शाम का समय था, दो तीन मील जाकर भूल गया था और पगडंडियों से चल रहा था ? एक घन्टा हो जानेके बाद वह सोचता है कि यदि मैं और आगे बढ़ता ही चला जाऊंगा तो पता नहीं कितना भूल जाऊं, और फिर मुझे भूल निकालने का मौका भी नहीं आये ऐसा सोचकर वह रुक गया और वहीं रात व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। पर चिंता लगी हुई है कि मैं कितना भूल गया ? अब मुझे कहां से जाना है, कहां रास्ता मिलेगा ? इसी भूल में पड़ा पड़ा वह देखता है कि एक क्षणिक बिजली चमकी। उसने देख लिया कि सामने सड़क है जिससे मुझे जाना होगा। अब वह निःशंक हो गया। ऐसा निःशंक होकर वह सोचता है कि मैं रास्ता भूल तो गया हूं पर इतनी ही भूल में पड़ा हूं। यह भूल यों ही मिट जाया करती है तो मिट जायगी। सवेरा हुआ तो सामने देखा कि थोड़ी दूर पर सड़क है, सड़क पर लोग चल रहे हैं। वह भटक गया था, पर

संतोष किए हुए था। इसी प्रकार यदि ज्ञानी विषयों में भटककर अपने ज्ञान को भूल गया है तो कुछ भी विवेक हो तो वह इस भूल को न बढ़ायगा, रुक जायगा। कभी उसका ज्ञान सच्चाई को लेकर आता है तो वह समझ जाता है कि यह आत्मदर्शन का मार्ग है जिसपर हमें चलना है। देखो भूल का मिटना व ज्ञान का होना दोनों एक साथ होते हैं। इसमें ज्ञान का तो उत्पाद है और अज्ञान का व्यय है। यह सब धर्मपालन एक इस आत्मापर ही निर्भर है। क्या आनन्द भी आयगा? हां आनन्द भी इस आत्मा में आयगा। आनन्द तो आत्मा का स्वभाव ही है। जब भूले हुए पथिक को ज्ञान होता है तभी यह उत्साह बढ़ता है कि अब मैं अपनी भूल से उऋण हो रहा हूं, मैं अपने सही मार्ग में जा रहा हूं। अब वह ऐसे उत्साह से चलता है कि जो पगडंडियां सड़कसे मिला देंगी उन्हीं पगडंडियों से समझकर चलता है। अब सड़कपर वह मुसाफिर पहुंच जाता है तो उसे बड़ा संतोष होता है। अब तो करने योग्य जो काम था कर लिया, अब आनन्दमें बहता चला जा रहा था। जहां जाना था उस स्थान पहुंच जाता है। पहुंचकर वह विश्राम करता है। अब बिल्कुल निश्चित हो गया। इसी तरह जगत का प्राणी अज्ञान के अंधेरे में विषयकषायों की गलियों में भटक गया, वह अपने को भूल गया है। इस भूल में बढ़ने से बढ़कर भूल हो जाती है तो वह सोचता है कि इस भूल में बढ़े मत, नहीं तो जितनी भूल बढ़ जायगी उतना ही वापिस होने में कठिनाई पड़ेगी। विषयकषायों में मत फंसो। तुम निर्णय कर शांति का मार्ग ढूंढ़ो। बस इसी से प्रेम करना भक्ति होता है। यदि तूने विषयकषायों से अपने को दूर रक्खा और शांति के मार्ग का पता लगाया तो मुझे संतोष आयेगा, भक्ति आयेगी। तो इन साधनों के बीच रहते हुए कभी अंतर में बिजली चमकती है तो निर्मल अवस्था का अवलोकन होता है और केवल ज्ञानमात्र स्वरूप का निर्णय करता है। शांति का मार्ग यही है। इसी तरह के मार्ग से जो आप चलना चाहें तो मोह और विषयों में जो लग रहे हो उसको भूलकर सही मार्ग का पता लगावो। जब उस सही मार्ग का पता लगा लोगे तब तुम्हें शांति प्राप्त होगी, संतोष प्राप्त होगा। जब तू अपनी भूलों में पड़ जाता है, विषयों में पड़ जाता है तो संतोष नहीं प्राप्त होता है। यदि अपने को भुलावे में डाल लिया तो शांति का असर उसके दिल में नहीं होगा। यदि वह ज्ञान से अच्छे मार्ग में आ जाता है तो वह संतोष प्राप्त करता है, क्योंकि उसे भूल का पता लग गया।

यह स्वभावमात्र वस्तु हूं, अन्य पदार्थ अपने अपने सत्तामात्र हैं। इनसे मेरा कुछ

सम्बन्ध नहीं है। यह कल्पना बना लेने से कि यह परपदार्थ मेरे हैं उसकी शांति खतम हो जाती है, मोक्षमार्ग से हटता रहता है और संसार के जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है। उस मोही प्राणी की यही स्थिति बनी रहती है। परन्तु यह मेरे नही हैं, ऐसी कल्पना जो बना लेता है उसे संतोष प्राप्त होता है और उसे जन्ममरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। पानी में कमल का पत्ता पड़ा हुआ है, पानी से वह पत्ता बिल्कुल भिन्न है, पानी का पत्ते पर कुछ असर नहीं, पत्ता गला है या सड़ा। उसमें तो पानी धुसता ही नहीं है। पत्ता तो सूखा ही सूखा होता है। निकालकर देख लो पत्ता सूखा ही निकलेगा। यह गृहस्थी प्राणी भी घर में रहते हुए भी सुखी रहता है। कोई उसका पता लगाने वाला नहीं है। घर में रहते हुए भी घर वालों का उसपर असर नहीं है। वह सदा सुखी रहता है। जो बाह्य पदार्थों से संतोष प्राप्त करता है वह इस भूले जगत से हट जावे और अपने निज स्वरूप से ही संतोष प्राप्त करे। जो प्राणी इस जगत के मोह में पड़कर भूल गए हैं वे यदि अपने निजस्वरूप को देखकर संतोष प्राप्त करें तो वे आनन्दमग्न हो जावें। जिस प्राणी को आत्म-संतोष प्राप्त करना है, आनन्द-मग्न हो जाना है उसे सारे आरम्भ परिग्रह त्यागना होगा। और उसे कुछ काम करना नहीं है। यदि यह महान् पुरुषार्थ किया, सन्यास किया और अपने आपसे प्रेम किया तो वह इस जगत में आनन्दमग्न हो जाता है। अशुद्धि को दूर किया और शुद्ध को प्रकट किया तो यदि इस मार्ग से चलनेपर तो निर्विकार मार्गमें पहुंच जायगा। अपने आपको यदि अशुद्धि में रक्खा तो विकारयुक्त होकर उसे असंतोष हो जाता है।

हे प्रभु, तुम कोई बड़ी गजब की वस्तु नहीं हो। जानता हूं कि तुम अशुद्धि से हटकर शुद्धि के मार्ग में अपने को ले गए हो। हैरानी की बात कुछ नहीं है गजब कुछ नहीं है, किन्तु इसका स्वरूप बहुत महान है। कैसी अद्भुत शक्ति का विकास है? इस अपने आपको देखने में भक्ति है और बातों में भक्ति नहीं है। यह भगवान है, बड़ा है, बलशाली है इत्यादि बातों में भक्ति नहीं है। मुझे तो कुछ गजब ही नहीं दीख रहा है कि भगवान कोई गजब की चीज है। जैसे बिरादरी में कोई धनी है। कैसा भी हो, बिरादरी का ही तो है। उसे कोई धनी नहीं दीखता। यहां हम बैठे हैं वहां वह धनी आदमी बैठा है। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं दीखता है। तुम्हारी नगर महापालिका उच्च अफसर, जो तुम्हारे बगल में बैठे हैं वे तुम्हें गजब का काम करते हुए नहीं दीखते हैं। अरे वह शुद्ध प्रभु भी मेरी बिरादरी का है। जैसी वस्तु वह है तैसी ही मैं हूं। उस

शुद्ध प्रभु की अशुद्धि मिट गई, विकार मिट गया, ज्ञान की ओर दृष्टि हुई, ज्ञानमात्र हो गए, पर प्रभु में गजब कोई नहीं दीखता है। अपने से अपरिचित को जरूर गजब दीखता है। क्या है, कैसे हो गया ? बड़े गजबकी बात है, बड़ा अजब बना है। भगवान कोई और ही चीज हुआ करती होगी, ऐसे देखने लगते हैं, अरे हैरानी की चीज नहीं। भगवान की अशुद्धि मिट गई, विकार मिट गए। वह तो वही के वही हैं। पर हे जगत के प्राणी ! महत्ता तो तुम्हारी है। तुम्हारे में बलशाली ज्ञान भरा हुआ हैं। उस अपने ज्ञान को बाहरी पदार्थों में लगा रहे हो और अपने परिणामों को अनंतरूपों में बना रहे हो। हे प्राणी, अपने ही परिणामों से अपने को अनन्त योनियों में डाल रहे हो। कहीं कीड़े मकोड़े बन गए, कहीं पेड़ बन गए, कहीं कुछ बन गए, कहीं कुछ। इस प्रकार से जन्म-मरण के चक्र में डाल लिया। इसलिए हे प्राणी गजब तो तूने किया है।

यदि तू अपने को अनन्तरूपों में न माने तो समझो कि ज्ञान आ गया। यदि केवल एक ही ज्ञान का प्रताप तुझमें पड़ा हुआ है तो सारे क्लेश दूर हो जावेंगे। हे प्रभो, आपके ज्ञानमें इतनी शक्ति है कि तीन लोक के समस्त पदार्थ आप के ज्ञान के एक कोने में पड़े रहते हैं। यदि प्रभु के ऐसे विशाल ज्ञान का आदर है तो मेरे मन में उनकी महानता का आदर है। मैं भगवान में गजब कुछ नहीं देखता हूं। विकार हट गए, पवित्रता आ गई—ऐसी दृष्टि से वह ज्ञानी पुरुष हो गए। जिनकी दृष्टि प्रभुता के निकट विराजमान हो गई—उनके ज्ञान में अनन्त बल है। जो बल उस भगवान में है वह अन्य प्राणियों में भी हो सकता है अरे यदि मेरे में ज्ञानबल नहीं है, पवित्रता नहीं आ गई है, विकाररहित नहीं हो गया हूं तो इससे मेरी पराजय है। यदि मुझे अपना भान हो गया है तो जब चाहूं भगवान से मिल सकता हूं। इस ज्ञानी पुरुष का वह भगवान अत्यन्त निकट है। अन्तरदृष्टि में देखो तो वह विराजमान है। शुद्ध प्रभु जैसी स्थिति मेरे में भी हो सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं है। आत्मा तो दर्शन, ज्ञान, सुख, शक्ति का पिंड है। इस ज्ञान में कोई सीमा नहीं है। हमने अपनी अज्ञानता से ही इसमें सीमा डाल दिया है। वह अज्ञान की मेड़ बीच में पड़ जाती है इससे हमें क्लेश होते रहते हैं। मैं अज्ञान की मेड़ को तोड़ डालूं। बाह्य पदार्थों में दृष्टि लगाने की मेड़ तोड़ दी जाय तो सारा हो जायगा ज्ञान, एक असीम हो जायगा, इसकी सीमा खतम हो जायगी। अरे अपने आपके शुद्ध अशुद्ध स्वरूप को और वीतराग बुद्धि के विकास को तो देखो। मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान। जल का

स्वभाव और निर्मल जलमें कोई अंतर है क्या ? निर्मल जल पहिचानने में झट आ गया और जल के स्वभाव में दिमाग लगाने का काम है। जैसा निर्मल जल मुझे मालूम पड़ रहा है वैसा ही जल का स्वभाव भी पड़ा हुआ है। उस कीचड़ वाले जल में जल भी निर्मल है, कीचड़ मिला हुआ है, पर वह जल स्वच्छ है, निर्मल है। इसी प्रकार संसार की नाना स्थितियों में पड़े हुए इस मलीन आत्मा में भी स्वभाव वही है, वैसा ही स्वच्छ है। जैसा कि भगवान शुद्ध है वैसे ही यह आत्मा शुद्ध है। शुद्धिके विकासमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार प्रभु अनंत ज्ञान दर्शन और अनंत शक्तियों का पिंड है। इस ज्ञान के विकासके लिए सामर्थ्य तथा अंतरदृष्टि इत्यादि की आवश्यकता है। अपने को अपने सही रूप में निरखकर स्वयं ही अपने में शांति का मार्ग प्राप्त करें।

स्वरूप न सूझना और विषयकषायों में ही उपयोग को बनाए रहना यह बड़ा अधकार है। यह अंधकार अज्ञान से पैदा होता है। अज्ञान क्या वस्तु है ? पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा न मानना अज्ञान है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपनी-अपनी सत्ता को लिए हैं, अपने ही सत् से परिणमते हैं, किसी का किसी में प्रवेश नहीं है। इनके खिलाफ ऐसा समझना कि मैं अमुक वस्तु को कुछ कर दूंगा या अमुक मेरे लिए कुछ कर देंगे। इस प्रकार स्वतन्त्रता के खिलाफ विकल्प करना यह अज्ञान है। पदार्थ अपने में ही उत्पाद करते हैं, अपने में ही अपनी अवस्थाको विलीन करते हैं। और खुद-ब-खुद सदा बने रहते हैं। जैसे एक अंगुली है अभी सीधी है। इसको टेढ़ी कर दिया तो टेढ़ी बन गयी। वह अंगुली उस टेढ़ी अवस्था में उत्पाद वाली हुई और सीधी अवस्था में उसका व्यय हुआ यानी सीधी अवस्था विलीन हो गई। और अंगुली वही की वही बनी हुई है। इसी प्रकार परपदार्थ अपने ही स्वरूप में अपनी अवस्था का उत्पाद करते हैं, अपने ही स्वरूप में अपनी ही अवस्था का व्यय करते हैं और अपने ही स्वरूप को बनाये रहते हैं। इसे कहते हैं त्रिगुणात्मक पदार्थ। पदार्थों में यह तीन गुण भरे हुए हैं। प्रथम अवस्था का उत्पाद, द्वितीय पूर्व अवस्था को विलीन करना, तृतीय वह खुद-ब-खुद बनी रहे—ये तीन बातें पदार्थ में सदा चलती हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक से अलग है। जो खोटा रूप भी परिणमता है। दूसरा उसके साथ मिलकर खोटा रूप नहीं परिणमता है। पर दूसरे पदार्थ, जिसका निमित्त पाकर खोटे भाव होते हैं उनके सम्बन्धमें ऐसा मानना कि वे ही करते हैं इसके माने अज्ञान है। जो पदार्थ जिस रूप में हैं उनको वैसा न समझना अज्ञान है और जो जैसा है तैसा मानना ही ज्ञान है। इस ज्ञान के कारण

विषयों का अंधेरा समझ में आ जाता है। वस्तु की स्वतंत्रता का उपयोग करके जो वास्तविक आनन्द आता है तो उसमें आकुलता नही रहती है, उसमें परिणमन नहीं रहता है और अज्ञान रहता है, एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध माननेकी बात रहती है। तो ऐसी स्थिति में विषयों को लगाए रहना प्राकृतिक बात है, बाह्य पदार्थों में खपना प्राकृतिक बात है। यह बड़ा अंधेरा है। विषयों से प्रीति होना यह बड़ा अंधकार है।

विषय ६ प्रकार के होते हैं—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द व संकल्पविकल्प। इन ६ प्रकार के विषयों में रति होना यह अंधकार है। अपने आपको टटोलना चाहिए कि हम अंधकार में हैं या उजेले में हैं। स्पर्श विषयमें मुख्य तो वेद सम्बन्धी विषय हैं, फिर स्निग्ध रूक्ष ठंडा गर्म आदि जो ८ प्रकार के स्पर्श हैं वे हैं। स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, शीत, कड़ा, नर्म, हल्का भारी ये ८ प्रकार के स्पर्श स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। सो देखो निरन्तर ये प्राणी इनमें बहते ही रहते हैं। गर्मी लगती है तो ठंडी चीज चाहिए, ठंडा नहीं बना रहता है तो हवाकी जरूरत है, ठंडी लगती है तो गर्म चीज चाहिए इत्यादि। यह सब स्पर्श इन्द्रिय के विषय हैं। नर्क में रहने वाले अन्य पशु-पक्षियों में हो तो क्या यह सहज न कर लिया जायगा? हम ही गरीब हों तो क्या इतनी ठंडी गर्म न सह लेते? रसना इन्द्रिय का विषय में मीठा होना, खट्टा होना, स्वादिष्ट होना ये रसना-इन्द्रिय के विषय हैं। संसार के प्राणी कैसे इन रसों में रत होते हैं? कितनी तरह के व्यञ्जन बने, कितनी प्रकार के खाने की चीजोंका आविष्कार हुआ, जिनका नाम लिया जाय तो ३००-४०० नाम हो जावें। खाने की चीजोंके नाम हम कहते हैं और वस्तुओं के नाम हम नहीं कहते हैं, फलोंकी बात नही कहते हैं। भोजन बनाये जाते हैं तो कितनी तरह के बनते हैं, मिठाइयां बनतीं, चाय बनती, नमकीन बनती इत्यादि अनेक वस्तुवें बनती हैं। यह सब क्या है? रसनाइन्द्रिय के ही विषय हैं। सामने मिठाइयां, सेव रखे हैं, दाल-रोटी रक्खी है। दाल-रोटी रक्खी है तो कोई दाल-रोटी में ही संतोष कर ले तो समझो विजय है। वस्तुओं को देख लिया तो चख लिया, स्वाद लिया, यह सब क्या है? यह सब रसनाइन्द्रिय के विषय हैं। रसनाइन्द्रिय का जो विषय है वह भी अंध-कार है।

एक अंगुल दो अंगुल की इस नाकको खुश करनेके लिए कितने प्रकारके सुगंधित तेल हैं, कितने प्रकार के पुष्प हैं? इन सुगंधित पुष्पों तथा तेलों से इस नाक को खुश करते हैं। कहीं फूल या इत्र का फोवा नाकमें खुसा है, कहीं कान में खुसा है, कहीं इत्र

लगा दिया, कहीं अन्य कोई सुगंधित तेल लगा दिया। यदि कोई तेल लगा दिया तो वह खुशबूदार होना चाहिए। ये सब घ्राणइन्द्रिय के विषय हैं। विषय सेवते-सेवते भी संतोष तो नहीं आता। जो है वह ठीक है। यह हुआ तो क्या हुआ, इत्र है तो उसको क्या हुआ ? यह सब अंधकार है। विषयों का रस सुहाया, यह अंधकार है और इस अंधकार में ही चुलबुल करता हुआ यह जगत का प्राणी छिन्न-भिन्न बरबाद होता रहता है।

चक्षुइन्द्रिय का विषय देखो। नेत्रों ने एक-एक अंगुल में नए-नए खेल देखा तो मन बढ़ गया। जो कुछ देखा वह वही का वही है और खुद वही का वही है, पर जो कुछ देखा उससे मोह कर लिया। इस मोहके कारण वह दुःखी रहता है। सिनेमा देखा, नाटक देखा, इनमें कुछ है क्या ? किसी का रूप देखा तो है क्या वह अपने शरीर में देख लो ना, शंका हो तो अपने शरीर को तोड़-फोड़कर देख लो। बरसात के दिन हैं तो शरीर अपने को नहीं सुहाता। गर्मी के दिन हुए तो शरीर व कपड़े नहीं सुहाते। कपड़ों के साथ ही साथ शरीर भी नहीं सुहाता है। और भी जीव पदार्थो को सुन्दर-सुन्दर रूप, ड्रेसैज, आकार तथा अन्य नई-नई कमीजें वगैरा बनाना, नई-नई डिजाइनों का बनाना, कहीं कुछ बनाना, कहीं कुछ बनाना। यह सब क्या है ? यह सब चक्षुइन्द्रिय के विषय हैं। नेत्रइन्द्रिय के विषय में यह रत होता रहा है, पर यह यही तो बनेगा। गुरुजी सुनाते थे कि सागर में एक कान्सटेबिल था। वह वेश्यामें आसक्त था। जो कुछ धन-दौलत उसके पास थी, सब वेश्या के पास पहुंच गयी। वह अब बड़ी अवस्था का हो गया था। अब धन तो वेश्याके पास आ गया। अब उसे क्या परवाह है ? वह अपने घर न आने देवे उसे सिपाही को। कान्सटेबिल उसके घर के सामने ही रातदिन पड़ा रहा। किसी ने पूछा—भाई साहब, तुम यहां क्यों पड़े रहते हो ? कहा—पड़ा रहता हूं इसलिये कि रात-दिन में कभी तो घर से बाहर निकलेगी ही, देख लूंगा। हाय, हाय, क्या मिल गया ? रात-दिन पड़े रहे। वह पदार्थ अपनी जगह पर है, आत्मा में आत्मा है, शरीर में शरीर है। जो जहां है तहां ही रह जाता है, हाथ में कुछ आता नहीं है। यह क्या ? यह नेत्र विषय के रूपों का अंधकार है।

कर्ण का विषय देखो—कितनी तरह के राग हैं, अभी कोई शब्द सुन्दर गायन हो तो यह संगीत सुनने चला कि कुछ सुन लें। देहातों में रद्दी अलाप होते हैं उनको सुनने की भी इच्छा होती है। सपेरा बीन बजाता है वह भी सुहाती है। हर तरह के

जो सुहावने शब्द सुनाई पड़ते हैं वह भी सुहाते हैं। यह क्या है ? यह कर्ण के विषयोंकी रति है। इन विषयों का अंधकार है। मन को देखो उसका विषय सबसे बड़ा है। मन चाहता है कि इतना धन रहे, इतना वैभव रहे, किसी से पीछे न रहूं, आगे बढ़ूं। यह सब मन सोचता रहता है और ये ही विकल्प जन्ममरण के चक्र में डालनेके मूल कारण हैं। जैसे कलकत्ता को सोच लें तो सोचने में देर नहीं लगती है। एक मिनट भी नहीं लगता, आधा मिनट भी नहीं लगता, एक सेकेण्ड भी नहीं लगता। मनने इच्छाएं की कि हमें फलां चीज खाना है, फलां चीज पहनना है तो यह सोचने में देर नहीं लगती है। यह है मनका विषय और जो पंच इन्द्रियों के विषय हैं वे भी मन के विषय बन गए। यह मन वाले के विषय तो पंचइन्द्रियों के विषय में भी मन के साथ सदा चला करते हैं। ऐसे जो विषयों में अंधेरा है जो कि अज्ञान स्वभाव से उत्पन्न होता है उस अंधकार को नष्ट करके अपने आपको सुखी करु। इस अंधकाररूप अज्ञान को दूर कर ज्ञान के द्वारा इस कर्मको जलाऊं। कल्पनाएं करके दुःखी हो गया और फिर कल्पनाएं ही करके सुखी हो गया, आत्मध्यान से आनन्दमय हो गया। न कुछ लेना पड़ा, न देना पड़ा, न कुछ खटपट पड़ा, न मुसीबत पड़ी, केवल अपना ध्यान बना लिया सारे दुःख मिट गए।

देखो दुःख तथा सुख में है क्या ? केवल कल्पनाएं बना लेते हैं। मैं इन कलंकों से रहित, विषयकषायों के बन्धन से रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव करूं और अपने शुद्ध ज्ञान तत्त्व में रमकर इन कर्मों को जलाऊं। यही ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के साथ रम गये हैं। ये कैसे दूर होंगे ? इसका उपाय केवल यही है कि सबसे निराला, शुद्ध ज्ञानमात्र अपने को पक्का जानूं। तो उपयोग बनाने का यह काम हो सकेगा तथा यह कर्म बाहर हो जाते हैं। शुद्ध स्वभाव वाला मैं प्रैक्टिकल हूं तो कर्म बाहर हो जाते हैं। केवल बोली के सुनने से, बकने से कर्मों में असर नहीं होता। जितने भाव बने हैं शुद्ध अशुद्ध उन भावों से असर कर्मों में होता है। यदि शौंक से नाना ज्ञान सीखे तो यह तो मनका विषय बन गया। पर विषयकषायों में फर्क है। इस मन के विषय के भीतर आत्मनिर्णय की भावना साफ है। और दुनिया के विषयों में केवल मन को बुरा लगाने की बात है। इतना ही अन्तर है। तो इन सब विषयकषायों की तरंगों से परे जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व है उस ही रूप अपने को मानो, ऐसा हो उपयोग बनाओ। बस यह ही कर्मों को बाहर करने का उपाय है। कर्म और तरह से अलग हो

नहीं सकते। धर्म भी करें, पूजा भी करें, भक्ति भी करें, दान भी दें, सब कुछ करें, मगर जितने अंश में भाव निर्मल हैं उतने अंशों में काम हो रहा है। इसी काम के होने से सब कुछ मिल सकता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये तीव्र कैसे होते हैं ? अधिक क्रोध किसे कहा जाय ? पदार्थों की बात में क्रोध बढ़े उसे अधिक क्रोध कहा जाय। धर्म के कामों में क्रोध बढ़े तो तीव्र क्रोध है। धर्मधारणा करके क्रोध बढ़े, जैसे मुझे किसी ने छू लिया उसे हम कन्टाबमारें कहें क्यों छू लिया ? अभी हम स्नान करके आए। धर्म का कार्य समझते हुए भी उनमें क्रोध करना तो यह तीव्र क्रोध हुआ। धर्म के इस प्रसंग में क्रोध साफ हो जाना चाहिए था, क्रोध तीव्र कैसे हो रहा है ? धर्मधारण हो तो क्रोध ठहरेगा नहीं। मान की बात भी देखो—यह आत्मा ऐसी है कि धन के होने के कारण अपनी सभी इज्जत मान रहा है, यह तो हुआ उसका घमंड। गरीब से धनी हो रहे हैं, धनको और जोड़ना चाहते हैं। एक आदमी ऐसा है जो पूजा उपवास आधि धर्मका काम करके अपने को धर्मात्मा जताता है। यह अधिक घमंड हुआ। धर्म के काममें छल कपट करना तीव्र माया है। धर्म के काम में छल कपट करना तीव्र माया है। धर्मके काम में लोभ करना तीव्र लोभ है। कोई पुत्र आदि बीच में बीमार हो जाय। पांच सौ रु० मासिक उसमें निकल गए। ६ मास पड़े ही रहे। यह सब करने से वह मोह कर रहा है। अपने बच्चे के लिए दवा कर रहा है कि ठीक हो जावे। उसमें भी मोह है। किसी का मोह किसी जगहपर उतरता है और किसी का अन्य दूसरी जगह में। लोभ परिवार में हो जाता है। जितना भी करते हैं वह सब अपने परिवार के लिए करते हैं। वह अपने परिवार के लोगों को ही सर्वस्व समझते हैं तो यह धर्म नहीं हुआ। इसमें लोभ है।

हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को देखो। एक पुरुष पिता के खूब गुण गाता है पर पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता है, पिता के भीतर होने वाली इच्छाओं का आदर नहीं करता है। और एक पुरुष वह है जो अपने पिता का गुणानुवाद नहीं करता और पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए वह तैयार है। तो बतलाओ कि कौनसा पुरुष अच्छा है व भक्त है ? पुरुष वही अच्छा है व भक्त है ? पुरुष वही अच्छा है जो पिता को गुणानुवाद तो नहीं गाता है, परन्तु आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार है।

एक आदमी ऐसा है जो भगवान की १० बार पूजा करता है, भगवानको हैरान

कर डालता है और एक ऐसा है जो केवल भगवान का स्मरण मात्र कर लेता है। शुद्ध स्वभाव का ध्यान करता है और भगवान का हुक्म मानता है। तो बताओ कौन अच्छा है ? भक्त वह है जो भगवान का हुक्म माने। भगवान का हुक्म यह है कि अपने आपको ज्ञानमात्र, सबसे निरालासमझो। अब सोचो मैं इस अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अंधकार को नष्ट कर ज्ञानमात्र आनन्दमय अपने आपको देख करके ध्यानरूप अग्नि के द्वारा इन कर्मों को जलाऊं और निष्कलंक होकर अपने आपमें अपने आप सुखी होऊं।

यह रागादि भाव अज्ञानी को बड़ी पीड़ा दिया करते हैं। ये पीड़ा देते हैं तो दें, कब तक देंगे ? यह तब तक ही पीड़ा देंगे जब तक कि मैं ज्ञानसागर में डूब न जाऊं। यह कर्म तब तक जीवों को सताते हैं जब तक कि वे ज्ञानसागर में नहीं डूब जाते। जैसे धूप से पीड़ित मनुष्य को गर्मी तब तक सताती है जब तक ज्ञानसागर में वह डूबता नहीं। जब तक ज्ञान में ज्ञान नहीं प्रवेश करे तब तक संतोष कैसे उत्पन्न हो सकता है ? जब तक ज्ञानसागर में डूबे रहें तब तक रागादि से संताप नहीं हो सकते। ज्ञान दो किस्म के हैं—एक आत्मा का ध्यान, दूसरा परवस्तुवों का ध्यान। परवस्तुवोंकी कल्पनाओं से दुःख होता है और अपने स्वरूप का ध्यान करने से दु,ख दूर हो जाते हैं। लेना-देना कुछ नही है, केवल परिणामों की बात है। सुख होना, आनन्द होना केवल भावों के परिणाम की बात है। देखो इतनी बड़ी समस्या, इतनी बड़ी प्रौबलम केवल एक विचार-परिवर्तन से ही हो जाती है तथा हल भी हो जाती। कम धन होने से दुःख होता है, रोजिगार करते हैं, यह करते हैं, वह करते हैं, कितने ही यत्न करते हैं पर उससे यह समस्या हल न होगी। घर आदि की समस्या बाह्य संचय से हल न होगी। लड़कों को संग में रखना, कुटुम्ब को बांधकर रखना, परिवार में रहना, इन सबसे घर की समस्या हल नहीं होगी। किसी से भी अच्छा बनें, बुरा बनें, कुछ भी कर लें, पर यह समस्या हल नहीं हो सकती है। इस समस्या का हल विकार के तिरस्कार से तथा स्वभाव के दर्शन से होगा। स्वभावदर्शन क्या है ? जैसे खुद का स्वरूप है तैसा ही उपयोग बन गया यही स्वभावदर्शन है, इसी से सब समस्याएं हल होंगी।

कैसा है यह अपना स्वरूप ? पहले तो सबसे निराला, किसी से मिला-जुला नहीं, अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाला, अपने आपके स्वभाव को अपने आपके अस्तित्व में लिए हुए है। यह भाव मात्र है। उसमें कुछ खटपट नहीं, उसमें कोई झंझट नहीं। इस मुझ में लेनेके देनेके दूने नहीं मिलेंगे। मैं केवल भावमात्र हूं, ज्ञानभावमात्र आनन्द-

मात्र हूं, सबसे निराला हूं, ज्ञान और आनन्दमात्र हूं। रंच भी दूसरे पदार्थों के साथ सम्बंध नहीं है। मगर जहां मोह उठता है तो वहां सारा का सारा कैसा मालूम पड़ता है ? यह मेरा लड़का है, यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार है, ऐसा उछल-उछलकर रहता है। विपदाओं का कारण यह मोह ही है, नहीं तो मैं आनन्दानुभव वाला तथा जो सबसे निराला हूं। आत्मा स्वयं ज्ञानघन है, आनंदमय है पर मोह ऐसा गंदा विष है कि अनहोनी को होनी बना देना चाहता है। मोह ही तेरे दुःख का कारण है। दूसरा तेरा दुःख का कारण क्या है वह बतला ? अरे दुःख का कारण दूसरा नहीं। यह मोह ही दुःख का कारण है। यह मेरा है, यह उसका है। यह क्या है ? यह मोह ही तो है। अरे यदि यह मोह हट जावे तो दुःख भी हट जावेंगे। ये सब यहीं के यहीं रह जावेंगे, जिनमें तू मोह कर रहा है वे भी नहीं रहेंगे, तू भी नहीं रहेगा। रहेगा तो केवल हमारा स्वरूप ही हमारे साथ रहेगा। यदि तू अपने इस शुद्ध स्वरूप का उपयोग बना ले तो तेरे साथ यह स्वरूप संस्कार रहेगा। रागादि भाव पीड़ा देते हैं तो दें। अरे यह पीड़ा ही क्यों देंगे ? यह तेरे को तभी पीड़ा दे सकते हैं जब कि तू ज्ञानसागर में डूबकर प्रवेश न कर जाए। तू जिसको जान रहा है उससे ही तुझे दुःख होते हैं। अरे तू इनको न जानकर अपने को जान। परिवार के छोड़ने का क्या दुःख ? अगर परिवार ज्ञान में लीन हो गया तो क्या दुःख होंगे और अगर तेरा ज्ञान याने तू ज्ञानसागर में डूब गया तो सुखी रहेगा। दुःख तो तुझे तब होंगे जब तेरा लगाव, तेरा मोह उनसे होगा। जैसे कहावत में कहते हैं कि तुम्हें आम खाने से काम कि पेड़ गिनने से। तुझे आनन्दसे काम है या लड़कों बच्चों से काम है। तुम्हें यदि लड़कों बच्चों से आनंद मिलता है तो उनसे ले लो या अपने आपसे मिलता है तो अपने आपसे ले लो। आनंद तो इस आत्मा में है। यदि आत्मा में ही दृष्टि रहे, आत्मा में ही झुकाव रहे तो सुखी रहेगा। और दुःख तो तब है जब तेरा झुकाव परमें होगा, मोहमें होगा, कुटुम्ब परिवार में होगा। यदि तू अपने ख्याल को अपने कुटुम्ब, परिवार से छोड़ दे तो दुःख कैसे होगा ? यदि अपना लगाव कुटुम्ब, परिवार, धन-वैभव आदि में होगा तो तुझे दुःख होंगे। देखो भैया ! बाहरी बातों में क्या रखा है ? यदि तू धनी है तो ज्यादा से ज्यादा यह होगा कि दो-चार मोही पुरुष यह कह देंगे कि यह बहुत धनी है। करोड़ों का धन जोड़ लिया और उसका फल क्या मिला कि केवल दो-चार मोही यही कहेंगे कि यह बड़ा धनी है। अरे तुझे तो पेट भरना है, और दो कपड़ा पहिनना है। इतना ही तो यहांका काम है, इससे

ज्यादा और कौन काम है ? तूने इतना श्रम करके, मिथ्यात्व करके करोड़ों का धन एकत्रित कर लिया है और उसका परिणाम केवल इतना है कि दो-चार मोही यह कह देंगे कि वह धनी पुरुष है । इतना फल है, कितनी मेहनत की, रात-दिन चिंताएं रहीं, यह चिन्ताएं और विपदाएं केवल इस प्रयोजनपर रहीं कि ये मोही पुरुष दो शब्द बोल दें । वह मोही ऐसे हैं जिन्हें अपने का ख्याल नहीं है, जो गंदे हैं, मोही हैं, संसार में घूमने वाले हैं, संसार का पता भी नहीं है और ममत्व में फंसे हुए हैं । ऐसे दो चार व्यक्तियों के द्वारा उसे प्रशंसा मिलती है इतना परिश्रम करनेपर ।

हे संसार के प्राणी ! तेरे में अपनी बेसुधी की ही भूल भरी रहती है, नहीं तो धर्म का मार्ग गृहस्थी को बिल्कुल सीधा है । अपनी दिनचर्या में ६ घंटे का काम करने को दिया है या ज्यादा से ज्यादा ८ घन्टे तक काम करो । अपनी दुकान में इतना ही समय दो और जो कुछ पुण्य के अनुसार मिल जावे उसका ही हिसाब लगाकर व्यय कर संतोष प्राप्त करो । जो कुछ आमदनी हो जाय उसी से संतोष रक्खो । चाहे चना नमक खाने भर को ही हिस्से में आवें उससे ही संतोष प्राप्त करना चाहिए और उसी स्थिति में ही अपनी धुन को धर्म में लगाना चाहिए । इतनी हिम्मत हो कि न्याय से काम करेगा चाहे कुछ मिले अथवा न मिले । अपने सादे कपड़े पहिनकर धर्म के गुणानुवाद में स्वरूप के ध्यान में अगर मन लगाता है तो वह सुखी है । उसे चाहे खराब दिन भी आवें तो परवाह नहीं है । यह उत्साह से कार्य करेगा व आनन्दमग्न होगा । यदि इन लटोरों घसीटोंमें ही उपयोग बना रहा तो दुःख होगा । यह तो सब लटोरे घसीटे खचोड़े हैं । इन सबमें तू अपना उपयोग न बना । नहीं तो तुझे दुःख होंगे ।

यहां जो कुछ पाया है वह सब मिट जायगा । यह मालूम होते हुए भी यह मोही प्राणी केवल उन दो चार मोही प्राणियों के दो शब्दों को सुनना चाहता है । उन्हीं के खातिर वह अनेक विपदाएं सहन किया करता है, अपने को पीड़ा दिया करता है । यह धन का राग उसे दुःख देता है, उसमें क्लेश उत्पन्न कर देता है ।

जैसे कोई बच्चा अपनी मां के पास बैठा हुआ है । बच्चा अपनी मां से यह कहेगा कि वहां चलो, वहां बैठें, वह लावो, इस तरह से बच्चा कहता है और यदि मां नहीं करती है तो बच्चा अपना मुंह घुमा लेगा, रोवेगा, जमीन में लेट जायगा । केवल इतनी बात पर कि मेरी बात नहीं रही कि मां ने कहना नहीं माना, मां से वहां चलने के लिये कहा—नहीं गई । केवल इतनी ही बात है । बच्चा न कुछ कल्पना से कितना

उपद्रव करता है ? इसी प्रकार से यह मोही प्राणी माया में पड़कर दूसरों से दुश्मनी कर डालते हैं। अरे कौनसी बातका असर है जो दुश्मनी कर डाली ? निजी चीज जिसे माना वह भी निजी नहीं, यदि पूछा जाय कि दुश्मनी क्यों कर डाली तो यही कहेंगे कि मेरी बात नहीं रही। ये रागादि विकार करके दुःखी होते हैं। यह रागादिक विकार कब तक दुःखी करेंगे जब तक कि ज्ञानसागर में हम डूब जावें।

राम, लक्ष्मण, सीता इत्यादि महान् आत्माओं के जीवन-चरित्र को देखते हैं कि जब तक इन्होंने सन्यास नहीं धारण किया है, त्याग नहीं किया है तब तक ये दुखी रहे हैं, परन्तु अन्तिम जीवन में उन्होंने त्याग किया, सन्यास किया तो उनका जोवन सुखी हुआ। आज उन्हीं की महिमा का गुण गाया जाता है। जब तक कि इन आत्माओं का जीवन घर में ही व्यतीत हुआ है तब तक उनकी कोई कीमत नहीं थी। परन्तु अपने अन्तिम एक चौथाई जीवन में ही सन्यास धारण कर अपने जीवन को सफल बनाया। जब तक वे अपने घर से न निकले थे, पालने में झूला झूलते थे तब तक उनके गुणों का गान न होता था, परन्तु जब अपने घर से निकलकर सन्यास किया तो उनके गुणों का गान हुआ और वह मोक्ष गए। इस कारण पुराना जो घरेलू जीवन था उसके चरित्र के भी गुण गाये जाते हैं। इसी तरह तीर्थंकर भी जब तक अपने घरमें रहते थे तब तक उनके गुणोंका वर्णन भगवानके रूप में नहीं होता था। परन्तु बादमें चरित्र निर्मल हुआ, अपने आपमें रमें, अपने घर द्वार स्त्री आदि से विमुख हुए और अपने जीवन को सफल बना सके, निर्वाण पधारे तब पुराना सारा जीवन प्रभुभक्ति की पद्धति में आ गया। इस जगत के प्राणी का इतना जीवन गुजर गया और इतने जीवन में बहुत सी बातें रहीं। उन उन बातों में क्यों रोते हैं ? अब इस अपने इतने जीवनको सम्भाल लें तो कल्याण है।

राजा बक पहले तो मांसभक्षी थे। अंजन चोर आदि वेश्या में आसक्त थे। अत्यन्त दुराचारी थे। बाद में उन्हें ज्ञान मिला। उस ज्ञान के कारण ही वह तर गए। अनेक लोग उनके गुण गाने लगे और कहने लगे कि देखो यह कितना मांसाहारी थे और तर गए। बाद में उनकी महिमाका गुणानुवाद हुआ। उदयसुन्दर अपनी स्त्री में अत्यन्त आसक्त था। वह मोहमाया में अत्यन्त लीन था। वह रास्ते में मुनिमुद्रा के दर्शन करके विरक्त हो गया, तबसे ही उसके गुणों का गान किया जाता है। लोग बाद में कहने लगे कि वाह वह कैसे अशुद्ध थे और शुद्ध बन गए। अच्छा चरित्र बनने

पर पहिले चरित्र भी किसी रूप में गुणानुवाद में आ जाते हैं। हे आत्मन् ! तू अपने रागादि से उत्पन्न दुःखों से क्यो रोता है ? तूने ही तो इन दुःखों को बनाया है। यह तेरे रागादि भाव तब तक तुझे पीड़ा देंगे जब तक तेरी आत्मा में ज्ञान प्रविष्ट नहीं होगा। तू अपनी आत्मा में ज्ञान प्रविष्ट कर अपने आनन्दस्वरूप को निरख। इसी से तेरे समस्त क्लेश समाप्त हो जावेंगे। यदि तुम्हें आत्मस्वरूप में आनन्द मिलता है तो उसमें झुको और यदि दुनिया के परपदार्थों से आनन्द मिलता है तो परपदार्थों में झुको। यदि तू अपने निजस्वरूप से आनन्द प्राप्त करेगा तो तुझे आनन्द प्राप्त होगा और शांति मिलेगी। पर यदि बाह्य पदार्थों से आनन्द प्राप्त किया तो उसमें अशांति ही अशांति रहेगी। जिस काम में दो-चार वर्ष तक टोटा ही टोटा रहे उसको बुद्धिमान व्यापारी बदल देता है। इस बाह्य आनन्दमें ही यदि तू पड़ा रहा तो शांति नहीं मिलेगी तो तू ऐसे रोजिगार को बदल दे। अपने आपके आत्मस्वरूपमें यदि आनन्द प्राप्त किया तो उससे शांति मिलेगी। इसलिए तू ऐसा ही व्यापार कर। यदि तूने एक आत्मा की सही बात जान ली तो करने योग्य २० बातें खुद ही जान लेगा। १० बातों को बताने की जरूरत नहीं। एक घटना है कि बुन्देलखण्ड में एक राजा रहता था, वह राजा गुजर गया। उसका पुत्र नाबालिग था। अब वह लड़का २०-२२ वर्ष का हो गया। उसकी मां ने कहा कि मेरे लड़के को राज्य सौंप दिया जाय। उसकी मां ने उसे समझा दिया कि जो बादशाह पूछे उसका यों उत्तर देना। यदि यह प्रश्न पूछे तो यह उत्तर देना, यह प्रश्न पूछे तो यह और यह प्रश्न पूछे तो यह उत्तर देना। इस तरह से १० बातें मां ने उसे समझा दीं। उस राजकुमार ने कहा कि यदि इन १० बातों में से एक भी न पूछेंगे तो क्या कहेंगे ? मां बोली कि कुछ अपने आप उत्तर दे सकते हो। राजकुमार ने कहा कि क्या मुझे कल्पना भी अपनानी होगी। माँ बोली कि यह तो बड़ी बुद्धि और प्रतिभा की बात है। राजकुमार बादशाह के सामने बुलाया गया। बादशाह कुछ नहीं बोला। उस लड़के के दोनों हाथ पकड़ लिया और कहा कि अब तुम पराधीन हो गए, विवश हो गए, अब तुम मेरा क्या कर सकते हो ? राजकुमार ने कहा कि अब क्या है, अब तो मैं सब कुछ कर सकता हूं और अब मैंने सब कुछ कर लिया। जब स्त्रीके साथ शादी में हथेलवा होता है तो एक हाथ पकड़ लेने से स्त्री की जिन्दगीभर रक्षा करनी पड़ती है। एक हाथ के पकड़ने से जिन्दगीभर रक्षा करनी पड़ती है तो दोनों हाथों के पकड़नेपर क्या कहना है ? हम तो अब बिल्कुल स्वतन्त्र हो गए। यह सुनकर बादशाह

प्रसन्न हो गया और उस राजकुमार को राजगद्दी दे दी गयी। इस कमंडल को कैसे उठाना है, कैसे क्या करना है आदि बातों को क्या सीखना है। यदि इस यथार्थ बात को समझ लिया तो इतना ही क्या है ? बीसों बातें अपने आप समझ में आ जावेंगी। यदि अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतिभा जग जाय तो सारी बातें आ जाएं।

यहां उपद्रव करने वाले भाव बहुत हैं। मगर ज्ञानस्वभाव में प्रवेश करने पर वे कुछ नहीं। गंगा नदी में पानी में एक जानवर था आराम करने के लिए मुंह उठाकर पानी के बाहर थोड़ा शरीर निकालकर जाता है। चारों तरफसे सैंकड़ों पक्षी उस जानवरपर हमला करने के लिए आते हैं। पर यदि वह थोड़ा पानी में खिसक जाता है। तो वे सारे पक्षी बेकार बेकरार होकर भाग जाते हैं। रागादिक भाव नाना प्रकार के विचार इस ज्ञानगंगा जीवनके बाहर मंडरा रहे हैं, सब हमारे ऊपर हमला कर रहे हैं। यदि हम जरासा इन रागादिक भावों से विलग हो जावें व ज्ञानगंगा में मग्न हो जावें, फिर निरखिये तो ये हमारा कुछ नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार से गंगा नदी में जीव के दब जाने से सारे पक्षी व्यर्थ हो जाते हैं, सारा उन पक्षियों का परिश्रम बेकार हो जाता है उसी प्रकार इन रागादिक भावों को जो कि हमें पीड़ा देते हैं, हम अपने मोह को ज्ञानमें दबा लें तो ये रागादिकभाव हमारा कुछ नहीं कर सकते हैं। जब तक ज्ञानस्वरूप में ज्ञान नहीं है तब तक ये रागादि पीड़ा देते हैं। सो अब मैं उन मोहियों के दो शब्दों से हटकर, ज्ञान में ही डूबकर, मग्न होकर, ज्ञान के स्वरूप को ही ज्ञान में देखकर जहां ज्ञान ही जानने वाला है, ज्ञान ही जिसमें जाना जाने वाला है याने ज्ञेय होता रहता है और वह ज्ञान जानकर ज्ञानीमात्र ही रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी, ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं रहता है। जिसमें भेद नहीं है उसमें ही यह अद्भुत परम आत्मानुभव का आनन्द है। जानने वाला तो मैं हूं और ज्ञेय बना रहता हूं। दुनियाके अनेक पदार्थ जहां हैं वहां तो आकुलता रहेगी और जिसका जानने वाला मैं हूं वहां मैं ही ज्ञेय बना रहता हूं। ज्ञेय को ज्ञान में जानें, यह है सबसे अच्छा रोजिगार। जो तीन लोक का नाथ बना दे यह है विलक्षण व्यापार। किसलिए जान रहे हैं ? जान रहे है, इसलिए जान रहे हैं। इस जानने के आगे और कुछ प्रयोजन नहीं। तो अब ज्ञान में ही प्रवेश करके मैं अपने में अपने आप सुखी होऊं। ये रागादिक उपद्रव तो तब तक होंगे जब तक इस ज्ञानसागर निज आत्मतत्त्व में अपने आपका प्रवेश न हो जाय। यही ज्ञानयोग ज्ञानियों का, योगियों का एक मात्र कार्य हैं। इस ही से आत्मा से महात्मा होते व

महात्मा से परमात्मा हो जाते हैं। केवल एक ज्ञानानुभव ही है। सो अब ज्ञान में ज्ञान का अनुभव करके मैं अपने में अपने आप आनन्दस्वरूप होऊं। ॐ शान्तिः

आत्मा का स्वभाव सिद्ध बनने का है। सिद्ध कहते हैं उसे कि जिसने अपने आपके गुणों की प्राप्ति कर ली है, अपने आपमें सब कुछ कर लिया, जो अपना गुण है, अपनी शक्ति है उसको पूर्ण कर लेने का इस आत्मा में स्वभाव है अथवा पूर्ण विकासरूप बन जाने का इस आत्मा में स्वभाव है, अनन्त ज्ञानी अनंत द्रष्टा अनन्त सुखी अनन्त शक्तिवान हो जाने का स्वभाव है। यह ही इस आत्मा का विक्रम है, परिश्रम है, करतूत है, शूरवीरता है, पर अन्य इसमें जो पर्याय उत्पन्न होते हैं जैसे गतिमार्गणामें नारक, तिर्यञ्च, देव व मनुष्य हों, इन्द्रिय मार्गणा में एकइन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचइन्द्रिय बताया गया है। अन्य कषाय असंयम आदि जो कहा गया है वह किसके विक्रम हैं? ये कर्म के विक्रम हैं। जैसे निर्मल शुद्ध कांच है वह शुद्ध बना रहे, स्वच्छ बना रहे तो कांच का ही विक्रम हुआ। जैसे कांच को किसी के सामने कर दो या कांच के सामने कुछ आ गया, हाथ आ गया, लो छाया आ गयी, उसमें करतूत किसकी चल गई? हाथ की। तो वह हाथ निमित्त हुआ। हाथ का विक्रम हुआ, हाथ की ही कलाएं हैं। यह एक दृष्टि है इसी दृष्टि से देखना। इसी प्रकार जीव में शुद्ध ज्ञानरूप बर्ताव केवल ज्ञानमात्र में रहना, ज्ञाताद्रष्टा रहना, यह तो हुआ आत्मा का विक्रम और इसमें क्रोध, मान, मोह, माया, लोभ आदि जो कुछ भी विभाव पर्यायें होती हैं वे सब कर्म के विक्रम हैं। यहां यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि जो मेरा विक्रम है उस विक्रम को करूं और कर्मके जो विक्रम हैं उनकी अपेक्षा करूं। मेरा तो काम है ज्ञाता, द्रष्टा रहना। यह चीज कठिन है, ऐसा जानकर इसलिए निरुत्साही नहीं होना चाहिए कि बहुत दिनों से पढ़ते आए, कुछ लाभ नहीं दिखता, अन्तर नहीं आता। भाई बात तो कठिन है। जिस दिन ठीक होना होगा, ठीक हो जायगा। कोशिश करते रहना है, उपयोग बनाए रहना है। जब होना होगा ठीक हो जायगा।

एक बाबू ने एक कोरी को पायजामा दिया। वह नहीं जानता था कि कैसे पहिना जाता है। तो वह उस पायजामे को कभी कमर में लपेटता, कभी हाथों में डालता तो कभी गले में डालता था। इस तरह से उसने बहुत-बहुत काम किया। एक समय में उसने पायजामे का एक पैर पैर में डाला और दूसरा पायजामे का पैर भी दूसरे पैर में डाल लिया, अब झट बन गया। उसकी समझ में आ गया कि ऐसे पहिना

जाता है। इसी तरह जो पढ़ते हैं, सुनते हैं, कोशिश करते हैं तब भी बात फिट नहीं बैठती है। बात यदि फिट नहीं बैठती है तो नहीं सही, कोशिश करना बंद न करो। किसी दिन परद्रव्य की उपेक्षा हट जायगी और अपने आपमें सहज विश्राम पाने लगोगे। अपने आपका सहज अनुभव हो जायगा कि यह बात है, यह प्रभु के स्वभाव का मर्म है। मैं तो अपना विक्रम करूंगा। चींटी चढ़ती है, चढ़ती ही चली जाती है, कभी-कभी गिर जाती है, फिर भी हिम्मत नहीं हारती है, वह ऊपर को चढ़ती ही चली जाती है। बार-बार करनेके लिए एक काम यह है कि परमें उपेक्षा और आत्मामें दृष्टि हो और कुछ करने लायक काम नहीं है। धन कमाया है चला जायगा या अंत में मृत्यु हो जायगी। एक का भैया मर गया, पढ़ा लिखा था। दूसरे लोग आकर पूछते हैं, सहानुभूति दिखाते हैं, कैसे परिणामों से तुम्हारा भाई मरा ? लड़का बोलता है कि क्या बतावें—क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गए। बी० ए० किया नौकर हुआ पेन्सन मिली और मर गये ॥ भाई नौकरी करता था, बादमें पेंसन मिलती थी और अब मर गया। जगत के सभी जीवों को ऐसा होता है कि नौकरी किया, धन वैभव जोड़ा, मर गए और चले गए जीवन को छोड़कर। आत्मप्रभु के, आत्मस्वभाव के दर्शन हों तो परिश्रम सफल है। आत्मस्मरणसे जो आत्मसंस्कार बनता है उसका संस्कार तेरा भला करेगा, अन्य वासनादि भला नहीं करेंगी। कितनी दृष्टि फंसी हुई है ? घर के चक्कर, परिवार के चक्कर, यह काम वह काम इत्यादि अनेक प्रकार से दृष्टि फंसी हुई है। ये सब तेरे रक्षक नहीं। तेरा तो रक्षक अन्तःस्वरूप का दर्शन है। जैसे रोते हुए बालकको किसी खिलौने में रमा दें तो उसका रोना बन्द हो जाता है। इसी तरह दुखी होते हुए इन प्राणियों को जब कभी अपना खिलौना मिल जाय, चैतन्यस्वभाव के दर्शन हो जाएं तो यही मोक्ष का मार्ग है। यह कोई कठिन बात नहीं है। इस ही स्वरूप में इस तरह का उत्साह लग जाय, अपने खिलौने में लग जाए तो सारे क्लेशके रास्ते ही उसके बन्द हो जाते हैं। यह अमोघ उपाय है। जैसे रेल, मोटर चलती हैं तो उनके जो यंत्र बनते हैं, घुमा दें, तेज चला दें। जरासा दबा दें तो तेज चल देते हैं और यदि निःशंक होकर और थोड़ासा दाब दें तो झट अधिक तेजीसे चल देती हैं। जो चलाने वाले यंत्र हैं उनको जरासा स्टार्ट कर दें तो चल देते हैं। उनको चलानेके लिए जो प्रयत्न है वह व्यर्थ नहीं जाता है। इसी तरह आत्मस्वरूप का दर्शन भी ऐसा उपाय है कि अगर करें तो व्यर्थ नहीं जाता है। ज्ञानी ऐसा परिणाम तो करता, स्वभाव में दृष्टि तो करता, श्रद्धा तो

बनाए है, प्रतीति तो बनाए है। मेरा तो रक्षक मैं ही हूं, मेरी शरण मैं ही हूं, दूसरा मेरा कोई रक्षक नहीं है। मैं अपने प्रभु को पहचानूं तो मेरा रक्षक मैं ही हूं, मेरा शरण मैं ही हूं।

मैं अपने परिणामों को पहले देखूं। कर्म जो कुछ विक्रम करते हैं तो करने दो। मैं अपने विक्रम को करूं। अपना पुरुषार्थ आप करो, कर्म का विक्रम कर्म में होने दो। अपना पुरुषार्थ यह है कि अपना शुद्ध ज्ञायकस्वरूप देखो। कर्म का विक्रम कषायादिक है वह चारित्र मोह में होने दो। आत्मा स्वरूप दृष्टिका काम करे, कर्म चरित्रमोह करे, जीवके विक्रम और कर्मके विक्रममें होड़ लगने दो। हे चारित्रमोह ! तू अपने उपद्रव को समाप्त कर। जब तू अपना उपद्रव समाप्त करेगा तभी तेरा कल्याण होगा। हे प्राणी ! तूने तो कल्पनाएं बना लीं अपने परिवार को, अपने कुटुम्ब को अपने सामने रख लिया और जन्ममरण का चक्कर ले लिया। मुझे तो अपने आपमें यह विक्रम लगाना है कि अपने आपको शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानमात्र, जाननस्वरूप, जो केवल जानता हैं, जानन-जानन ही जिसका स्वरूप है, जो परपदार्थों से भिन्न है, किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है, ऐसे उपयोग में हमें लगना है। यह प्रथम चीज है। इससे ही मेरे में आनन्द आता है। इसके बिना गुणों का विकास नहीं। इसी प्रकार का ध्यान बनाकर ज्ञानी जीव अपने को ज्ञाता द्रष्टा बनाये रहने का अपना विक्रम करते हैं। क्रोध का उदय वहां नहीं है, अन्य प्रकार के विकार भी वहां नहीं है। इसमें मोह नहीं है, दुःखों से रहित हैं। जहां पर मोह है, क्रोध, मान, माया, लोभ है वहां पर विपत्तियां हैं। कर्म अपना विक्रम कर रहे हैं और यह मैं अपना विक्रम करूं।

देखो एक जानवर होता है कछुवा। उसे कोई सताये तो वह अपनी चोंच भीतर दबा ले तो उसकी चोंच भीतर घुस जाती है। केवल ढांचा पड़ा रहता है, मुंह भीतर पड़ा रहता है। कछुवे का बाकी शरीर तो कड़ा रहता है। उसको चाहे ठोकते रहो, पीटते रहो, परन्तु वह सुरक्षित रहता है। यह तो उदाहरण की बात है। इसी प्रकार हमारे ऊपर चाहे जितनी आपत्तियां आएं, आने दो। हमारे पास तो ताकत है। अपना विक्रम करें। अपने विक्रम को हम भीतर ले जाएं और ज्ञानस्वभावमात्र आनन्दभाव-मात्र अपने स्वरूप को निरखें। यहां तो मेरा कुछ नहीं है, मैं ज्ञानमात्र हूं। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि मेरे में नहीं है, पर हो जाते हैं। कर्म का विक्रम है। होने दो। मैं अपना विक्रम करूं अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा रहूं और अपने विक्रम करके अपने आप सुखी

होऊं । देखो भैया ! करने का काम एक ही यह है वह करने में आ ही नहीं रहा है। पर करना तो यही पड़ेगा । क्यों नहीं करने में आ रहा है ? अपनी कमजोरी से । अपने भावों को ढीला कर दिया, मन को ढीला कर दिया तो हम स्वच्छन्द हो गए। अपने मन को नियंत्रित कर, स्वभाव के दर्शन कर लिए तो उत्साह हो गया । क्या करना है, मैं तो कृतकृत्य हूं । मेरा तो कृतकृत्यत्वके अतिरिक्त कोई काम ही नहीं पड़ा है । कौनसा काम पड़ा है ? अमुक अमुक । अरे वह तो मेरा काम ही नहीं है । प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें परिणमते हैं । उनमें मेरा कुछ नहीं पड़ा है । मैं कृतकृत्य हूं । मैं जो कुछ करूंगा वह यही कि जानना चाहिए । चेतना का चमत्कार है यह केवल जानता हूं, प्रतिभास स्वरूप हूं, मैं इतना मात्र आत्मा का मर्म हूं । अपनी शूरवीरता से हटे तो दुनिया के सभी पदार्थों से मुझे दुःख है । हम दुःख के कारण बन जाएंगे और यदि हम प्रबल रहे तो दुनिया के कोई भी पदार्थ मुझे दुखी नहीं कर सकते ।

कभी देखा होगा जब बच्चे अथवा कोई भी कहते हैं कि पीठपर मुक्के लगाओ, जितने लगा सकते हो लगावो । तो उस बच्चे की हिम्मत बड़ी हो जाती है। वह कड़ी पीठ कर लेता है, सांस भर लेता है । वह मुक्के लगवा लेता है, सह जाता है, उसे क्लेश नहीं होता है । उनकी बात क्या कहें कि जो व्यायाम दिखाने वाले होते हैं अपनी छाती पर से हाथी का पैर रखकर सिकलवा देते हैं । वह भीतर से तैयारी कर लेते हैं, इस कारण उन्हें दु ख नहीं होता है । उनका दिल कड़ा बन जाता है, वे क्लेश महसूस नहीं करते हैं । इसी प्रकार यदि भीतर के मन को कड़ा बना लिया जाय, संयत कर लिया जाय तो यह जानना ही तो है ना । दृढ़ता से निर्णय होता कि अरे मैं तो जान गया, सो जानना ही तो मेरा स्वभाव है । मैं तो अपने आपके ज्ञानस्वरूप को जान गया । ऐसी कड़ी हिम्मत करलो तो जो विपदाएं भी आती हैं वे चली जाती हैं । इन विपदाओं का मुझपर असर नहीं होगा । अपने विक्रम में रहे तो कर्म के विक्रमका असर न होगा । ढीले-ढाले बैठे हैं, भीतर से कोई तैयारी नहीं है और यदि कोई मुक्का लगा देवे तो अत्यन्त दुख होगा । इसी तरह ढीले-ढाले शिथिल मन पड़ा हुआ है तो यह सब असर करता है । यह आत्मा खुद ही बाहरी चीजों को निमित्त पाकर अपने आपमें अपना असर डाल लिया करता है । जैसे कहते हैं कि खुद तो जगते नहीं, खुद तो स्वाधीन नहीं होते और कहते हैं कि जगत लुटेरा है । अरे खुद जगते रहो कौन लूटेगा ? इसी तरह हम खुद स्वाधीन नहीं होते । नाम लगता है घरका, गृहस्थी का, धन का, वैभव का ।

इन इन चीजों ने तो उसे लूट लिया, बर्बाद कर दिया, फांस लिया। नाम बर्बाद करता है परपदार्थ को यों ही देखने से उस अज्ञानी को दुःख हो रहे हैं। दुःख तो कोई चीज ही नहीं है, दुःखों का नाम ही नाम है। ऐसी कल्पना करो कि जहां यह जंचे कि दुःख कोई चीज नहीं है तो सुख होगा।

तीन चोर थे। चोरी करने जा रहे थे। रास्ते में एक नया आदमी मिला। बोला कहां जा रहे हो? बोले—चोरी करने जा रहे हैं। उसने कहा कि इससे क्या होगा? बोले—धन लूटेंगे। अगर धन लेना है तो तुम भी चलो। नया व्यक्ति साथ में चल देता है। वह यह नहीं जानता है कि घर में कैसे घुसा जाता है और कैसे बाहर निकला जाता है? घर के अन्दर सब घुस गए। एक बूढ़े आदमी ने खांस दिया। वे तीन तो भाग गए। अब वह नया आदमी भागना नहीं जानता था। उसने और कुछ न सोचा, घर में जो ऊपर कड़ीं लगी हुयी थी उस पर जाकर बैठ गया। गांव के बहुत से लोग एकत्रित हो गए। हल्ला मच गया। वहां दसों आदमी थे, दसों तरह के सवाल होते थे। घर के मालिक ने कहा कि हम सब बातों को क्या जाने, ऊपर वाला जानें। उसके कहने का तात्पर्य भगवान से था कि भगवान जाने, पर उस छिपे हुए नए चोर ने यही समझा कि यह मेरे लिए कह रहा है। उसने सोचा कि मैं पकड़ा न जाऊं इसलिए बोला कि मैं ही क्यों जानूं? वे तीन आदमी क्यों नहीं जानें। अब वह नया चोर पकड़ लिया गया। बांधा गया, मारा पीटा गया। बन्द हो गया। यहां पर उसने केवल कल्पना ही तो कर लिया था कि यह मेरे लिए कहा जा रहा है इसलिए पकड़ा गया, मारा गया और बंद किया गया। अब मुझे अपने आपको उठाना है। कर्म के विक्रम यदि चलते हैं तो मैं अपने विक्रम को करूं, ज्ञाता द्दष्टा बनूं। इसके आगे हमें कुछ नहीं चाहिए, क्योंकि कुछ मिलेगा नहीं परसे, उनका परिणमन उनमें है, हमारा परिणमन हमारे में है। जो कुछ मुझे ज्ञान होता है वह मेरे से मेरे में होता है, किसी पर से नहीं होता है। जो मुझको आनन्द प्रकट होता है वह आनन्द मेरे से मेरे में प्रकट होता है। दूसरा निर्णय नहीं, दूसरा न्याय नहीं। फिर किस बात कीं पर से आशा करते हो? अपनी अन्तरद्दष्टि बनाओ कि जैसी उसकी प्रतिभा है तैसी मेरी प्रतिभा है। सब अपनेमें हैं, मैं अपने में हूं। इस प्रकार से वस्तु के स्वरूप को निरखना यह ही पुरुषार्थ है, यहीं विक्रम है। एक शुद्ध ज्ञान का पुरुषार्थ करके अपनीं इन सब वासनाओं को दूर करो। जो जो संस्कार भरे हुए हैं, जो जो वासनाएं हैं, जो जो काम क्रोध, मान, माया, लोभ

इत्यादि भरे हुए हैं उन सबको अपने पुरुषार्थ से अपने विक्रम से दूर करो।

एक सांप था। उसने यह विचार कर लिया था कि मैं किसीको सताऊंगा नहीं। वह शांत था। सुबह उस घर में बच्चे को एक कटोरा दूध दिया जाता था। वह बच्चा अपने सामने कटोरा रखे हुए दूध पी रहा था। इतनेमें वह सांप आया और उस कटोरे से दूध पी लिया। उस बच्चे ने सांप के कई थप्पड़ मारा पर सांपने सहन कर लिया। खूब दूध पीकर मस्त हो गया। इसी तरह से वह नित्य प्रति दूध पीकर मस्त हो रहा था। दूसरे सांपने कहा कि क्या खाते हो कि मोटे-तगड़े हो रहे हो? उसने कहा कि तुम इसकी कला नहीं जानते हो। मैं नित्य प्रति बच्चे को पिलाया जाने वाला दूध पी लेता हूं। बच्चा मुझे मारता है और मैं क्षमा करता रहता हूं और थप्पड़ सहन करता रहता हूं, खूब दूध पीता हूं। बोला कि मैं भी ऐसा ही करूंगा। कहा कैसे करोगे? बोला कि मैं सौ थप्पड़ तक क्षमा कर दूंगा। सवेरा हुआ बच्चे के लिए दूध आया। दूसरा सांप बच्चे का दूध पीने लगा। बच्चे ने एक थप्पड़ मारा, दो थप्पड़ मारा, दस थप्पड़ मारा, बीस थप्पड़ मारा, पचास थप्पड़ मारा, ९९ थप्पड़ मारा और १०० थप्पड़ मारा। सांप सब सहन करता गया। जब उस बच्चे ने एक थप्पड़ और मारा तो झट उस सर्प ने फुंकार मारी। अब उस फुंकार को सुन सब लोग उसके ऊपर टूट पड़े और उन्होंने उसे मार डाला तो वह सर्प मन में वासना भरे हुए था कि मैं १०० थप्पड़ तक सहन करूंगा, आगे नहीं। इस वासना के ही कारण वह मारा गया।

अन्तर में विषय कषाय जो भरे हुए हैं वे सब परेशान करते हैं। लोग कहते हैं कि जब जाप करते हैं तो दसों जगह मन जाता है और अगर अपनी दूकानपर रहते हैं तो केवल एक ही जगहपर मन रहता है। इसलिए जाप से अच्छी तो मेरी दूकान है। अरे दोनों एक ही जगह हैं। संस्कार से कर्मबन्धन करते हैं। यह न समझें कि दुकानपर बैठने से उपयोग दस जगह नहीं जाता सो कर्मबन्ध नहीं होता। जैसी वासना है वैसा बंध है। बात तो बल्कि यह अच्छी समझनी चाहिये कि जो नाना विषयकषाय भरे हुए हैं उनको जापका प्रसंग सब बतला देता है। अब ज्ञानोपयोग करके उन विषयकषायों को निकाल दो। अब यह करना चाहिए कि अपने ज्ञानस्वभाव का, ध्यान का, चिंतन का, विचार तो करना चाहिए और वासनाओंका, कषायोंका तिरस्कार करना चाहिए। यही मेरा विक्रम है कि मैं ज्ञानस्वरूप रहूं और अपना विक्रम मानूं। यदि मैंने यह विक्रम कर लिया तो मैं अपने में अपने लिए आनन्दस्वरूप हो सकता हूं।

इस लोक में इस संजोगजन्य दृष्टिके द्वारा जो-जो कुछ संयोगजन्य पदार्थ मालूम होरहे हैं सो न तो यह संयोगजन्य दृष्टि मैं हूं और न संयोगजन्य पदार्थ मैं हूं । मैं देख रहा हूं । किनको देख रहा हूं ? इन संयोगजन्य पदार्थों को अर्थात् परमाणुवों के संयोग से बने हुए इन ढांचों को देख रहा हूं । कमंडल है, यह भी संयोगजन्य पदार्थ है, अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है, क्योंकि यदि यह अपनी स्वतंत्र सत्ता वाला है तो यह मिट नहीं सकता । जो सत् है वह त्रिकाल है । यह मिटा नहीं करता है । दरी है, चौकी है, शरीर है यह सारे के सारे संयोगजन्य पदार्थ हैं, स्वयं सारभूत नहीं हैं । इसलिए यह मायारूप है, परमार्थ नहीं हैं । जो कुछ भी दीख रहे हैं वे कुछ परमार्थ नहीं है, वे सब संयोगजन्य हैं, मायारूप हैं, मिट जाने वाली चीजें हैं । वास्तविक बात तो कुछ और हो, परन्तु रूप कुछ और बन गया हो । यही तो माया है । ये इन्द्रजाल हैं । इन्द्रजाल कहते किसे हैं ? इन्द्रजाल इन्द्र याने जीव उसका जाल सो इन्द्रजाल । यही जीव का जाल है, यही इन्द्र का जाल है, यह ईश्वर की लीला है खाली जीव, खाली ईश्वर से यह लीला नहीं बनती, यह कर्म उपाधि से बनती है, यह प्रकृति के निमित्त से बनती है, सो प्रकृति की चीज हैं । किसी भी तरफ देखते जावो यह सब मायामय वस्तु हैं, संयोगजन्य पदार्थ हैं, परमाणु रूप नहीं हैं । तो मोह में मैं क्या बन रहा हूं ? यही सब मैं हूं । मैं और कुछ नहीं हूं और ये असारभूत मायामय पदार्थ माया की वस्तुयें हैं, प्राकृतिक हैं याने प्रकृतिविकार हैं । ईश्वर की लीला किन्हीं भी शब्दों में कहें—जो कुछ माया दीख रही है इसके देखने वाला कौन है ? किसके द्वारा हम देख रहे हैं ? इस एक के द्वारा नहीं । दृष्टि नेत्र के द्वारा देखते हैं, यह दृष्टि ही संयोगजन्य होती है । जिसकी ओर देख रहे हैं वह भो मायामय वस्तु है । केवलके द्वार दीखते नहीं हैं यह दृष्टि केवल पुद्गल ही है, केवल जीव भी नहीं हैं ऐसा देखने का काम करते हैं । दिखने वाले तो वे पुद्गल हैं वे सब कुछ नहीं देखते हैं । पुद्गल देखे तो मुर्दा शरीर भी देखे, जीव देखे तो ऐसी गंदी दृष्टि सिद्ध की भी हो जाय, ऐसा देखना न केवल आत्मा का काम है, न केवल पुद्गलों का काम है और दोनों का मिल करके भी काम नहीं है और काम होता रहता है । देखो यह दृष्टि भी गजब की माया है । मायामय चीजें हैं तो मायामय ही दिखाई पड़ती हैं । सो न मायामय चीजें मेरी हैं और न मायामय दृष्टि मेरी है और न यह दोनों मैं और न ये दोनों मेरे । इस कारण उन दोनोंको समाप्त करके, त्याग करके अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं ।

त्याग कहते किसे हैं ? यथार्थ ज्ञान कर लेना, इसी के मायने त्याग है। जैसे कहते हैं ना कि तुम्हारी इसीसे दोस्ती है और दोस्तीका त्याग कैसे होगा ? जब अहित-पने की कल्पनाएं बना लेंगे तो दोस्तीसे त्याग हो जायगा और यदि हितपनेकी कल्पना से, उसी को ढंग से जान लिया तो इसी के मायने दोस्ती है। इसको मेरे से अन्दर विरोध है इसी जानने के मायने त्याग है। मित्रता करता तो ग्रहण कुछ करता नहीं, परन्तु कल्पनाओं द्वारा मित्र बना लिया। तो जैसी ही कल्पना होगी वैसी ही मित्रता होगी और वैसा ही त्याग होगा। इसी तरह यह धन-वैभव बना हुआ है तो यह कुछ मायने नहीं रखता। वे भी भिन्न पदार्थ हैं। उनका लेना-देना आत्मा में नहीं है। बस मान लिया कि मेरे पास धन है। यदि यह कल्पना बनी कि मेरे पास धन है तो वह धनी बन गया और यदि यह मान लिया कि मेरे पास धन नहीं है तो गरीब बन गया। इस जीव में पूर्ण सामर्थ्य है। यह जैसा अपने को माने तैसा हो जायगा। जो-जो कुछ दिखते हैं वे सब संयोगजन्य पदार्थ हैं। खास, यथार्थ परमार्थ में कुछ भी तत्त्व नहीं दिखता। जिस जीवसे प्रीति होती है, मोह होता है वह पदार्थ अत्यन्त भिन्न है। उसकी प्रीति करके उन पदार्थों में कुछ असर बदल नहीं जाता, कुछ अपने हो नहीं जाते। जैसे देखा होगा कि और बहुतसे मनुष्य हैं जिनसे बोलनेसे भी प्रसंग नहीं होता और आपका मोह और प्रीति उत्पन्न हो जाती है तो मोह और प्रीतिका कारण तो तुम्हीं हो। केवल अपने अन्दर कल्पनाएं मोह और प्रीति की भर ली हैं। अब तुम्हीं दुखी रहो, वह तो जो है। जैसे किसी को बुरा लग जाय तो कहते हैं कि तुम्हारे पेट में उर्दा चुरने लगा। जो बुरे संकल्प करे, बुरे विचार करे तो वह अपने अन्दर घुल जाता है, मिट जाता है, बरबाद हो जाता है। जो खोटे भाव करेगा वह स्वयं मिट जायगा। नश्वर मायामय वस्तुवों का संग्रह करने के उद्देश्य से अपने आपकी रुचि छोड़कर झूठ धोखा आदि करे तो यह अपने आपपर बहुत बड़ा अत्याचार है। और यदि अपने ईमान और सच्चाईपर दृढ़ होकर और फिर अपने बल से धर्म से स्खलित न होकर देखो तो आत्मा में एक चमत्कारसा बैठा हुआ आनन्द उत्पन्न होता है। ये कुछ नहीं। इन मायामय चीजों को मायामय दृष्टि से निरखकर मायामय प्रयोग के द्वारा इनकी कल्पना बना लें तो उत्थान नहीं होगा।

मंदिर में भगवान की मूर्ति के सामने ध्यान करते हैं तो किस बात का करते हैं ? उस प्रभु की मूर्ति की मुद्रा ऐसी है कि मानो वह कह रही है कि हे आत्मन् ! तू

समस्त जंजाल छोड़कर कुटुम्ब परिवार इत्यादि का तू त्याग कर, मुझ जैसा विश्राम पा, तेरा किसी से प्रयोजन नहीं है। तू अपना प्रयोजन किसी से न रख। तू अपने आपमें ध्यान करके शान्त होगा और अपने आपके स्वरूप में मग्न होगा। केवल तू शुद्ध अपने आप रहेगा और आनन्दमग्न हो जायगा। हे भगवन्! आप तो शुद्ध रहे, अपने आपमें आनन्दमग्न हो गए। धन्य है तुम्हें भगवन ! यही आपकी महत्ता है। हे आत्मन् ? ऐसी महत्ता का तू विचार कर, ऐसा ही अपने आपको निरखकर आनन्दमग्न हो जा। किसी से तेरा प्रयोजन न रहे और स्वयं में विचार करके आनन्दमग्न हो जा तेरी स्थिति उस भगवानसरीखी हो सकती है।

तू मंदिर में मूर्ति को देखकर इस प्रकार से ध्यान कर कि उस मूर्ति को देखने में तुझे शांति की शिक्षा मिले, त्याग की शिक्षा मिले। यही वास्तविक मूर्ति की पूजा है। और यदि मूर्ति को खूब सजाएं, ऊंचा आसन बनाएं, सिंहासन बनाएं और उस मूर्ति को बैठाएं और यदि उस मूर्तिसे शिक्षा न ले सके तो वास्तविक पूजा नहीं कही जायगी। उस मूर्ति से तुम्हें त्याग की शिक्षा प्राप्त होगी, शांति एवं धैर्यकी शिक्षा प्राप्त होगी।

हे आत्मन् ! त्याग ही सार है। तू त्याग को ही अपना। यदि तू त्याग को अपनाता है तो आत्मा को क्लेश नहीं है और यदि त्याग से विमुख होकर इस प्रकार के दूषित वातावरण में पड़े तो आजीवन क्लेश रहेंगे। मूर्ति जो कि मन्दिर के अन्दर होती है उसकी मुद्रा त्यागमय है। हे जगत के प्राणी ! यदि परिग्रह का त्याग नहीं, स्त्री-पुत्रों से वैराग्य नहीं और ऊट-पटांग बैठने का ही काम रहा तो आजीवन क्लेश होंगे। अरे अपने में विराजमान साक्षात् परमात्मतत्त्व को देखो और अपने समस्त मायामोहों को त्यागो। यदि यह भाव उत्पन्न होता है तो तुझे सुख है। तेरे सुखी बननेका अच्छा उपाय है कि जैसी शान्त मूर्ति है वैसा शान्त बनने की कोशिश करो। उस मूर्ति के दर्शन से जो शिक्षा मिलेगी वह तेरे लिए कल्याणकारी है। देखो जिनमें फंसे हुए हो वे सब माया-मय पदार्थ हैं। तू उन समस्त मायामयी पदार्थों से प्रीति मत कर। सावधान ! डैन्जर है। यह सब डैन्जरस है। तू पर से प्रीति मत कर। यदि परकी प्रीति में फंस गया तो तुझे क्लेश हैं। प्रीति करते समय तो वह सब अच्छा लगता है। स्त्री बड़ी उत्तम है, बड़ी गुणवान है, बड़ी रूपवान है, पुत्र बड़े अच्छे हैं, मित्र बड़े अच्छे हैं। अरे ये तेरे नहीं हो सकते हैं। ये सब तेरे लिए जंजाल हैं। इनसे तेरा हित कुछ नहीं, अहित ही रहेगा। यह गृहस्थी बनाई गई है, गृहस्थधर्म बताया गया है, पर स्त्री पुत्रोंसे आनन्द प्राप्त करने

ही को नहीं बताया गया है । इसलिये यह गृहस्थ धर्म है कि हे भाई ! तेरा काम तो यह है कि अपने सारे आरम्भ परिग्रह का त्याग करके अपने अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य व आकिञ्चन्य में आ करके आत्मयोगी बनकर मोक्ष में पधारो, किन्तु जो कोई कायर है, कमजोर है, कुछ कर नहीं सकता है तो उसे बताया है कि इस प्रकार की गृहस्थचर्या धारण करके, तुम धर्म के कार्यों में लगो । यदि धर्म के कार्यों में लगोगे तो तुम्हारा कल्याण निश्चित है । यह गृहस्थी इसलिये बसाई है कि तुमसे महाव्रत नहीं पल सकता तो एक स्त्री व छोटी गृहस्थी में संतोष करके बाकी सब पापों से दूर रहो ।

हे आत्मन् ! शत्रुता बनाए रहना और झंझटों में पड़ा रहना यह गृहस्थीका धर्म नहीं है । इसलिए तू इन समस्त झंझटों एवं शत्रुताओं से विलग होकर अपने आपमें रमो । जब अपने आपमें रमोगे तभी गुजारा होगा अन्यथा नहीं । जो बच्चा अच्छी तरह से नहीं चल सकता है उसके लिए माता अंगुली का सहारा देती है । इसी प्रकार से जो संयोगदृष्टि से देखते हैं यह मैं नहीं हूं, वह मेरा नहीं है, इसलिए मैं इन सबको त्याग देता हूं, त्यागना क्या है—यह मान लो कि यह भिन्न है, भाव सत् हैं । मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है । मैं तो एक ज्ञानानन्द भावात्मक वस्तु हूं, स्वयं आनन्दस्वरूप हूं, परिपूर्ण हूं, अधूरा नहीं हूं । कमी नही है । हमें बनना नहीं है, हम बने बनाए हैं । मेरे में सब वैभव भरा है, सब तैयार है । केवल ऊपर की ढकी हुई अज्ञान की चद्दर को उठाने की जरूरत है । जैसे भोजन भीतर सब तैयार है । किन्तु उस थाली पर छन्ना ढका है तो सिद्ध है कि छन्ना उठने की जरूरत है । आत्मा में ज्ञान आनन्द सुख इत्यादि समस्त तैयार भरे पड़े हुए हैं । केवल जानने भर की जरूरत है । अज्ञान का छन्ना पड़ा हुआ है, उसे हटा लो पूरी सावधानी करके अपने जौहर को देखो और उसका आनन्द लूटो । इन त्यागे जाने योग्य पदार्थों में पड़ने से कभी कुछ पूरा नहीं पड़ेगा । अतः मैं इन सयोगजन्य पदार्थों का त्याग करूं और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं ।

यह मैं आत्मा अन्य किसी जगह नहीं हूं । मैं मुझमें ही हूं । यह मैं आत्मा किसी अन्य का नहीं हूं । मैं मेरा ही हूं । यह मैं आत्मा कभी नष्ट नहीं हुआ और न नष्ट हूंगा । मैं ध्रुव हूं । यह मैं आत्मा अपने से बाहर कभी नहीं गया, जो मुझको अपने को ढूंढ़नें की हैरानी करनी पड़े क्योंकि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा यहीं का यहीं विराजमान है । तीन लोक के अधिपति बनने का उपाय अकिञ्चनस्वरूप आत्मा का दर्शन है । एक जगह गुणभद्र स्वामी ने कहा कि—

अकिञ्चनोहमित्यास्य त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

गुरुजी अपने शिष्योंसे कहते हैं कि आज मैं तुम्हें परमात्मा बननेका रहस्य बतलाऊं तो शिष्योंने कहा कि हां हां गुरुजी बतलाओ। गुरुजीने कहा देखो मैं अकिंचन हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मैं ही हूं। मेरेसे बाहर मेरा न तो गुण है, न पर्याय है, न असर है, न लगाव है और कुछ भी नहीं है, ऐसा मानकर टन्नाकर बैठ जावो, ऐसा अपने मनमें जिद्द बनाकर ठहर जावो तो तुम तीन लोकके अधिपति हो जावोगे। देखो यह परमऔषधि पदार्थ है। देखो सर्व क्लेश मिटने की सबसे परमऔषधि है अकिञ्चन की भावना। जैसे कोई रोग हो जाय तो कहीं उस डाक्टरसे इलाज करवाया, कहीं उस डाक्टरसे इलाज करवाया। सबसे इलाज करवाया, परन्तु किसीसे भी आराम नहीं हुआ तो जिसको वह ज्यादा समझदार समझता है उसके लिए आखिरीमें इलाज करवानेके लिए कहता है और उसीसे इलाज करवाएगा। अरे अब आखिरी एक इलाज तो करवा लो। इसी तरह संसारके दुःख दूर करने हैं, इलाज कई तरहका बहुत कराया। धन, वैभव हो जाय, कुटुम्ब परिवार हो जाय, लड़के बच्चे हो जाएं, बहुत यत्न किये इलाज किये, लड़के बच्चे भी हो गये, धन वैभव भी हो गया किन्तु इनसे दुख नहीं दूर हुए। कितने भी उपाय कर डालो पर दुःख दूर नहीं होंगे इनसे। दुःख दूर करने का इलाज तो यह है कि अपनेको अकिंचन मानो। बस संसारकी सारी चिंताएं, सारे क्लेश समाप्त हो जावेंगे। अपनेको मानों कि मैं अकिंचन हूं, मेरा तो मैं ही हूं, अन्य कोई नहीं है! यही सबसे अच्छा इलाज है। सो भैया! अपने को अकिंचन मानकर अपने आपमें विश्राम तो कर लो। यदि अपने को अकिंचन मान लिया और अपने आपमें ही विश्राम पाया तो त्रिलोक के अधिपति हो जाओगे। मैं यहां अपने आपमें हूं, अपने ही स्वरूपको लिए हूं, मेरेमें अनंत आनन्द भरा हुआ है, मैं कैसा विलक्षण, सबसे निराला ज्ञानानन्दमय, परमपवित्र पदार्थ हूं? कहीं बाहर नहीं हूं, अन्यत्र नहीं गया हूं पर अपने आपको न निरखकर यह जीव शून्य बन जाता है, अपना पता ही नहीं रखता हैं और बाह्यमें दृष्टि रखता है अपनेको सकिञ्चन भावमें लगाता। इसीसे उसे क्लेश हुआ करते हैं। हम अपने आपको समझें कि मैं अकिंचन हूं। मेरेसे बाहर मेरा कुछ नहीं है और जो कुछ मुझमें है वह कहीं बाहरसे नहीं आता है। मेरेमें तो मेरा स्वरूप चतुष्टय विद्यमान है, यह मैं ज्योतिर्मय पदार्थ हूं। देखो लोकव्यवहारमें भी उस मनुष्यकी इज्जत बढ़ती

है । जो मनुष्य यह कहता है मैं कुछ नहीं हूं, जीवनभर बड़े दानके भी काम कर लिए, देश और समाजकी सेवाओंका भी काम कर लिया तो उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ गई, उनकी शोभा बढ़ गई, उनका सम्मान भी होता है। पर यह तब तक है जब तक वह अपनेको ना कुछ कहता है। उसने परमार्थसे भी देख लिया कि मैं औरोंके लिए कोई चीज नही हूं, मेरा जगत में कुछ नहीं है, मैं केवल अपना स्वरूपमात्र हूं—यदि मैं अपने को इस तरहसे समझूं तो अंतरमें पारमार्थिक इज्जत हो जायगी। आनन्द चाहते हो तो आनन्दका उपाय इसी अमूर्ततत्त्वमें ही लेना है—मैं अकिंचन हूं मेरा कुछ नहीं है।

एक साधु था। उसकी लंगोटीको चूहे काट जाया करते थे। अब साधुको यह बहुत बड़ी हैरानी हुई। साधुने चूहोंसे रक्षाके लिए बिल्ली पाली। बिल्ली दूध पीती थी। अब उस बिल्लीको दूध पिलानेके लिए एक गाय पाली। उस गायको चराने वाला कोई नौकर या नौकरानी होना चाहिए। गायको चरानेके लिए नौंकरानी रख लिया। कुछ समयके बाद उस दासीके कुसंगिनी होनेसे लड़का पैदा हुआ। उस साधुने देखा कि पहले बिल्ली थी, फिर गाय हुई, गायका बच्चा हुआ, फिर लड़का हुआ। इस तरहसे मेरा घर तो भर गया। अब उन्हें किसी गांव जानेकी जरूरत पड़ी, क्योंकि घर तो भर गया था उसकी गुजर करनी थी। रास्तेमें एक नदी पड़ी। उस नदीसे सब निकलने लगे तो अचानक ही एक छोटीसो बाढ़ आयी जिससे सबके पैर उखड़ गए, सब बहने लगे। दासीने झट साधुकी लंगोटीको पकड़ा, क्योंकि रक्षा करने वाले तो वही थे। इस तरहसे सब उस साधुकी शरणमें गए। बिल्ली भी गयी, गाय, गायका बच्चा तथा लड़का इत्यादि भी सब उस साधुकी शरणमें गए। अब तो साधु भी डूबने लगा। अब वह साधु सोचता है कि अरे यह सारी बला तो केवल लंगोटीके कारण आई है। लंगोटीके ही कारण गाय, गायका बच्चा, बिल्ली, दासीका लड़का इत्यादिसे विडम्बना हो गई है। अब साधुने लंगोटको झटकेसे निकालकर फेंक दिया और सत्य विचारने लगा कि ये जीव मेरे कुछ नहीं हैं इनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं है। उसे ज्ञान हो गया। देखो भैया! उस साधुने परसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया था तो उसे क्या-क्या मुसीबतें उठानी पड़ीं? जो अपनेको परसे मिला हुआ समझता है वह डूब जायगा। और जो अपनेको कुछ नहीं समझता है वह तिर जायगा।

किसी घरमें होता है कि बाप बड़ी उमरका हो जाता है। पांच सात बच्चे भी हो जाते हैं। बच्चोंका रोजिगार भी अच्छा चलता है। बाप उन बच्चोंके काममें दखल

देता है। दखल देनेसे नुक्सान हो रहा है। कहीं ४-६ महीनेको वह बूढ़ा बाप न रहे, किसी जगह चला जाय तो बच्चे सुख शांतिसे काम करते हैं। बाप तो यह समझता है कि हम काम कर रहे हैं पर बच्चे मुसीबत उठाते व नुक्सान भी यदि बाप बच्चोंसे काम न पूछे तो बाप खुश है और बच्चे भी खुश हैं। देखो ना इस जीव ने भी इन शरीर-वर्गणाओं में दखल दिया तो शरीर भी खराब होगा व आत्मा भी खराब होगा। हम तो आत्मा हैं, वह तो बड़ा भला है, इस आत्माका जाननेका ही काम है। मेरेमें कोई भी विपदाएं हों, कोई भी बाहरी विवाद हों दुःख नहीं पहुंचाते हैं। किसी भी प्रकार की विपदाएं इस आत्मामें नहीं आती हैं। इन आहारवर्गणाओंमें जब यह दखल देता है तो यह भी बुरा होता है व शरीरवर्गणा भी बुरी होती है। यह जीव अकेला रहकर बड़े आरामसे बना रहता है। ये पुद्गल भी मांसादि रहित पवित्र बने रहते हैं।

इसीसे पुद्गलकी यह दशा हो गई। इसीसे जीवकी यह दशा हो गई। अच्छी नुक्तीका बढ़िया लड्डू है बढ़िया बना है, खूब मजेदार है, तबियत भी ठीक है, स्वास्थ्य भी अच्छा है यह आदमी भी अच्छा है। बस अब लड्डू खाए। लड्डू खानेसे लड्डूकी क्या हालत हुई सो मुंह बाकर ऐनामें देख लो, चिपर चिपर हो रहा, यहां खानेमें आसक्त हुए पुरुषकी दशा देख लो, बीमारीने आक्रमण कर लिया। यह हुई खाने वाले की दशा। खाने वालेकी तो तबियत खराब हो जाती है और लड्डू बेकार हो जाता है। यह हुई लड्डू महाराजकी दशा। लड्डू अपनी जगह पर अच्छा था, आदमी अपनी जगहपर अच्छा था। अपनी जगह पर रहते तो दोनों मजेमें थे। ये दुनियाके सारे वैभव, मित्रजन, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि भी हों तो उनसे पूरा नहीं पड़ेगा। इन किन्हींसे भी हमारा पूरा न पड़ेगा खराबी ही रहेगी। जो पदार्थ जहां जिसमें, जिस स्वरूपमें बना रहने दे उनमें पड़े तो यह खराबी है। यह अकिंचन भाव अमूर्त है। कितने ही कष्ट हों जरा अपनेको ज्ञानमें अकिंचन बना लो सब मिट जायेंगे।

अरे भाई अपनेको सबसे निराला समझो। यह समझो कि मैं अकिंचन हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं अकिंचन हूं तो आनन्दमग्न हूं। यह अकिंचन भाव अच्छा है। यदि अकिंचन भाव अपनेमें न आया तो बड़ी-बड़ी झंझटें पड़ जावेंगी। जैसे कि लौकिक झंझटे बहुत पड़ गई हों बड़ी चिंतायें हो गई हों, इसमें २० हजार लगे, इसमें ५० हजार लगे, इसमें ५ हजार लगे। टोटल किया तो ७५ हजारका नुक्सान आया। अरे यह नुक्सान मेरा कुछ नहीं है। हो जाने दो, इससे मुझे कुछ नुक्सान नहीं पहुंच सकता है—

इस प्रकार का यदि विचार बन जावे तो लो दुःख मिट गया और यदि इसके विपरीत विचार बने तो क्लेश बढ़ते ही चले जावेंगे । जैसे सट्टा खेलते हैं । मिलता-जुलता उसमें कुछ नहीं । केवल कहते हैं कि इतने पैसे लगे हैं । यह खरीदा, वह खरोदा खरीदना कुछ नहीं पड़ा, पैसे कुछ नहीं लगाने पड़े, सट्टा खेलते हैं । इसका फल केवल यह हुआ कि पूरे रात दिन जगे । इसी तरह इन पदार्थोंसे हमें लेना देना कुछ नहीं । इनसे अपना सम्बन्ध कर लेने से नुकसान ही है । जैसे सट्टा खेलनेका फल केवल पूरी रातका जागरण है इसी प्रकारसे परपदार्थोंसे सम्बन्ध स्थापित करना, उनको अपना इष्ट, अनिष्ट मानना यह सब धोखा है, इसका फल क्लेश है, परन्तु यदि अपनेको अकिंचन मान लें तो तीन लोक के अधिपति हो जावें । अरे घरमें बच्चोंमें कोई चीजका झगड़ा हो जाय । किसी चीजके वितरणमें कोई बच्चा यह कहे कि हम यह चीज नहीं लेंगे, और हमें कुछ नहीं चाहिए । मां बाप कहते जाते हैं कि नहीं बेटा और ले लो । बेटा नहीं कर देता है । अब उस नहीं कर देने के बदलेमें और और मिलता है जो शांत है, जिसने नहीं, नहीं कहा । सीधे-सीधे शांतिरूपसे तो उसे और और मिलता है, अगर वह कह देता है कि हमें और चाहिए तो उसके लिए मां बाप कह देंगे कि अब नहीं मिलेगा । इसी प्रकार हे आत्मन्, ज्यों ज्यों परपदार्थोंसे बाहर होते जाओगे, उनके लिए यह कहोगे कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तो पुण्य होता जायगा और त्रिलोकके अधिपति हो जाओगे । ज्यों ज्यों बाह्यसे हटोगे त्यों त्यों लो । हे जगतके प्राणी ! परपदार्थोंमें न पड़ो ये सब गोरखधंधे हैं । अरे तुम कहां अपना विश्वास कर रहे हो ? अरे ये सब परपदार्थ तुम्हारे लिए हितकर नहीं हैं । कौनसी ऐसी चीज है जिससे पूरा पड़ जायगा ? अरे पूरा पड़ने वाली कोई भी चीज नही है । यदि तू उनमें पड़ा तो तेरी दशा खराब हो जायगी । तू अपनेको अकिंचन मान । ऐसा अपने आपमें विश्वास कर कि मैं अपने आपमें हूं, अन्यत्र नहीं हूं, परिपूर्ण हूं, नष्ट नहीं हूं । मैं बाहर नहीं गया हूं—इस तरह सबकी ओर उपेक्षा कर रहे और जिसके केवल पर्यायबुद्धिके कारण भीतरमें लगाव होता है कि मैं यह इन्सान हूं, मैं अमुक हूं, मैं अमुक चंद हूं इत्यादि पर्याय बुद्धिके हो जानेसे मेरे ऊपर खोटे अभिप्राय बढ़ जाते हैं ।

भैया ! देखो—एक अपने आपसे परिचित न होकर जिन्दगी बेकार चली जा रही है । चाहे अकिंचन भावना हो, चाहे ज्ञानमात्र भावना हो प्रयोजन दोनोंका एक है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, जानन एक विलक्षण भाव है जिसका उपाय दुनियामें कहीं नहीं

मिलता है, किसीको स्पष्ट नहीं दीखता है, उस जाननके पेट नहीं है, पैर नहीं हैं, शक्ल नहीं है, रूप, रस, गंध इत्यादि उस जाननमें नहीं हैं, ऐसा ही मैं जाननमात्र हूं, ज्ञायक-मात्र हूं, इसके आगे मेरा लगाव नहीं है । यदि हम ऐसा अपनेको मानते हैं तो मौज है और इसके विपरीत हम अपनेको समझते हैं, तो हमें क्लेश हैं । हम अब तो अपने घर में रहते ही नहीं, कितने कष्टकी बात है ? अरे बाहर भी रहते हों तो घरमें दो चार घंटेको तो घुसा ही करते हैं । अनन्तकाल व्यतीत हो गए, बाहर-बाहर ही दृष्टि रही और विपदाओंके साधनोंकी ओर ही दृष्टि रही । अरे ज्ञानघन आत्माको देखो, सोने चांदीके ढेरोंमें क्या रक्खा है ? दौलतसे, धन वैभवसे तुम्हारा क्या विकास, क्या उत्थान हो जायगा ? हे जगत्के प्राणी ! तू अपनेमें ही संकल्प विकल्प करके दुःखी होता है । तेरी आत्मामें तो दुःखरूप है ही नहीं । वह तो आनन्द घन है, फिर तू क्यों दुःखी हो रहा है ? अरे इन संकल्पविकल्पोंको टाल दो तो आनन्द उत्पन्न हो जायगा ।

मेरा सुधार करने वाला, मेरा बिगाड़ करने वाला मैं ही हूं । मुझे अपनेको ज्ञानस्वरूप, ज्ञानानन्दमात्र निरखकर आनन्दमग्न होना चाहिए । यह प्रभु तो लो यहां विराजमान हैं, अतिनिकट क्या, यहां मैं हूं । परमात्मतत्त्व कुछ अन्य वस्तु नहीं है । चेतनतत्त्व ही परमात्मा होता है । केवल यथार्थ समझ लेने व न समझवानेका ही सारा अन्तर हो जाता है । जिन्होंने अपना यथार्थस्वरूप समझा और इसी कारण द्रव्येन्द्रिय व विषयभूत वस्तुमें अपना प्रयोजन नहीं समझा सो तीनोंसे उपेक्षाकी और उपेक्षा करके अपने ज्ञानस्वरूपमें रत हुए तो परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है । ऐसा ही स्वरूप मेरा है । उसका ध्यान कर सर्वक्लेशोंसे मुक्त हो जानेका उपाय कर लेना ही परमविवेक है ।

देखो भाई—ये विषय हैं जिनमें संसारी प्राणी अन्धा हो जाता है, विषसे भी भयंकर हैं । विष तो एक ही भवमें प्राणका हरण करता है परन्तु विषयोंकी आसक्ति भव-भवमें मूल प्राण चैतन्य प्राणका हरण करता है अर्थात् ज्ञानदर्शनका विकास नहीं होने देता । संसारके विभिन्न तिर्यञ्चोंको तो देखो, ये तो देखनेमें आ ही रहे हैं—हाथी हथिनीके सम्पर्ककी धुनमें जंगलमें बनावटी हथिनीके समीप दौड़कर जाता है और उस स्थलपर जाते ही गड्ढेमें गिर जाता है दुखी होता है और पराधीन हो जाता है । मछ-लियोंको तो देखो जरासे मांसखण्डके खानेमें लोलुपी होकर धीमरके जालमें फंस जाती हैं । धीमर लोग फिर उनको पकड़कर अलग रख देते हैं वे मर जाती हैं या कहीं कहीं तो वे धीमर मछलियोंको जिन्दा ही आगमें भून डालते हैं । भ्रमर गंधके वशीभूत होकर

पुष्पके भीतर ही निःश्वास हो जाते हैं। पतंगे तो रोशनीमें ज्वालापर पड़कर मर जाया करते हैं, यह तो प्रायः देखते ही रहते होंगे। सांप हिरण आदि शब्दके विषयमें मस्त होकर पकड़ लिये जाते हैं सपेरे व शिकारियों द्वारा। जब इन जीवोंकी एक-एक इन्द्रिय के विषयके वशमें हो ऐसी दुर्गति हो जाती है तो हाय यह मनुष्य कीट जो पांचों इन्द्रियों के विषयोंका दास है, इसका क्या हाल होगा ?

अतः भैया ! पुण्यके उदयसे पाया तो सब कुछ समागम है, परन्तु उसके भोगने से पहिले कुछ विवेकका भी आदर कर लो अन्यथा पछतावा करना ही हाथ रहेगा। विषयोंको विषकी तरह अहितकारी समझकर और विषयोंके साधनभूत शरीरको आत्मा से पृथक् मानकर उन सबसे उपेक्षा करना—यह भाव ही धर्ममार्ग है। ये विषयभोग संसारमें परिभ्रमण कराते हैं, जन्म परम्परा बढ़ाते हैं। तब कर्तव्य क्या है कि इन विषयोंको छोड़कर और उन विषयोंके साधनभूत शरीर हैं सो इस शरीरको भी आत्मा से पृथक् देखकर सबसे उपेक्षा कर दो। मैं अपने आपमें उपयोगी होऊं।

इन्द्रिय विषयोंको जीतनेके लिए मुख्य उपाय ज्ञान ही है। घर छोड़ दें अथवा धर्मके नामपर किसीकी उपासना करलें, बड़े-बड़े कार्य कर लें, ये सब ठीक हैं, परन्तु निर्विषय आत्मतत्वका दर्शन जब तक नहीं तब तक इन्द्रियोंका विजय नहीं। इन्द्रिय-विजय बिना मोक्षमार्ग नहीं। इन्द्रिय विषयोंको जीतनेके लिए हमें कैसा उपयोग बनाना है ? इस सम्बंधमें समयसारमें श्रीअमृतचंदजी सूरि जी कहते हैं कि विषयभोगका सम्बंध तीन बातोंसे हुआ करता है:—१. द्रव्यइन्द्रिय, २. भावइन्द्रिय और ३. विषयभूत पदार्थ। विषयभोगका सम्बन्ध इनका रहा करता है। द्रव्यइन्द्रियके निमित्तसे उनके विषयभूत इन्द्रियोंमें ज्ञान करके उनमें ही रम गया। इस तरहसे भोग भोगनेके लिए तीनसे वास्ता पड़ता है—द्रव्यइन्द्रिय, इन्द्रिय और विषयभूत पदार्थ। द्रव्येन्द्रिय तो शरीरमें दिखने वाले ये हैं। द्रव्यइन्द्रियके निमित्तसे ज्ञान द्वारा जानकारी होती है, वह जानकारी भावे-न्द्रिय है और विषयभूत पदार्थ ये जगतके सब पुद्गल पदार्थ हैं, जो विषय पांच प्रकारके होते हैं। स्पर्श तो स्पर्शनका विषय है, रस रसनाका विषय है, गंध घ्राणका विषय है, रूप चक्षुका और शब्द श्रोत्रका विषय है। चक्षुइन्द्रिय और रसनाइन्द्रिय तो दुनिया में कमाल कर रहे हैं, हम इन इन्द्रियोंके प्रति कैसा ज्ञान बनावें कि विषयोंसे हटकर अपने स्वभावमें लग जावें। कहते हैं कि इन्द्रिय क्या हैं ? पुद्गल हैं, जानने वाली नहीं है, क्योंकि यह मैं आत्मा आत्मा हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। जो जानता हूं, ज्ञानमय तत्त्व हूं। मैं

सबसे निराला हूं। मुझमें और इन पौद्गलिक इन्द्रियोंमें कितना अन्तर है ? यह इन्द्रियां तो मैं हूं ही नहीं, ये तो मेरेसे भिन्न हैं। मिथ्या ज्ञान करके ही हम इन इन्द्रियोंके वशीभूत हो जाते हैं और इन इन्द्रियोंके वशींभूत होकर दु:ख उठाते हैं।

इन द्रव्य इन्द्रियोंके द्वारा भोगसाधन विषय हो जाते हैं, क्लेश हो जाते हैं। तो हमें इनका विजय करनेके लिये इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। लोग कहते हैं कि भली मार करतारकी दिलसे दिया उतार। अरे इन इन्द्रियोंने जितना हमें कष्ट दिया है, अन्यने नहीं दिया है। जैसे किसी परिवारमें प्रधान पुरुष तथा स्त्री पुत्रमें कुछ अनबन हो जाय। प्रधान पुरुष उन अधीनस्थोंसे उपेक्षा कर जाये, अलग रहे, उनसे बोलना ही छोड़ दे, स्त्रीको दु:ख होगा और कहेगी कि बड़ी मार करतारकी दिलसे दिया उतार। वह सोचती है अरे पतिदेव हमसे विलग क्यों हो गए हैं ? इससे अच्छा तो यह भी था दो चार दिन खाना न देते, मार देते, परन्तु हमें दिलसे क्यों उतार दिया है ? हमसे वह स्नेह क्यों नहीं करते हैं, हमसे बोलते नहीं हैं, और हमारी ओर निगाह भी नहीं डालते हैं। अरे ऐसा ही इन इन्द्रियोंको दंड दे दो इन्द्रियोंको विजय करनेके लिये क्या जीभ काट डालो, नाक काट डालो, आंखें फोड़ दो। नहीं, इन्द्रियविजयका उपाय है उपेक्षा। किसी दूसरेकी ओर मुड़कर भी न देखो। अरे यह तो जग है, इससे तू विलग है, तू तो एक चैतन्य पदार्थ है। तू इंद्रियोंमें क्यों फंसा हुआ है ? और इन इंद्रियोंके वशीभूत होकर तेरा ज्ञान दब रहा है। इन इंद्रियोंके कारण ही तो स्पष्ट बात भी समझमें नहीं आती है। अरे तू तो अपने आपको सोच कि मैं इंद्रियोंसे अपना सम्बंध नहीं रखता। मेरी तो इंद्रियोंकी ओर ज्ञानदृष्टि भी नहीं जाती। तू अपनेको जान कि मैं आत्मा स्वतंत्र हूं। यदि तू अपनेको इस प्रकारका बना ले तो यही हुआ इंद्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इन इंद्रियोंके द्वारा ही नाना कषाय बढ़ते हैं। इंद्रियोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उसे कहते हैं भावइंद्रिय। इंद्रियोंके प्रति हमारा जो ज्ञान होता है वह अपूर्ण ज्ञान है, पराधीन ज्ञान है, किन्तु मैं आत्मा तो अपूर्ण नहीं हूं यह आत्मा तो पूर्ण ज्ञानमय है। इंद्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह अपूर्ण ज्ञान होता है। अत: परस्पर इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर है। मैं अपूर्ण ज्ञान नहीं हूं। मैं तो अपनेको इंद्रियज्ञानसे भिन्न सहज ज्ञानमय देखता हूं, क्योंकि वह तो अपूर्ण ज्ञान है। मुझे तो चाहिए कि इन इंद्रियों के खण्ड-खण्ड ज्ञानसे मैं पृथक् अखण्डज्ञानमय आपको अनुभवूं, इन्द्रियज्ञानसे बिलग होऊं।

रसनाइन्द्रियको तो देखो इसका विषय भावेन्द्रिय ज्ञानके द्वारा ही जान पाया

है। कोई अंधेरेमें बैठा हुआ आम चूस रहा है। उसको पता नहीं कि आम कलमी है कि दशहरी है कि देशी है, केवल उस आमके रसको जब जिह्वामें रखता है तब उसे आमका पता चलता है कि आम है। फिर भी उसे आमके रूपका पता नहीं चलता है। उसे यह पता नहीं कि आम किस रंगका है, किस रूपका है ? देखो यह अपूर्ण ज्ञान हुआ ना। आमके विषयमें पूर्ण जानकारी नहीं हो पाई। यह ही देखो इन्द्रियज्ञान है।

भाई अपनेको इन इन्द्रियोंके उपयोगसे हटाओ। ये बाह्यपदार्थ जड़ हैं, संग हैं, परिग्रह है, पर यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं, केवल हूं, असंग हूं, किन्हीं अन्यपदार्थोंसे मेरा सम्बंध नहीं है। वे सब स्वरूप अपनी-अपनी सत्तामात्रमें हैं, मैं अपनी सत्तामात्र हूं—ऐसा भेद करके उन बाह्यपदार्थोंसे अपना सम्बंध न स्थापित करो, उनमें दृष्टि न डालो। केवल अपने आपको निरखो। अरे अपने इन विषयोंको जीतनेका क्या कोई और उपाय है ? इन्हें कुवेंमें डाल दो अथवा इन्हें तोड़ फोड़ दो। अरे इन इन्द्रियोंको बर्बाद कर दो, कान कतर दो, आंखें फोड़ दो। विषयोंमें विजय प्राप्त करनेका क्या यही उपाय है ? अरे इन इन्द्रियोंका बहिष्कार कर दो, दिलसे उतार दो। इसी प्रकार से विषयोंको दिलसे उतार दो, मोहको भुला दो। अरे ये सब भिन्न-भिन्न रूपोंमें जन्म-मरणके चक्रमें डालने वाले हैं, इन विषयकषायोंको त्याग दो। इन विषयोंके सारभूत शरीरको अपने स्वरूपसे पृथक् देखो और अपनेको ज्ञानमात्र सबसे निराला समझो और अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होवो। इस जगतमें जितने भी लोग पराधीन बने रहते हैं। अरे अपने विषयोंको दूर करो। जो पराधीनता है, वह विषयोंसे ही है। इस-लिये विषयोंसे छुटकारा प्राप्त करो। कोई किसीसे बंधा है क्या ? अरे कोई किसीसे बंधा हुआ नहीं है। केवल खुद ही में कल्पनाएं करके विकल्प बना लिया है। विकल्प बन जानेसे मोह हो गया है और मोहमें आकर ही वह परसे बंध गया है।

सुकौशल राजकुमार अपनी कुमार अवस्थामें विरक्त हो गया। वह घर छोड़कर चल दिया। देखो राजकुमारकी अवस्था छोटी थी। अपनी मां व साम्राज्य सुखसे विलग हो गए थे। देखो मंत्रीजनोंने उन्हें बहुत समझाया, अन्य लोगोंने भी बहुत समझाया, पर वह न माने। उन्हें ज्ञान हो गया था, वे अपनी आत्मामें ही लीन होना चाहते थे। तब फिर उनका रोकने वाला कौन था ? उनमें यथार्थज्ञान प्रगट हो गया था तब फिर दूसरोंका असर उनके ऊपर किस प्रकारसे हो सकता था ? मंत्रियोंने राजकुमारको बहुत समझाया कि आपकी स्त्रीके गर्भ है, बच्चा तो हो जाने दो, फिर बादमें चले जाना। बेटा उस

बच्चेको राजतिलक दिए जावो । दुनियाको यह बता जावो कि मैं अपने बच्चेको राजतिलक दे रहा हूं । इसलिए हे महाराज ! अभी इतना जल्दी न जावो । दो तीन माह बाद चाहे चले जाना। राजकुमार सुकौशल कहते हैं कि अच्छा गर्भमें जो संतान है उसे मैं तिलक किए देता हूं । जो गर्भमें संतान है उसे मैं राजा बनाए देता हूं । ऐसा कहकर कौशल राजकुमार विरक्त हो गए । ज्ञान ही सुख, आनंद व शांति देता है और यदि ज्ञान नही है तो आजीवन क्लेश हैं । अत: मैं अपनी विषय कषायोंको त्यागकर अपनेमें ज्ञान उत्पन्न करूं और अपने आपके ज्ञानसे आनंद लूं और सारे संकल्पोंसे मुक्त होऊं । शांतिके मार्गमें बढ़नेके लिये सबसे पहिला कदम है इन्द्रियविजय अर्थात् इन्द्रियोंके विषयों पर विजय प्राप्त करना । यह इस उपायसे संभव है । इन विषयोंसे पृथक्, विषयोंके ग्रहणके साधनभूत द्रव्येन्द्रियसे पृथक् और विषयग्रहण विकल्परूप भावेन्द्रियसे पृथक् ज्ञानमात्र अपने आत्मतत्त्वका संचेतन करूं । इसके लिये हम सीधा इतना ही करें कि विषयके निमित्तोंको दूर करें और विषयोंके कारणभूत इस शरीरको आत्मासे अलग समझें । फिर इन विकल्पोंके दूर होनेपर आत्मामें परमविश्राम होगा, जिससे शांतिके स्वरूप और शांतिके मार्गका साक्षात्कार होगा । सुख इस ही स्वरूपमें है । अन्यत्र विषयोंमें सुख खोजना महामूढ़ता है ।

जो आत्मामें हो उसको तो हां करना और जो आत्मामें नहीं है उसे ना करना। आत्मामें ज्ञान है सो ज्ञानकी हां करना और आत्मामें वर्ण नहीं, देश नहीं, जाति नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं तो उसकी ना करना । ना को हां कर दे और हां को ना करदे उसीका नाम मिथ्यात्व है । आत्मामें ज्ञान है, पर उसे ना कहने वाले बहुत हैं । कुछ दार्शनिक भी ऐसे हैं जो आत्माका स्वरूप ज्ञान नहीं मानते । बहुत-बहुत बातें हैं । यहां कौन अपनेको ज्ञानस्वरूप मानता है ? अरे विशुद्ध व्यवस्था नहीं है तो मैं हूं क्या ? जैसा ही जिसने कह दिया वैसा ही मान लिया और बहकाए यह तो हाल है संस्कार परिणामोंमें, जैसा जिसने समझा दिया, जैसा जिसको जैसा संग मिल गया तैसा ही असर बना लिया । ऐसोंकी संख्या ज्यादा है जिनको हां का पता नहीं है और जिनको ना ना ही का भूत लगा है । उनकी तो चर्चा ही नहीं है यहां । और भीतर दर्शन शास्त्रमें चलें तो ज्ञानका निषेध करने वाले बहुत हैं । कोई दार्शनिक ज्ञानको आत्माका स्वरूप नहीं मानते, क्योंकि ज्ञानका स्वभाव आत्मासे नहीं मानते । ज्ञानके सम्बंधसे आत्मा ज्ञानी है, आत्माका स्वरूप ज्ञान नही है ऐसा मानते हैं । और इसी हरह और और भी हैं । आत्मा

में रूप है क्या कि आत्मा हरी है कि काली है कि सफेद है, कुछ भी नहीं, किन्तु मोही मानता है कि यह गोरा है, यह काला है, यह सफेद है। मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, मैं गेहुंवें रंगका हूं। अरे यह आत्मा अनेक रूप नहीं है। आत्मामें वर्ण है क्या, जातियां हैं क्या ? अरे आत्मामें जातियां नहीं। आत्मामें वर्ण नहीं, वह तो चैतन्यस्वरूप, चेतनात्मा प्रभु सरीखी एक वस्तु है। वह आत्मा है, मेरी जाति नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इत्यादि कोई जाति आत्सामें नहीं है। विकार और अविकार भावोंकी तो बात ठोक है कि मेरी इस आत्मामें तो विकार है या अधिक विकार नहीं है। वह तो निर्विकार है, निर्विकल्प है, ज्ञानानंदमय है, ज्ञानघन स्वरूप है। विकारोंका होना आत्माका काम नहीं है। वह तो चैतन्यपदार्थ है। यद्यपि करीब-करीब परिणामोंके अनुकूल ही जातियोंमें विभाग हैं अर्थात् जितने प्रकारके परिणाम होंगे उतनी ही जातियां होंगी। परंतु परमार्थसे जैसा मैं हूं वैसा ही हूं। मेरे अस्तित्वमें कोई जाति नहीं। जैसे आज मैं हिन्दुस्तानमें हूं और हिन्दुस्तानी कहलाता हूं और अगर मरकर और इंगलैण्डमें जाकर किसी अन्य योनिमें जन्म लेऊं तो अंगरेज बन जाऊं और कहूं कि मेरा देश इंगलैण्ड है। इस तरहसे मेरे स्वरूपमें कोई जातियां नहीं। जब तक जिंदा हूं तब तक तो हिंदुस्तानी हूं, अंगरेज हूं, फलां हूं इत्यादि विकल्पोंकी बातें रहती हैं, पर ज्यों ही मृत्यु हो जाती है उसका विकल्प कहां जाता है ? देशकी बात देखो, देशके परमाणुकी बात देश में है, मेरा देश नहीं, मेरे विग्रह नहीं। सुख दुःखका अनुभव तो चैतन्य प्रदेशमें होता है, शरीरमें सुख दुःखका अनुभव नहीं होता है। ज्ञान, शिक्षाकी बात चैतन्य प्रदेशमें होती है शरीरादिमें नहीं होती। मेरे विग्रह नहीं, शरीर भी नहीं। मैं इनका नहीं और ये मेरे नहीं। मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र हूं—ऐसी भावना ज्ञानी जीवके होती है।

भिन्नदर्शी भवेद्भिन्नः संकरेषी च संकरः।
तत्त्वतः सर्वतः प्रत्यक् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥

हे आत्मन् ! तुझे जगतसे न्यारा बनना है या जगतसे भिचा (मिला) हुआ रहना है—पहले इसका निर्णय कर। जगतसे न्यारा रहनेकी स्थिति कैसी होगी तो देखो वहां न कुटुम्ब है, न समागम है, न शरीर है, न कर्म है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न मोह है, न कषाय है, न इच्छा है, न व्याकुलता है, न आकुलता है, केवल जाननमात्र निराकुल, शांत सामान्य स्वरूप तेरी स्थिति होगी। यदि जगतसे मिला हुआ रहना है तो उसमें स्थिति कैसे होगी ? कुटुम्ब परिवार, मित्रजन, समागम, प्रशंसा, निंदा, कभी

बड़ा बन जाय, कभी छोटा बन जाय और फिर मरकर मनुष्य हो सकता है और यदि मनुष्य न हो पाया तो कहीं नारकी हो जाय, कहीं तिर्यंच हो जाय, कहीं कुछ हो जाय, कहीं निगोद हो जाय, कीड़ा-मकौड़ा बन जाय, उसका कोई भरोसा नहीं कि वह क्या न बन जावे ? निम्न शरीर मिला तो कुछ सोचने समझनेकी शक्ति भी नहीं मिलती है। जगतसे मिला हुआ रहने पर देखो भाई ऐसा हो जाता है। अब तो निर्णय कर लो कि इस संसारसे न्यारा रहना है या संसारसे मिलकर रहना है ? यदि तुझे जगतसे भिन्न रहना है तो अपनेको जगतसे भिन्न देख और यदि जगतसे अपनेको मिला हुआ रखना है तो अपनेको जगतसे मिला हुआ देख। यदि जगतसे मिला हुआ रहता है तो उसे संकर कहते हैं। तो तू अपनेको जगतसे भिन्न रखनेका प्रयत्न कर और जगतसे भिन्न रहनेका एक सरल उपाय यही है कि तू अपनेको जगतसे भिन्न देख। जो अपनेको जगतसे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है और जो अपनेको संकर याने जगतसे मिला हुआ मानता है वह संकर अर्थात् जगतसे मिला हुआ रहता है।

भाई कल्याणका बड़ा सरल उपाय है। केवल अंतरमें अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, निर्मल हूं, जगतमें सबसे निराला हूं। भाई अपने आपमें ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन है क्या ? अरे यह तो अत्यंत सरल है, मगर अंतरग संयम चाहिए। अपनी अंतर आत्माको संयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए। देखो तू कमाने वाला है क्या ? हजारों रुपयोंका मुनाफा मिलता है तो वह तेरी करतूत है क्या ? कभी-कभी बड़े-बड़े सेठ लोंगोंको देखा होगा कि उनके पास लाखोंकी संपत्ति होती है, वे दूसरोंको क्षमा कर देते हैं। बतलाओ कि उनके पास संपत्ति कैसे आ जाती है ? अरे पहिले वे शुद्ध मार्गके प्रेमी थे व अब धर्मका कार्य करते हैं, दान करते हैं तो उनके पास करोड़ों का धन आ जाता है, उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता है। और दूसरे वे लोग जो दूसरों को गाली देते हैं, अधर्मका कार्य करते हैं वे लोग बड़ा परिश्रम करते हैं, फिर भी संपत्ति हाथमें नहीं आती है। धनका आना पुण्योदय पर निर्भर है। उन व्यक्तियोंको देखा होगा कि वे अचानक ही अपने धार्मिक सत्संगके पास चले जाते हैं, अपने घर-द्वार की फिक्र नहीं करते हैं, फिर भी उनको करोड़ों रुपयोंकी आय हो जाती है। अरे हम दुकान पर ही बैठे रहें तो क्या इतनेसे कमाई हो जायगी, नहीं होगी। कमाई तो पुण्यसे होती है। अपना कर्तव्य समझकर अर्थ-पुरुषार्थका उचित समय पर कार्य करें और पुण्य का कार्य करें, धर्मका कार्य करे तो कमायी होती है। और वर्तमानमें भी पुण्यधर्मसे

चलते हैं तो लम्बे समय तक सम्पत्ति साथ रहती है । लक्ष्मीके चिन्तनमें अपनेको अधिक फंसानेकी आवश्यकता नहीं है । गृहस्थको तो यह देखनेकी आवश्यकता है कि मेरे भाग्य से जितना आता है उसके भीतर ही हम अपना गुजारा बनाएं । जैसा गुजारा बन सके वैसा बनावें । लोग इज्जत करते हैं तो इज्जत करनेके लिए उनके पास पोजीशन चाहिए । और यदि पोजीशन नहीं मिलती है तो बात नहीं बनती है । लोग दूसरोंकी इज्जत रखनेके लिए, देखनेके लिए, समझानेके लिए प्रयत्न करते हैं परन्तु उनकी इज्जत नहीं रहेगी इत्यादि प्रयोजन रखना अविवेक है । जिस किसी प्रकारसे यदि धन वैभव आता है उसपर यह विश्वास करना चाहिए कि भाग्यसे ही प्राप्त होता है । अतः जो कुछ भाग्यवश प्राप्त हो जावे उस पर ही गुजारा करना चाहिए । बस इस तरहसे जो रहे और अपने आत्मकल्याणकी ओर ध्यान रखे तो वह मजेमें रहेगा । हम कुछ दिनके लिए यहां हैं, सदा नहीं रहेंगे । अचानक ही किसी दिन यहां से चले जाएंगे ।

यहांके लोगोंको क्या अपना मानें । अपना पूरा कैसे पड़े तथा आनन्द कैसे अपने में भरे ? इसकी फिक्र तू करे तो तेरा भला होगा । यदि तू अपनेको जगतसे न्यारा रक्खे, शरीरसे कषायोंसे न्यारा रक्खे और केवलज्ञान और आनन्दको ही तू प्राप्त करने की दृष्टि रखे तो तेरा भला होगा । अरे दूसरोंसे मुहब्बत जोड़-जोड़कर तू कब तक गुजारा करेगा ? यदि तूने इस प्रकारसे अपना गुजारा भी किया तो यह मोह है । किन लुटेरों खचोड़ोंको तू अपना मान रहा है ? वे अपने नहीं हैं । अरे देखो मोहका माहात्म्य कि जिनसे मोह होता है वे निकृष्ट भी हैं तो भी अच्छे लगते हैं, उनमें कुछ ज्ञान नहीं है, उनमें दुर्गुण है, वे सब स्वार्थी हैं, खुदगर्जी हैं, उनसे अपना कल्याण नहीं है, फिर भी उनमें मोह है, आकुलताएं हैं । उनको आकुलित होना निश्चित है जिनकी दृष्टि परमें ही होती है । उनसे तेरा क्या पूरा पड़ेगा ? अरे उन लतोड़ों-खचोड़ोंसे अपना सम्बंध न स्थापित करो । उनसे तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा । तुझे संसारी ही रहना है तो तू संसारी ही अपनेको देख । यदि तू संकरको चाहता है तो बाह्य पदार्थोंमें ही तू अपनी रुचि बना । तू अपनेको बाह्य पदार्थोंसे मिला-जुलाकर रख । यही तेरा संसारी बननेका मूल है । और भाई अगर अपनेको जगतसे न्यारा रखना है तो तू अपनेको जगतसे न्यारा निरख । आनन्द तो तेरेमें ही है । तुझे आनंद कहीं बाहरसे नहीं लाना है । तू अपनेको यह समझ कि मैं ज्ञानमात्र हूं, इसके आगे मैं कुछ नहीं हूं । इस ज्ञानमें ही सब कुछ आ गया । तू जगतके अन्य प्राणियोंसे भिन्न हो जायगा । मैं कोई ऐसी चीज मुट्ठीमें ले लूं

और मुट्ठी बंद करके कहूं कि इसमें क्या है ? इस बातको मैं फिर बताऊंगा कि इसमें क्या है ? मैं पूछूंगा कि मेरी मुट्ठीमें क्या है ? मैं ही उत्तर देता हूं कि मेरी मुट्ठीमें सब कुछ है। चौकी है, ताला है, चाभी है, बाल्टी है इत्यादि। लोग यदि कहें कि दिखलाओ तो मैं दिखलाऊंगा। हाथमें कौनसी चीज निकली ? स्याहीकी टिकिया। अरे उस स्याहीकी टिकियामें ही सब कुछ है। क्या है ? अरे बिल्डिग है, बाल्टी है, समुद्र है, चौकी है, सब कुछ है। उस स्याहीकी टिकियाको पानीमें घोल लिया, फिर उस स्याहीसे बिल्डिग लिख लिया, बाल्टी बना लिया, समुद्र लिख लिया इत्यादि। यह देखो एक स्याहीकी टिकियाने ही तीन लोककी रचना कर दी। बताओ ये सब कहां से आए ? अरे ये सब हाथसे ही आए। अतः मेरे हाथमें वह चीज है कि इसमें सब कुछ है। यह एक विनोदकी बात है। मेरे हाथमें सब कुछ है। यहां प्रकृत बातपर आइये। मेरेमें क्या है ? मेरेमें सब कुछ है। मेरेमें ज्ञान है, वह ज्ञान ही सब कुछ है। ज्ञानकी कलासे ही तो देखो यहां राग है, मोह है, शोक है, ज्ञानका अंधेरा है, ज्ञानका उजेला है। ये सब ज्ञानके ऊपर ही निर्भर हैं। ज्ञानसे ही विपदा है, ज्ञानसे ही सम्पदा है, सब कुछ ज्ञानपर निर्भर है। बड़ी-बड़ी विपदाओंके सामने यदि ज्ञानसे काम लें तो विपदाएं दूर हो सकती हैं। ज्ञानके बिना आकुलताएं, व्याकुलताएं दूर नहीं होती हैं।

भैया ! कल्पनाएं करके ही विपदा बना ली जाती हैं। देखो एक नौजवान लड़का है। कोई अभी-अभी चार-छः वर्ष शादीके हुए हैं। दोनोंमें परस्पर प्रीति है। एक दूसरेका जीवन आनन्दसे व्यतीत हो रहा है यानी दोनों ही एक दूसरेके इष्ट बन रहे। और स्त्री यदि किसी कारणसे गुजर जाती है तो स्त्रीके पीछे उस पुरुषको कितना क्लेश होगा ? वह पुरुष यह समझ लेगा कि हाय मेरे लिए सब कोई मर गये। इस प्रकारसे वह व्यक्ति २४ घंटे दुःखी होता रहता है। और यदि वह व्यक्ति अपना ज्ञान बनाते कि अथवा उस व्यक्तिका ज्ञान जग जाय कि अरे यह मेरे स्त्री, पुत्र वगैरा मेरे कहीं कुछ नहीं हैं, यह सब माया है, ये सब अलग-अलग अपना अस्तित्व लिए हुए हैं, उनसे मेरा परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा यदि यथार्थ ज्ञान जग जाय तो उसकी विपदाएं समाप्त हो जावें। बाकी अन्य उपायोंसे विपदाएं खत्म नहीं हो सकती हैं। चाहे इसकी शादीकी बात चलने लगे, धन-दौलत मिल जाय, जेवर गहना मिल जाय, सारी चीजें मिल जावें, मगर जो इष्ट उसके दिलमें बस गया है उसकी कल्पना उसे दुःख देती रहती हैं। उसका केवल ज्ञान जग जाय तो ये सारी विपदाएं समाप्त

हो जावेंगी । रोजगारमें भी ऐसा ही होता है । कोई समय ऐसा आवे कि चारों तरफ से नुक्सान हो जावे । चारों तरफसे नुक्सान होनेपर उस व्यापारीको दुःख हो जाता है । हाय मैंने कितनी कमाई की ? सब चला गया, नुक्सान हो गया । अरे व्याकुल हो जाने से क्या धन वापस लौट आता है ? क्या उस नुक्सान हो जाने वाले धनको कोई वापस कर जायगा ? अरे कोई धन वापस नहीं दे जायगा । उल्टे लोग तो उसे लूटनेकी और सोचेंगे ? दुःख दूर होनेका उपाय तो यहां भी ज्ञान है । ज्ञानसे जब जाना कि वह सब तो भिन्न चीज है, तू उस धनकी चिंता न कर । अरे तुझे कोई शरण नहीं मिलेगी । तू परपदार्थमें शोक मत कर, व्यर्थ मत घबड़ा । तेरे शोक करनेसे तुझे लाभ नहीं मिलेगा । अरे तुझे केवल तेरे ज्ञानसे लाभ मिल सकता है । ज्ञानको छोड़कर अन्य किसीसे कुछ लाभ नहीं प्राप्त हो सकता है । अरे मुझे पार कौन कर देगा ? जिस भगवानकी हम उपासना करते हैं । क्या वह हमें पार कर देगा ? भगवानकी उपासना करके अपने स्वरूपको पहिचानें अपने आपके स्वरूपको निर्मल बनावें तो यह भगवान हमें पार कर देगा और हम पार हो जावेंगे । मुझे पार करने वाला कोई नहीं है । कोई मुझे सुखी कर देगा । अरे मुझे सुखी कर देने वाला कोई नहीं है । जैसे मां-बाप बेटेको संतोष देते हैं कि बेटा तू तो राजा है । राजा कहीं पाप करता है । देखो यहां यथार्थ बात है । हमारे आचार्योंने हम लोगोंको करुणा करके ऐसा समझाया है कि तू तो पवित्र ज्ञानमात्र है, तेरेमें तो कोई क्लेश है ही नहीं, तू तो सर्वोत्कृष्ट है । अरे तू दुःखी क्यों हो रहा है ? अरे इन बाहरी पदार्थोंमें जिनमें तू दृष्टि डालता है वे सब असार हैं, अहित करने वाले भिन्न हैं । इसलिए जब कभी भी परमें दृष्टि होगी तब क्लेश होंगे । वे परपदार्थ तेरे लिए शांतिके कारण नहीं होंगे । अरे तू उनके लिए क्यों मरता है ? क्यों अपनेको बर-बाद करता है ? अरे अपने स्वरूपको तो देखो । तू तो परमार्थस्वरूप है । तू अपने आपको देख तो तू प्रभु हो जायगा ।

भैया ! बतलाओ कि अपने आपको जगतमें सब पदार्थोंसे निराला मान लेनेमें क्या बिगाड़ हो जायगा ? हे जगतके प्राणी ! तू अपनेको सबसे निराला मान ले तो तेरे समस्त दुःख समाप्त हो जावेंगे । अरे तू ठीक ठीक ज्ञान कर ले तो सारे दुःख दूर हो जावेंगे और यदि इसके विपरीत तूने अपनेमें ज्ञान न किया, भीतरमें ज्ञानका अंधेरा ही रहा तो आजीवन तुझे क्लेश रहेंगे और तू जगजालमें फंसा रहेगा । तू अपनेको निर्मल देख, अपनेमें ज्ञान उत्पन्न करे तो तुझे जीवनभर सुख प्राप्त होंगे । यदि तू अपने ज्ञान-

स्वरूपको न संभाल सका, अपने आपको निर्मल न समझ सका तो आजीवन जगजालमें फंसा रहेगा। भगवानकी वाणी एक आध घंटे पढ़ लिया, सुन लिया और बाक़ी समय मोहियोंके संगमें रहते हैं तो फिर वे ही सोचें अपनेको कैसे संभाला जाय ? अरे उनको तो वह मोही प्राणी ही रुचते हैं, उनके लिए वही सब कुछ हैं। भयानक विपत्तियां जिनमें सामने हैं उनको ही वे मोही प्राणी दौड़ते हैं और जिनसे कुछ हित होता जिनसे अपना उद्धार होता उनको पहिचानते भी नहीं हैं। जो अपनेको शुद्ध, आत्मतत्त्व रूप देखेगा वह शुद्ध बन जायगा और जो अपनेको अशुद्ध देखेगा वह अशुद्ध बन जायगा। मैं मनुष्य हूं, मैं अमुक चंद हूं, मैं फलां हूं—ऐसी दृष्टि अगर बन गई तो क्रोध, मान, माया इत्यादि बढ़ ही जावेंगे और अहंकार भीतर आ ही जायगा। इस प्रकारसे मैं अशुद्ध बन जाऊंगा। और यदि अपनेमें ऐसी भावना बन जाय कि मैं ज्ञानमात्र, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप वस्तु हूं तो मैं शुद्ध बन जाऊंगा। हे आत्मन् ! तेरे ऊपर कूड़ा लदा है। तू इस कूड़ेकी फिक्र मत कर। तू अपनेमें विद्यमान ज्ञानके उजेलेको सम्हाल, बस यही एक फिक्र कर। तू अपनेको देख कि मैं सबसे निराला, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानमय हूं। तू अपनेको यदि ज्ञानमय देखे तो तेरे सारे क्लेश, सारी विपदाएं, सारा कुड़ा खत्म हो जायगा। तू अन्यकी चिंता न कर। तू तो केवल अपने भीतरको शुद्ध देखनेकी फिक्र कर, जो अपनेको शुद्ध देखता है वह शुद्ध हो जाता है और जो अपनेको अशुद्ध देखता है वह अशुद्ध हो जाता है।

भैया, बहुतसी चीजें मिल जाएं, फिर भी किसी जीवमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं। एक बोरेमें गेहूं, चना, मटर इत्यादि मिल गए हैं, फिर भी सब न्यारेके न्यारे हैं। समुदायको देखकर कहते हैं कि मिल गए हैं, परके स्वरूपको देखें तो सब न्यारे ही हैं। और भी चीजें देखें जैसे कि दूध और पानी मिल गया तो समुदायमें कहते हैं कि दूध और पानी मिल गया, पर दूध अलग है और पानी अलग है। दूधमें दूध है और पानीमें पानी है। अब भी दूधमें पानीमें नहीं मिला और न दूधमें पानी मिलेगा। सब न्यारा-न्यारा है। यद्यपि यहां जीव शरीरसे न्यारा नहीं रखा है, क्योंकि यदि हम चाहें कि शरीर तो यहीं रहे और मेरा आत्मा किसीके पास पहुंच जाय तो आत्मा नहीं पहुंच सकता। तो भी शरीरमें शरीर है और आत्मामें आत्मा है। केवल विवेक यंत्र चाहिए। पता चल जावेगा। जैसे दूध और पानीको अलग-अलग करनेका यंत्र होता है। यंत्रोंके द्वारा ही दूध और पानीको समझ लिया जाता है। इसी तरह मिले हुए शरीर और आत्माको समझनेका यंत्र चाहिए। वह यंत्र है—प्रज्ञास्वरूपकी दृष्टि और

स्वलक्षणदृष्टि । इन्द्रिय संयम कर लो । इन्हींसे तो बरबादी होती है, इसको तू संयत कर । और अपनी आत्मामें चला जा, तू अपने आपका ध्यान कर, ऐसा निर्विकल्प ध्यान कर कि इस शरीरका ध्यान न रहे, इन इन्द्रियोंका ध्यान न रहे तो अनुपम सुख प्राप्त होगा । तू इन्द्रियोंको निःसंकोच उपयोगसे त्याग दे । किसी भी इन्द्रियका रंच भी ख्याल न रहे । तो तुझे स्वलक्षण साक्षात् ज्ञात हो जायगा कि जो केवलज्ञानका वर्तन है । अरे वही तो तेरा स्वरूप है । तू अपने स्वरूपको पहिचान ले तो तू प्रभु हो सकता है, तू जगतसे भिन्न हो सकता है । जिन्होंने जगतसे भिन्न अपनेको देखा है वह जगतसे भिन्न होकर भिन्न ही चलता रहेगा । और जो अपनेको मिला हुआ देखता है, मैं साधु हूं, मैं ऐसा बलिष्ठ हूं, यह गृहस्थ है, यह साधु है, यह मनुष्य है, घरमें रहता है, श्रावक है इत्यादि, तो वह इस जगतसे मिला हुआ ही चलता रहेगा और आजीवन उसको क्लेश ही रहेंगे । जो व्यक्ति अपनेको सबसे मिला हुआ समझता है वह सबसे बोलता-चालता है, देखता है, सुनता है, सबसे मिलता है, सबसे सावधानीसे मिलता है, पर आत्मकल्याणकी फिक्र उसको नहीं रहती है । इसी कारण वे जीवनभर दुःखी रहते हैं । अगर भीतरके सत्में स्वयं निरखें कि मैं तो सबसे निराला, केवल ज्ञानमात्र, शुद्ध हूं । तो हमारी यह दृष्टि वह चिनगारी है जो कि विपदाओंके कर्मोंके पहाड़ोंको जला सकती है । है एक छोटी दृष्टि, सूक्ष्मदृष्टि, मगर वह इतनी चमत्कारिणी है कि सारे पहाड़ोंको भस्म कर सकती है । यदि इतनी अपनी बातको छोड़कर चलोगे तो जगतमें रुलना पड़ेगा । और यदि इतनी बातको सम्हाल लिया कि मैं जगतमें सबसे निराला, ज्ञानमात्र, अपनी स्वरूप सत्तामात्र त्रैकालिक शक्तिको लिए हुए हूं तो हे प्रियतम ! तू प्रभु बन जायगा ।

देखो एक शब्दकी बात—पतिके कितने नाम हैं, प्रीतम बोलते हैं, खसम बोलते हैं, बालम बोलते हैं, सैंया बोलते हैं, पिया भी बोलते हैं, मगर ये सब क्या हैं ? ये सब आत्माके नाम हैं । जो पतिके नाम रख दिये हैं वे सब आत्माके नाम हैं । पिया वह कहलाता है जो प्रिय है । मगर यह बताओ कि तुम्हारा पिया कौन है ? अरे तुम्हारा पिया तुम्हीं हो । अगर कोई जानपर आफत आ जाय तो यदि हाथमें लड़का हो तो अपनी जान बचानेके लिए लड़का भी फेंक दिया जावेगा । लड़केकी फिक्र नहीं रहेगी । लड़केका पता नहीं क्या होगा, परन्तु उसको भी फेंक दोगे । इसलिए तेरा पिया दूसरा नहीं है, तेरी अपनी आत्मा ही अपना पिया है, दूसरा नहीं है । प्रीतम शब्द बना है

प्रियतमसे । जो ज्यादा प्रिय है । जैसे गुड, बैटर, बैस्ट रूप बनते हैं तारतम्यमें वैसे ही प्रीतम, प्रिय, प्रियतर, प्रियतममें है । प्रियतम शब्दके माने हैं जो अधिक प्रिय हों । तेरा प्रीतम कौन है ? तेरा प्रीतम तेरी आत्मा है । आत्माको छोड़कर अन्य कोई तेरा प्रिय नहीं है । कितने ही तो धर्मके खातिर सब कुछ छोड़ देते हैं । सीता जी अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण हो गयीं । अग्निमें जब कूद रही थीं तब क्या ऐसा विचार हो सकता था कि हम बच जावें तो फिर घरमें आनन्दसे जावें । उनके तो धर्ममें प्रीति थी, सब कुछ छोड़-कर एक आत्मधर्ममें रुचि थी । हमारा घर छूटा जा रहा है—इस विकल्पकी तो संभावना भी नहीं, ऐसा सीता जी ने अपने धर्मको बचानेके कारण नहीं कहा । उनके लिए धर्म प्रिय था । वह सोचती थीं कि यदि बच जाऊंगी तो धर्ममें ही रहूंगी । धर्मके माने हैं स्वभावरमण और दूसरी चीज नहीं है । सही स्वरूपको जानने व उसमें रमने का नाम ही धर्म है । प्रीतम तुम्हारा कोई नहीं है । तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा प्रीतम है । बालमको बल्लभ बोलते हैं । बल्लभका अर्थ प्रिय है । सैंया बना है स्वामीसे । अब यह बतलाओ कि तेरी आत्माका स्वामी है कौन ? अरे तेरा स्वामी तू ही है । तेरा मालिक तू ही है । तेरा सइयां तू ही है ।

देखो भगवानकी भक्तिमें भगवानको सब विशेषण लगते हैं । हे भगवान, हे प्रियतम, हे प्रिय, हे साइयां । सांइया तो भजनमें भी गाया करते हैं । भगवान और आत्मामें भेद क्या है ? कुछ नहीं । तो यह आत्मा ही तुम्हारा बालम है, तुम्हारा सैंया है, तुम्हारा प्रिय है, तुम्हारा प्रियतम है, तुम्हारा सर्वस्व है । और हे आत्मन् ! इस दुनियामें तेरा कुछ नहीं है । सबसे निराला अपने आपको देखो । यदि सबसे निराला इस जगतमें तू अपने आपको नहीं देखता है तो तू इस संसारमें रुलेगा । अब देखो जिसकी कल्याणमें लगन लगी है उसको दूसरी चीज सुहाती नहीं है । हे आत्मन् ! तुझे तो कल्याण चाहिए । तेरा वैभव चाहे लुटता हो, परवाह न करना चाहिए । ज्ञानकी बात को ज्ञानी ही समझ सकता है, अज्ञानी नहीं समझ सकता है । ज्ञानी व्यक्ति मोही व्यक्ति को परख सकता है, पर मोही तथा अज्ञानी व्यक्ति ज्ञानीको नहीं परख सकते हैं । देखो ये दो भैया भिण्डसे आये हैं जैसे कोई तो पर्वको घरसे निकलता फिर पर्वके बाद घर पहुंच जाता है । किन्तु इनको तो सभी दिन पूर्वका दिन है । अरे परवाह न करो । घर का काम तो चल ही जायगा । उसकी चिन्ता न करो । अगर तुम चिंता करोगे तो क्या तुम्हारे घरका काम नहीं चलेगा ? अरे चिंता न करो, घरका काम तो चलेगा ही ।

चिंताएं नहीं करनी चाहिएं । चिंताएं करनेसे नुक्सान है । भीतरसे जब आत्मकल्याण की भावना रहे तो शांति प्राप्त हो सकती है ।

सुकुमार स्वामी मकानसे चले । जिसका शरीर तो सुकुमार था । कमलकी वास में पहुंचने वाले चावल ही जिसके गले में निगले जा सकते थे, जिसको रोशनी देखते ही आंसू आ जाते थे, ऐसे सुकुमार जब विरक्त हुए, घरसे चले, नंगे पैर चले जा रहे हैं, खून बह रहा है । अब उनके लिए वैभव वैभव नहीं रहा । वे साधु हो गये, ध्यानमें बैठ गये । अब उनके शरीरमें केवल ढांचा ही रह गया था । ऐसे सुकुमार अवस्था थी, जब कि इन्होंने अपने शरीरको तपस्यामें ही गला डाला था और देखो अंतमें उनको एक स्यारनीने खाया था । क्या उन्हें कष्ट था ? अरे भाई यह समझो कि कोई कष्ट नहीं है । यदि कष्ट मानते हो तो कष्ट है और यदि कष्ट न मानों तो नहीं है । अरे देखो रात दिन कितने कष्ट हैं ? गृहस्थीमें कष्ट नहीं मालूम होते हैं, पर धर्मके कामोंमें कष्ट मालूम होते हैं । जहां मन नहीं लगता वहां कष्टोंका नाम लगता है । धर्मका काम जहां पर हो रहा हो वहां बैठनेमें ही हे आत्मन् ! तू परेशान हो जाता है । जहां थोड़ासा भी समय हो गया कहते हैं कि अरे एक घन्टा हो गया, दो घंटा हो गया, पौन घन्टेमें हो जाना चाहिए था । स्वाध्याय जल्दी खतम हो जाय तो अच्छा है । यद्यपि गृहस्थी के कार्यमें वे आरामसे घुटने टेके बैठे रहें, कोई परेशानी नहीं है । कितनी ही अड़चनें हों, फिर भी उनको परेशानी नहीं होती है । हे आत्मन् ! अन्दाज कर लो कि जिसका जिसके ऊपर मन रमा है वहाँ चाहे जितने कष्ट हों कष्ट नहीं हैं और जिसका मन किसीके ऊपर नहीं है वहां यदि कष्ट भी नहीं है तो कष्ट कल्पनासे आ पड़ते हैं । कल्याणका उपाय सरल है । जरा अपनेको ज्ञानमात्र, सबसे निराला तो देखो । अपने भीतरके स्वरूपकी ओर देखो तो आत्मा भिन्न हो जायगी, परमात्मा हो जाओगे । यह मैं तो ऐसा ही हूं इसलिए अब अपनेको सहज सत्यस्वरूपमें देखकर अपनेमें अपने आप विश्राम पाऊं ।

॥ इति आत्मपरिचयन ॥

जमना प्रिंटिंग प्रेस, प्रथम, इन्द्रा नगर, मेरठ-२